

पंडितरत्न श्री काशीनाथ जैन प्रणीत

श्री नैमिनाथ चरित्र

संपादन

मुनि श्री जयानंदविजयजी म.सा.



॥ श्री आदिनाथाय नमः ॥

पंडितरत्न श्री काशीनाथ जैन प्रणीत

श्री नेमिनाथ-चरित्र

दिव्याशीष

- विश्वपूज्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी
- आ. श्री विद्याचंद्र सूरीश्वरजी
- मुनिराज श्री रामचन्द्रविजयजी

संपादन

मुनिश्री जयानंदविजयजी म.सा.

प्रकाशक

श्री गुरू रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल, राज.

मुख्य संरक्षक

मुनिश्री जयानंदविजयजी म.सा. आदि ठाणा की
निश्चा में २०६५ में पालीताणा में चातुर्मास एवं
उपधान करवाया उस निमित्तै

लेहर कुंदन ग्रुप

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार
मेंगलवा, मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा



संरक्षक



१. सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
२. मीलियन ग्रुप, सूरणा, राज. मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा
३. एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए हनुमान टेरेस, दूसरा माला, तारा टेम्पल लेन लेमीग्टन रोड, मुंबई-७.
४. श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई, महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना, ३६४२७०
५. संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्री श्रीमाळ वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरु ज्वेलर्स, ३०५ स्टेशन रोड, संघवी भवन, थाना, (५) ९
६. दोशी अमृतलाल चीमनलाल पांचशो वोर, थराद पालीताना में उपधान कराया उस निमित्ते ।
७. शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचन्द, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म-अरिहन्त नोवेल्हटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुर टंकशाला रोड, अहमदाबाद.
८. थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलख भाई परिवार
९. शा कांतिलाल केवलजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६२ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते ।
१०. लहेर कुंद ग्रुप, शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)
११. २०६३ में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जवंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार प्रिन्केश, केनित, दर्शित, चुन्नीलालजी मकाजी कासम गौत्र त्वर परिवार गुडा बालोतान् 'जय चिंतामणी' १०-५४३ संतापेट नेल्लूर (आ.प्र.)

१२. पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे
 पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार
 अशोक कुमार, मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता
 शा पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान् नाकोडा गोल्ड,
 ७० कंसारा चाल, बीजा माले रुम नं. ६७, कालबादेवी मुंबई
१३. शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता
 पेरामलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.)
 राजरतन गोल्ड प्रोड., के.वी.एस. कोम्पलेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्दूर.
१४. एक सद् गृहस्थ, धाणसा
१५. गुलाबचंद राजकुमार छगनलालजी कोठारी अमेरीका, आहोर (राज.)
१६. शांतिरूपचंद रवीन्द्रचंद्र, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय
 बेटा पोता मिलापचंदजी मेहता, जालोर-बैंगलोर.
१७. वि. सं. २०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं
 पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी, मातुश्री सुखीदेवी,
 भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल,
 मितुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा
 शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एण्ड को. राम गोपाल स्टीट, विजयवाडा
१८. बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी
 चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार,
 रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर,
 बेटा-पोता चंपालालज सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल.
 नवकार टाइम, ५९, नाकोडा स्टेट न्यू बोहरा बिल्डींग, मुंबई - ३.
१९. शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार
 बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.)
 राजेन्द्र मार्केटींग, पो.बो. नं. २०८, विजयवाडा.
२०. श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज.
 राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४ रहेमान भाई बि.एस.जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.

२१. पुज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातृश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शनकुमार, बेटा-पोता सुमेरमल वरदीचंदजी वाणी गोता परिवार आहोर, चेन्नई.
- जे.जी. इम्पेक्स प्रा. लि. ५५ नारायण मुदली स्ट्रीट चेन्नई - ७९
२२. स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा(राज.)
२३. मु.श्री जयानंद विजयजी आदि की निश्रा में चातुर्मास एवं उपधान शत्रुंजय तीर्थे करवाया लहेर कुंदन गुप श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार मेंगलवा वासी ने उस समय आराधक एवं भक्त जनों की साधारण की राशी में से सवंत २०६५.
२४. कुंदन गुप - मेंगलवा, चेन्नई, दिल्ली, मुंबई.
२५. शा. सुमेरमलजी नरसाजी - मेंगलवा, चेन्नई.
२६. शा दूधमल, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा बोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई २
२७. कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गोतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रवीन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३२-३ए पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्रबाद.
२८. शा नरपतराज, ललीतकुमार महेन्द्र, शैलेश, निलेश, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, सीकेश, यश बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२, ब्राडी पेठ, गुन्दूर-२.
२९. शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रवीणकुमार, दीलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया, मोदरा (राज.) गुन्दूर.
३०. एक सद्गृहस्थ (खाचरौद)

३१. श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, 11-X-1-काशी, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-८९.
३२. मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री मंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणमुकार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा - मुंबई
पी.टी. जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट) मुंबई-६२.
३३. गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुम्बई, विजयवाडा, दिल्ली.
३४. राज राजेन्द्रा टेक्सटाईल्स एक्सपोर्ट्स लिमिटेड १०१, राजभवन,
दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुम्बई, मोधरा निवासी.
३५. प्र.शा.दी.सा.श्री मुक्ति श्रीजी की शिष्या वि.सा. श्री मुक्तिसर्शिता श्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोदेवी की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, हितिक, आहोर,
कोठारी मार्केटींग १०/११, चितुरी कोम्प्लेक्ष, विजयवाडा-१.
३६. पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई कटारिया संघवी परिवार आयोजित सम्मेल शिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद, उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटा-पोता सोनराजजी मेघाजी-धाणसा - पुना.
अलका स्टील, ८५८, भवानी पेठ, पुना-५२
३७. मु. श्री जयानंद विजयजी आदि ठाणा की निश्रा में २०६२ में पालीताणा में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते श्रीमती हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी, शांतिलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार, विजयकुमार आहोर/बेंगलोर
३८. मु.श्री जयानंद विजयजी आदि ठाणा की निश्रा में २०६६ में तीर्थेन्द्र नगर बाकरारोड में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते श्रीमती मेतीदेवी पेरारामलजी, रतनपुरा बोहरा परिवार मोधरा/गुंटूर.

३९. संघवी मोहनलाल, कान्तीलाल, जयंतिलाल, राजकुमार, राहुलकुमार एवं समस्थ श्री श्री श्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण (राज)
संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी ८५, नारायण मुदाली स्ट्रीट, चेन्नई - ७९.
४०. श्री सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थे, सन् १९९२ बस में यात्राप्रवास पालीताना, योहनखेडा, १९९५ में जीवित महोत्सव निमीते. संघवी भबुतमल, प्रकाशकुमार, प्रवीणकुमार, नवीन, राहुल, अंकुश, रितेष बेटा-पोता परपोता सोनमलजी नाणेशा सियाणा, जे.पी. इन्टरप्राइजस, प्रकाश नोवल्टी, न्यु प्रकाश नोवल्टी, सुंदर फर्नीचर, पुना (महा).
४१. संघवी भंवरलाल, मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी बेटा-पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार, आलासन राजेश इलेक्ट्रीकल्स, ४८ राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली - ६२७००१.
४२. शा. कान्तीलालजी मंगलचन्दजी हरण, दाँसपा, मुम्बई.
४३. शा. भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेशकुमार, राहुल बेटा - पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला भीनमाल (राज).
राजरतन इलेक्ट्रीकल्स, के.सी.आई.वायर्स प्रा.लि.
१६२, गोवीन्दाप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई - ६००००१.

: सह संरक्षक :

१. शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.)
अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन, ब्राडी पेट, गुन्दूर - २.
२. शा तीलोकचंद मयाचंद एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई - ४.
३. शा भंवरलाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिककुमार, प्रितम, प्रतीक, साहिल, पक्षाल बेटा पोता - परपोता शा समरथमलजी सोगाजी दुरगाणी बाकरा (राज.)
जैन स्टोर्स, स्टेशन रोड, अंकापाली - ५३१००१.
४. शा. गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेश, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा पोता, रतनचंदजी, नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज)
फूलचंद भंवरलाल, १०८ गोवीन्दाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई - १.

५. भंसाली भंवरलाल, अशोकुमार, कांतिलाल, गोतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सरत. मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम.पी. लेन चीकपेट क्रोस, बेंगलोर - ५३.
६. स्व. मातृश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद - १२.
७. शा. ताराचन्दजी भोनाजी, आहोर, मेहता नरेन्द्रकुमार एण्ड को. १ पेहला भोईवाडा लेन, गुलालवाडी, मुंबई - २
८. श्रीमती फेन्सी बेन - सुखराजजी चमनाजी कबदी धाणसा, गोल्डन ग्रुप, ३ - भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई २
९. बल्लु गगलदास वीरचंदभाई परिवार थराद / मुंबई.
१०. शा जेठमलजी सागरमलजी की स्मृति में मुलचंद, महावीर कुमार, आयुषी, मेहुल, रियान्सु, डोली, प्रागाणी ग्रुप संखलेचा भेंगलवा. राजरतन एसेंबली वर्क्स १४३/११६९ मोतीलाल नगर नं. १, साई मंदिर के सामने, रोड नं. ३ गोरेगांव वें. मुंबई - ४००१०४, संखलेचा मार्केटींग ११-१३-१६, समाचारवारी स्ट्रीट, विजयवाडा - १.

प्राप्ति स्थान

श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी

साँथ - 343 026

जिला : जालोर (राज.)

फोन : 02973 - 254 221

महाविदेह भीनमाल धाम

तलेटी हस्तिगिरि, लिंक रोड,

पालीताणा - 364 270

फोन : (02848) 243 018

शा. देवीचंद छगनलालजी

सुमति दर्शन, नेहरू पार्क के सामने,

माघ कालोनी, भीनमल-343 029 (राज)

फोन : (02969) 220 387

श्री विमलनाथ जैन पेढी

बाकरा गाँव - 343 025 (राज.)

फोन : 02973 - 251 122

/ 94134 65068

श्री तीर्थेन्द्र सूरि स्मारक-संघ ट्रस्ट

तीर्थेन्द्र नगर, बाकरा रोड - 343 025

जिला-जालोर (राजस्थान)

फोन : 02973 251 144



द्रव्य सहायक

श्री गुरु रामचंद्र
प्रकाशन समिति

भीनमाल, राज

प्रत : १५००

आर्थिक सहयोगी

श्रीमती जीवीबाई बाबुलालजी के जीवित

महोत्सव प्रसंगे पद्मावती सुनायी

एवं तपश्चर्यादि की अनुमोदनार्थे शासनदीपिका

प्रवर्तिनी विदुषी साध्वीजीश्री मुक्तिश्रीजी की

सुशिष्या पि.सा. श्री कीर्ति प्रभाश्रीजी की प्रेरणा से

हस्ते महेन्द्रकुमार, दीलिपकुमार,

कमलेशकुमार, वीमलेशकुमार



बाबुलालजी सियाणा निवासी

अरिहंत होजायरीज

पुली पाटीवारी स्ट्रीट, चीत्तूरी काँम्पलेक्स,

विजयवाडा (ए.पी.) ५२०००१

संवत् : २०६६

प्रत : ५००

श्री नेमिनाथ-चरित्र



पहला परिच्छेद पहला और दूसरा भव

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अचलपुर नामक एक सुन्दर नगर था। वहाँ विक्रमघन नामक एक प्रतापी और न्याय एवं युद्धप्रिय राजा राज करता था। उस राजा के धारिणी नामक एक रानी थी, जो उसे बहुत प्रिय थी। एक दिन उसने पिछली रात में एक स्वप्न देखा। उस स्वप्न में उसे आमों से लदा हुआ एक आम्रवृक्ष दिखायी दिया, जिस पर भौरे चक्कर लगा रहे थे और कोयलें कूक रही थी। उसे स्वप्न में ही ऐसा मालूम हुआ, मानो कोई रूपवान पुरुष उस आम्रवृक्ष को हाथ में लेकर उससे कह रहा है कि “ आज जो यह वृक्ष तुम्हारे आंगन में लगाया जा रहा है, वह यथा समय नव बार अन्यान्य स्थानों में रोपित करने पर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट फल प्रदान करेगा।”

यह स्वप्न देखते ही रानी की नींद खुल गयी। उस समय सवेरा हो चला था। उसने उसी समय उस स्वप्न का हाल अपने पतिदेव से निवेदन किया। उन्होंने स्वप्न-पाठकों से उसके फलाफल का निर्णय कराने का विचार किया। निदान, राज-सभा में पहुँचते ही उन्होंने कई स्वप्न पाठकों को बुला भेजा और उनसे उस स्वप्न का फल पूछा। उन्होंने पूछा, “राजन्! रानी का यह स्वप्न बहुत ही अच्छा है। स्वप्न में आम्र वृक्ष दिखायी देने पर सुन्दर पुत्र का जन्म होता है। परन्तु स्वप्न में किसी पुरुष ने रानी से जो यह कहा है कि यथा समय नव बार अन्यान्य स्थानों में रोपित करने पर यह वृक्ष उत्तरोत्तर उत्कृष्ट फल

प्रदान करेगा, इसका तात्पर्य हमारी समझ में नहीं आता। इसका रहस्य तो सिर्फ केवली ही बतला सकते हैं।”

स्वप्न पाठकों के यह वचन सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने वस्त्राभूषण आदि से पुरस्कृत कर उन्हें सम्मानपूर्वक विदा किया। शीघ्र ही रानी ने भी यह समाचार सुना। सुनते ही वे आनन्दित हो उठीं। जिस प्रकार पृथ्वी रत्न-भण्डार को धारण कर उसकी रक्षा करती है, उसी प्रकार उस दिन से रानी अपने गर्भ को धारण कर यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करने लगी। यथासमय उन्होंने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर उसके उज्वल प्रकाश से दसों दिशाएँ प्रकाशित हो उठती हैं, उसी प्रकार उस पुत्र-रत्न के जन्म से राजा विक्रमधन का राज-प्रासाद आलोकित हो उठा। राजा ने बड़ी धूम-धाम के साथ इस पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। सभी इष्ट-मित्र और आश्रित-जन भेंट तथा पुरस्कार द्वारा इस अवसर पर सम्मानित किये गये। राजा ने ज्योतिषियों के आदेशानुसार अपने इस पुत्र का नाम धन रक्खा।

धन का लालन-पालन करने के लिए राजा ने अनेक दाई नौकरों को नियुक्त कर दिया। शुक्ल पक्ष में जिस प्रकार चन्द्र की कलाएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार उनके यत्न से राजकुमार बड़ा होने लगा। धीरे-धीरे जब उसकी अवस्था आठ वर्ष की हुई, तब राजा ने उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए कई अध्यापकों को नियुक्त किया। राजकुमार की बुद्धि बहुत ही प्रखर थी इसलिए उसने थोड़े ही समय में समस्त विद्या-कलाओं में पारदर्शिता प्राप्त कर ली। अन्त में उसने किशोरावस्था अतिक्रमण कर यौवनावस्था-जीवन के वसन्तकाल में पदार्पण किया। धनदत्त और धनदेव नाम से दो पुत्र और हुए।

जिन दिनों में अचलपुर में यह सब बातें घटित हो रही थीं, उन्हीं दिनों में कुसुमपुर नामक नगर में सिंह नामक एक बलवान राजा राज करते थे। उनकी पटरानी का नाम विमला था। वह अपने नामानुसार गुण और रूप में विमला ही थी। उसने धनवती नामक एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया था। वह जैसी रूपवती थी, वैसी ही गुणवती भी थी। ऐसी एक भी विद्या कला न थी, जिसका उसने ज्ञान न प्राप्त किया हो। इन्हीं कारणों से उसके माता-पिता उसे पुत्र से भी बढ़कर प्यार करते थे।

इस समय धनवती की किशोरावस्था व्यतीत हो रही थी। यौवनावस्था में उसने अभी पदार्पण न किया था, किन्तु उसकी सीमा से अब वह बहुत दूरी पर भी न थी। एक दिन वसन्त ऋतु का सुहावना समय था। उसकी सखियों ने उपवन की सैर करने पर जोर दिया। वह भी इसके लिए राजी हो गयी। शीघ्र ही माता-पिता की आज्ञा ले, वह अपनी सखियों के साथ वसन्त-वाटिका में जा पहुँची। वह वाटिका आम्र, अशोक, पारिजात, चम्पक आदि अनेक वृक्षों से सुशोभित हो रही थी। कहीं राजहंस और सारस पक्षी विचरण कर रहे थे, तो कहीं भ्रमर पंक्तियाँ गुञ्जार कर रही थीं। राजकुमारी इन मनोरम दृश्यों को देखती हुई एक अशोक वृक्ष के पास जा पहुँची। उसने देखा कि उस वृक्ष के नीचे एक चित्रकार बैठा हुआ है। उसके हाथ में किसी रूपवान पुरुष का एक चित्र था और उसे वह बड़े ध्यान से देख रहा था।

राजकुमारी धनवती भी उस चित्र को देखने के लिए उत्सुक हो उठी। उसकी यह इच्छा देखकर उसकी कमलिनी नामक एक सखी उस चित्रकार के पास गयी और उससे वह सुन्दर चित्र मांग लायी। राजकुमारी ने बड़े उत्साह से उसे देखा। देखकर वह प्रसन्न हो उठी। वह जिस पुरुष का चित्र था, उसके अंग प्रत्यंग से मानो सौन्दर्य फूट पड़ता था। उसने चित्रकार के पास जाकर पूछा, 'हे भद्र! यह किसका चित्र है? ऐसा रूप तो सुर, असुर या मनुष्य में होना असम्भव है। मैं समझती हूँ कि शायद तुमने अपना कौशल दिखाने के लिए अपनी कल्पना से यह चित्र तैयार किया है। वर्ना जरा-जर्जर विधाता में अब ऐसी शक्ति कहाँ कि वे ऐसे रूपवान पुरुष का निर्माण कर सकें।'

राजकुमारी के यह वचन सुनकर चित्रकार को हँसी आ गयी। उसने कहा : 'हे मृगलोचनी! इसे कल्पित चित्र समझने में तुम भूल करती हो। संसार में अभी रूपवान पुरुषों की कमी नहीं। सच बात तो यह है कि जिस पुरुष का यह चित्र है, उसके वास्तविक रूप का शतांश भी इस चित्र में मैं नहीं दिखा सका। यह अचलपुर के राजकुमार धन का चित्र है। मैंने अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार इसे अंकित करने की चेष्टा की है, परन्तु मेरा विश्वास है कि साक्षात् धन को देखने के बाद जो इस चित्र को देखेगा, वह अवश्य ही मेरी निन्दा करेगा। तुमने इसे अपनी आँखों से नहीं देखा है, इसीलिए तुम कूप-मण्डूक की भाँति विस्मित हो रही हो। राजकुमार का रूप देखकर मानव-स्त्रियाँ तो दूर

रहीं, देवाङ्गनाएँ भी मोहित हुए बिना नहीं रह सकतीं। मैंने तो केवल अपने नेत्रों को तृप्त करने के लिए ही यह चित्र अंकित किया है।”

धनवती खड़ी-खड़ी चित्रकार की यह सब बातें सुनती रही। सच बात तो यह थी कि उस चित्र को देखकर वह मुग्ध हो गयी थी और स्वयं भी चित्र की भाँति गतिहीन बन गयी थी। उसे वह चित्र हाथ से छोड़ने की इच्छा ही न होती थी। उसकी यह अवस्था देखकर कमलिनी ने उसका मनोभाव ताड़ लिया। उसने चित्रकार के निकट उसके कला-कौशल और उसकी निपुणता की भूरि भूरि प्रशंसा कर, उससे उस चित्र की याचना की। चित्रकार कमलिनी की यह याचना अमान्य नहीं कर सका। राजकुमारी के विनोदार्थ उसने सहर्ष वह चित्र कमलिनी को दे दिया।

चित्र को देखकर राजकुमारी अपनी सखियों के साथ अपने वास-स्थान को लौट आयी। परन्तु उसका मन अब उसके अधिकार में न था। जिस प्रकार हंसिनी को मरुभूमि में सन्तोष नहीं होता, उसी प्रकार उसकी तबियत अब राजमहल में न लगती थी। खाना, पीना और सोना उस के लिए हराम हो गया था। सारी रात बिछौने में करवटें बदलते ही बीत जाती थी। दिन को जब देखो तब, वह गाल पर हाथ रखे राजकुमार धन का ही ध्यान किया करती थी। इस व्यग्रता के कारण उसकी स्मरण शक्ति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता था, फलतः वह जो कुछ कहती या करती थी, वह तुरन्त भूल जाती थी। जिस प्रकार योगिनी अपने इष्टदेव का और निर्धन मनुष्य धन का ही चिन्तन किया करता है, उसी प्रकार वह सदा राजकुमार का ही चिन्तन किया करती थी। उसके चेहरे की प्रसन्नता मानो सदा के लिए लोप हो गयी थी और उसका स्थान उदासीनता ने अधिकृत कर लिया था। उसका शरीर धीरे-धीरे कुश हो गया और रूपलावण्य में भी बहुत कुछ कमी आ गयी।

उसकी यह अवस्था देखकर एक दिन उसकी प्रिय सखी कमलिनी ने उससे पूछा, “बहिन! तुम्हें आजकल क्या हो गया है? न अब तुम पहले की भाँति हँसती हो न बोलती हो। चेहरा पीला पड़ गया है और शरीर दुबला हो गया है। रात दिन अपने मन में न जाने क्या सोचा करती हो? क्या मैं जान सकती हूँ कि तुम्हारी ऐसी अवस्था क्यों हो रही है?”

राजकुमारी ने कहा, “हे सखी कमलिनी! तुम सर्वथा एक अपरिचित व्यक्ति की भाँति मुझ से यह प्रश्न क्यों करती हो? मैं तो समझती हूँ कि मेरी इस अवस्था का कारण तुम्हें भलीभाँति मालूम है। तुम तो मेरे हृदय, मेरे जीवन के समान हो। मुझसे मेरा प्रश्न कर मुझे क्यों लज्जित करती हो?”

कमलिनी ने कहा, “हे सखी! तुम्हारा कहना कुछ कुछ ठीक है। तुम्हारी इस अवस्था का कारण मुझसे सर्वथा छिपा नहीं है। मेरी धारणा है कि तुम राजकुमार धन से मिलने के लिए व्याकुल हो रही हो। जबसे तुमने उस चित्र को देखा, तभी से तुम्हारा इस अवस्था का सूत्रपात हुआ है। मैं यह बात उसी समय ताड़ गयी थी और इसीलिए मैंने उस चित्रकार से तुम्हारे लिए वह चित्र मांग लिया था। अनजान की तरह यह प्रश्न करना केवल मनोविनोद था। बाकी मैं तुम्हारा दुःख भलीभाँति समझती हूँ और इसे दूर करने के लिए चिन्ता भी किया करती हूँ। हाल ही में मैंने एक ज्ञानी से पूछा था कि क्या मेरी सखी का मनोरथ पूर्ण होगा? क्या उसे अभीष्ट वर की प्राप्ति होगी?” उसने कहा, “उसका मनोरथ अवश्य और शीघ्र ही पूर्ण होगा।” उसके इस वचन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं। मैं समझती हूँ कि शीघ्र ही तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी और कोई ऐसा उपाय अवश्य निकल आयागा, जिससे यह कठिन कार्य भी सुगम बन जायगा।”

कमलिनी के ये वचन सुनकर धनवती का चित्त कुछ शान्त हुआ। इसके बाद उन दोनों में बहुत देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं। कमलिनी उसे प्रारब्ध पर भरोसा करने का उपदेश देकर अन्त में अपने वासस्थान को चली गयी।

इस घटना के कई दिन बाद, एक दिन धनवती दिव्य वस्त्रालंकार धारण कर अपने पिता को प्रणाम करने गयी। उसे देखकर राजा को बहुत ही आनन्द हुआ। उसे विदा करने के बाद वे अपने मन में कहने लगे—“मेरी पुत्री की अवस्था ब्याह करने योग्य हो गयी है। अब शीघ्र ही इसके लिए मुझे उपयुक्त वर की खोज करनी चाहिए।”

जिस दिन राजा सिंह को यह विचार आया, ठीक इसी दिन राजा विक्रमधन के यहाँ से उनका वह दूत वापस आया, जिसे उन्होंने किसी राज-काज वश अचलपुर भेजा था। राज-काज की सब बातें पूछने के बाद राजा ने

उससे पूछा, “तुमने अचलपुर में और कोई आश्चर्यजनक वस्तु देखी है?”

दूत ने कहा—“हाँ, महाराज! मैंने वहाँ विक्रमधन के धन नामक कुमार को देखा, जिसका रूप देखकर मनुष्यों की कौन कहे, दानव और विधाधर भी लज्जित हो जाते हैं। उसे देखकर मुझे विचार आया, कि यह हमारी राजकुमारी के लिए उपयुक्त वर हो सकता है। विधाता ने मानो उसे इसीलिए इस धरा-धाम में भेजी है। मेरी धारणा है कि यदि यह सम्बन्ध हो जाय, तो मणि-कश्चन-संयोग की कहावत चरितार्थ हो सकती है।”

दूत के यह वचन सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—“तुम स्वयं मेरे कार्य की इतनी चिन्ता रखते हो, यह देखकर मुझे बहुत ही आनन्द हो रहा है। आज सुबह से ही मैं धनवती के विवाह की चिन्ता कर रहा था। ऐसे समय में तुमने राजकुमार धन का पता बताकर मेरी बहुत कुछ चिन्ता दूर कर दी है। मैं तुम्हारे विचारों से सहमत हूँ। तुम एक बार फिर अचलपुर जाओ और राजा विक्रमधन से मिलकर उनके राजकुमार से अपनी राजकुमारी के विवाह का प्रस्ताव करो। मेरी धारणा है कि तुम्हारी यह चेष्टा अवश्य ही सफल होगी।”

जिस समय दूत से यह बातचीत हो रही थी, उस समय धनवती की छोटी बहिन चन्द्रवती भी राजसभा में मौजूद थी। वह इस समाचार से मन-ही-मन प्रसन्न होती हुई अपनी बहिन धनवती के पास पहुँची और उससे कहने लगी—“बहिन! मैं तुम्हारे लिए एक आनन्द-संवाद लायी हूँ। शायद यह समाचार सुनकर तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी कि पिताजी ने आज एक दूत को अचलपुर भेजा है और राजा विक्रमधन के राजकुमार से तुम्हारा ब्याह तय करने को कहा है।”

धनवती ने कहा—“बहिन! मेरा भाग्य कहाँ, कि पिताजी को यह विचार आये और वे इसके लिए कोई प्रयास करें। मुझे तुम्हारी इस बात पर विश्वास नहीं होता। उन्होंने शायद किसी दूसरे काम से उसे अचलपुर भेजा होगा, किन्तु तुमने भ्रमवश मेरे ब्याह की बात समझ ली होगी।”

चन्द्रवती ने कहा—“नहीं बहिन! मैंने सारी बातें बड़े ध्यान से सुनी थी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं भूल नहीं कर रही हूँ।”

चन्द्रवती की यह बातें सुनकर धनवती कुछ विचार में पड़ गयी। संयोगवश कमलिनी भी उस समय वहीं उपस्थित थी। उसने कहा—“हे सखी! यह दूत तो अभी यहीं है। यदि कुछ सन्देह हो तो उससे पूछताछ की जा सकती है। कहिए तो मैं उसे इसी वक्त बुला लाऊँ। हाथ कंगन को आरसी क्या?”

धनवती ने प्रकट रूप में तो इसके लिए सम्मति न दी, परन्तु कमलिनी उसका मनोभाव तुरन्त समझ गयी और उसी क्षण उस दूत को धनवती के पास लेकर आ गयी। उसके मुख से यथार्थ समाचार सुनकर धनवती को असीम आनन्द हुआ। उसने राजकुमार के नाम एक पत्र लिखकर, उसे गुप्त रूप से राजकुमार के पास पहुँचा देने का उस दूत को आदेश दिया। साथ ही यह कार्य सुचारू रूप से सम्पादित करने पर, उसने उस दूत को पुरस्कार देने का भी प्रलोभन दिया। दूत ने उसी दिन अचलपुर के लिए प्रस्थान किया।

अचलपुर पहुँचते ही वह सर्वप्रथम राज-सभा में उपस्थित हुआ। उसे तुरन्त वापस आया देखकर राजा विक्रमधन आश्चर्य में पड़ गये। उन्होंने कुछ चिन्तित भाव से पूछा—“कहिए, आपके महाराज प्रसन्न तो हैं? आप अपने नगर तक पहुँचे या नहीं? यदि पहुँचे तो इतनी जल्दी वापस क्यों लौट आये? जो कुछ समाचार हो, जल्दी दो मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है।”

दूत ने हाथ जोड़कर कहा—“हे राजन्! चिन्ता की कोई बात नहीं। मैं अपने नगर से ही वापस आ रहा हूँ। महाराज ने एक खास काम के लिए मुझे आपकी सेवा में भेजा है। यह तो शायद आप जानते ही होंगे, कि हमारे महाराज के दो राजकुमारियाँ हैं, जिनमें से बड़ी का नाम धनवती है। महाराज उसका ब्याह आपके राजकुमार धन से करना चाहते हैं। उसी की मँगनी करने के लिए उन्होंने उस पत्र के साथ मुझे आपके पास भेजा है। आपके राजकुमार जैसे रूपवान हैं, हमारी राजकुमारी भी वैसी ही रूपवती है। विद्या-कला और सद्गुणों में भी दोनों किसी से कम नहीं हैं। ऐसी अवस्था में मैं जोर के साथ आपसे अनुरोध करता हूँ कि इस सम्बन्ध के लिए आप अवश्य अपनी अनुमति प्रदान करें। मेरा यह भी विश्वास है कि इस सम्बन्ध से आप और हमारे महाराज का प्रेम सम्बन्ध भी अधिक प्रगाढ़ और सुदृढ़ हो जायगा।”

दूत की यह प्रार्थना सुनकर राजा विक्रमधन पहले तो कुछ विचार में पड़

गये, परन्तु बाद में उन्होंने उसकी प्रार्थना सहर्ष स्वीकार कर ली। दूत भी इससे प्रसन्न हो उठा। राजा विक्रमधन ने उसका सत्कार कर उसे सम्मानपूर्वक विदा किया।

इसके बाद उस दूत ने राजकुमार का पता लगाना आरम्भ किया। उस समय राजकुमार उद्यान में सैर करने गये थे। दूत भी शीघ्र ही वहाँ पहुँचा और द्वारपाल की आज्ञा प्राप्त कर उद्यान में उससे मिला। उसने पहले राजकुमार को प्रणाम कर उनसे अपने आगमन का कारण निवेदन किया, पश्चात् उन्हें वह पत्र दिया जो धनवती ने उनके नाम लिखा था। राजकुमार ने बड़ी उत्सुकता से उस पत्र को खोलकर पढ़ा। उसमें निम्नलिखित श्लोक लिखा था—

विशेषतः श्रीः शारदा, यौवनेनेव पद्मिनी।

परिम्लान-मुखी वाञ्छ-त्यादित्य-कर-पीडनम् ॥

अर्थात्—“शरद ऋतु के कारण विशेष शोभा प्राप्त पद्मिनी म्लान मुखी होकर सूर्य का कर पीड़न चाहती है। यानि नवयौवना पद्मिनी इस समय पति का कर-पीड़न चाहती है—मिलना चाहती है।”

इससे राजकुमार तुरन्त ही समझ गये कि धनवती मुझ पर आसक्त हो रही है। उन्होंने भी उस श्लोक के उत्तर में एक श्लोक लिख दिया। साथ ही अपना रत्नहार निकाल कर उस राजदूत को देते हुए कहा—“मेरा यह प्रेमोपहार और पत्र राजकुमारी को दे देना। इससे वे सब-कुछ समझ जायगी।”

इस प्रकार सिंह राजा का सब काम निपटाकर वह दूत कुसुमपुर लौट आया। राजा ने जब यह समाचार सुना कि विक्रमधन ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली है, तब उनके आनन्द का वारापार न रहा। उन्होंने दूत को पुरस्कार देकर विदा किया। इसके बाद वह दूत धनवती के पास गया और उसे प्रणाम कर वह हार तथा पत्र उसके हाथ में रखा। पत्र में निम्नलिखित श्लोक लिखा था—

यत् प्रमोदयत् सूर्यः, पद्मिनी कर-पीडनात्।

सोऽर्थः स्वभाव-संसिद्धो, नहि याञ्चामपेक्षते ॥

अर्थात्—“पद्मिनी का मनोरंजन करना—यह सूर्य के लिए स्वभाव सिद्ध बात है। इसके लिए याचना करने की आवश्यकता नहीं।”

राजकुमार का यह उत्तर पढ़कर धनवती को बड़ा ही आनन्द हुआ। वह अपने मन में कहने लगी, “उनके इस उत्तर से तो ऐसा मालूम होता है कि वे मेरा मनोभाव समझ गये हैं। इसलिए उन्होंने यह प्रेमोपहार-रत्नहार भी भेजा है।”

यह सोचकर धनवती ने प्रेमपूर्वक वह रत्नहार गले में पहन लिया और उस दूत को पुरस्कार देकर विदा कर दिया।

इधर राजा सिंह ने धनवती के ब्याह की तैयारी करनी शुरू कर दी। कुछ ही दिनों के बाद एक दिन शुभ मुहूर्त में, उन्होंने अपने मन्त्रियों के साथ धनवती को अचलपुर के लिए विदा किया। साथ ही अनेक दास-दासियाँ और धन धान्यादिक विपुल सामग्री भी भेज दी, जिससे विवाह कार्य बड़ी धूम-धाम से सम्पादित हो सके। चलते समय धनवती के माता-पिता ने उसे प्रसंगोचित उपदेश भी दिया। धनवती उस उपदेश को अपने हृदय में धारण कर, वियोग दुःख से दुःखित होती हुई, पालखी में बैठ, छत्र और चामर आदिक राज-चिह्नों के साथ अचलपुर के लिए रवाना हो गयी।

अचलपुर में उसके आगमन का समाचार पहले ही पहुँच चुका था, लोग उसे देखने और उसका स्वागत करने के लिए बहुत उत्सुक हो रहे थे। नगर में पहुँचते ही जन-सागर उमड़ पड़ा। लोगों ने पुष्पवृष्टि और हर्षनाद द्वारा उसका स्वागत किया जो उसे देखता, वही कहता यह तो मानो साक्षात् लक्ष्मी है। विधाता ने यह अच्छी जोड़ी मिलायी है।

राजा विक्रमधन ने सब लोगों का बड़ा स्वागत किया और एक राजमहल में उन्हें ठहराया। इसके बाद शुभ मुहूर्त में बड़ी धूम-धाम के साथ विवाह कार्य सम्पन्न हुआ। उस समय समूचा नगर ध्वजा और पताकाओं से सजाया गया और घर-घर में मंगलवार किये गये। कई दिन तक नगर में बड़ी धूम-धाम और चहल-पहल रही। देवेन्द्रों ने भी यह महोत्सव देखकर अपने को धन्य समझा। धनवती के मनोरथ भवितव्यता ने पूरे कर दिये। राजकुमार धन सदा के लिए उसका जीवन धन बन गया। जिस प्रकार नागलता से सुपारी, बिजली से मेघ और रति से कामदेव शोभा प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार धनवती को पाकर धनकुमार शोभा पाने लगा। वे दोनों अभिन्न हृदय बनकर एक प्राण देह की कहावत चरितार्थ करने लगे।

क्रमशः धनवती और धनकुमार का ब्याह हुए बहुत दिन बीत गये। उन दोनों ने गार्हस्थ सुख उपभोग करते हुए बरसों का समय क्षण की तरह बिता दिया। ब्याह होने के कई वर्ष बाद एक दिन धनकुमार घोड़े पर सवार हो, नगर के बाहर अपने उपवन में सैर करने के लिए गये। वहाँ उन्होंने चतुर्ज्ञान धारी एक मुनिराज को धर्मोपदेश देते हुए देखा। वे उन्हें प्रणाम कर उनके निकट बैठ गये और उनका अमृत के समान धर्मोपदेश सुनने लगे।

उधर राजा विक्रमधन भी मुनिराज के आगमन का समाचार सुनकर रानी धारिणी और धनवती आदि को साथ लेकर उन्हें वन्दन करने और उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए आ पहुँचे। मुनिराज का उपदेश समाप्त होने पर राजा विक्रमधन ने उनसे पूछा—“हे क्षमा श्रमण! जिस समय धन कुमार गर्भ में था। उस समय इसकी माता को स्वप्न में एक आम्र-वृक्ष दिखायी दिया था और किसी ने उससे कहा था कि यह वृक्ष यथासमय नव बार अन्यान्य स्थानों में रोपित करने पर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट फल प्रदान करेगा। स्वप्न पाठकों से इसका तात्पर्य पूछने पर वे कुछ भी न बतला सके। यदि आप बतलाने की कृपा करेंगे तो हम अपने को कृत-कृत्य समझेंगे।”

राजा विक्रमधन के यह वचन सुनकर मुनिराज ने सम्यक् ज्ञान के लाभार्थ, अपनी मनःशक्ति द्वारा दूर स्थित एक केवली मुनिराज से उसका तात्पर्य पूछा।

केवली मुनि ने वहीं से उन्हें नेमिनाथ भगवान के नव भवों का वृत्तान्त कह सुनाया। मनः पर्यव और अवधिज्ञान से वही सब बातें मुनिराज ने राजा को बतला दी। अन्त में उन्होंने कहा—“हे राजन्! तुम्हारा यह पुत्र धनकुमार सब मिलाकर नव बार जन्म लेगा और उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करता जायगा। इसका नवाँ जन्म इसी क्षेत्र के यदुवंश में होगा और उस समय यह अरिष्टनेमि नामक बाईसवाँ तीर्थकर होगा।”

मुनिराज के यह वचन सुनकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए और जैन-धर्म पर उनकी श्रद्धा दूनी हो गयी। इसके बाद मुनिराज को नमस्कार कर राजा विक्रमधन सपरिवार अपने राजमहल को लौट आये और मुनिराज भी वहाँ से विहार कर किसी दूसरे स्थान को चले गये। राजकुमार धन और धनवती पुनः अपने दिन पूर्ववत् निर्गमन करने लगे।

इस घटना को भी धीरे-धीरे कई वर्ष बीत गये। धन और धनवती की जीवन नौका उसी प्रकार अब भी संसार-सागर को पार कर रही थी। एक दिन वे दोनों स्नान और जल-क्रिड़ा करने के लिए एक सरोवर पर गये। संयोगवश एक मुनि भी उसी समय वहाँ आ पहुँचे। वे धूप और तृषा से अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे, इसलिए वहीं एक अशोक-वृक्ष के नीचे बेहोश होकर गिर पड़े। धनवती ने उन्हें गिरते देखकर अपने पति का ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया। धनकुमार तुरन्त उन्हें उठाने के लिए दौड़ पड़े। धनवती भी उनके पीछे वहाँ जा पहुँची। पति पत्नी दोनों ने समुचित उपचार कर मुनिराज की मूर्छा दूर की। उन्हें होश आने पर धनकुमार ने वन्दना करके कहा—“महात्मन्! आज हम लोगों का अहोभाग्य है जो मरुभूमि में कल्पवृक्ष की भाँति हमें आपके दर्शन हुए परन्तु आपकी अस्वस्थता देखकर हम लोग बहुत ही दुःखित हैं। यदि आप को आपत्ति न हो तो कृपया बतलाइए, कि आप की यह अवस्था क्यों हुई?”

मुनिराज ने कहा—“हे राजन्! परमार्थ की दृष्टि से तो इस संसार का वास ही दुःख रूप है, परन्तु मुझे यह दुःख विहार के कारण प्राप्त हुआ है, इसलिए उसका उद्देश्य अशुभ नहीं कहा जा सकता। मैं अपने गुरुदेव मुनिचन्द्र सूरि तथा अन्यान्य कई साधुओं के साथ विहार करने निकला था, परन्तु मार्ग में उन सबों का साथ छूट गया और मैं भटकता हुआ इधर निकल आया। यहाँ रास्ते की कड़ी धूप, थकावट और तृषा के कारण मुझे मूर्च्छा आ गयी। इसके बाद जो कुछ हुआ सो आप जानते ही हैं। हे राजन्! आपने मेरे साथ बहुत ही भलाई की है, इसलिए मैं आपको धर्मलाभ देता हूँ। क्षणमात्र में जो मेरी अवस्था हुई थी, वही इस संसार में सबकी होने वाली है। इसलिए आत्म-कल्याण चाहने वाले पुरुष को धर्मसाधन करना चाहिए।

इसके बाद मुनिराज ने धनकुमार को सम्यक्त्व मूलक श्रावक धर्म कह सुनाया। उसे सुनकर धनकुमार ने अपनी पत्नी सहित सम्यक्त्वमूलक श्रावक धर्म ग्रहण किया। इसके बाद मुनिराज को अपने वासस्थान में लेकर आये और भोजनादि द्वारा भलीभाँति उनका आतिथ्य किया। उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए और भी कई दिनों तक धनकुमार ने उन्हें अपने यहाँ रोक कर रखा। अन्त में धनकुमार से विदा ग्रहण कर मुनिराज अपने समुदाय में जा मिले।

धन और धनवती के धार्मिक विचार एक समान होने के कारण उनका दाम्पत्य-जीवन और भी मधुर बन गया। वे दोनों क्षणभर के लिए भी एक दूसरे से अलग न होते थे। राजा विक्रमधन अपने पुत्र और पुत्र-वधु का यह गाढ़ प्रेम देखकर बहुत ही प्रसन्न रहते थे। अंत में अपना अन्तिम समय समीप आया जानकर, उन्होंने धनकुमार का राज्याभिषेक कर दिया और वे स्वयं तपस्या करने चले गये। धनकुमार ने इस राज्य-भार को भी भलीभाँति सम्हाल लिया।

कुछ वर्षों के बाद एक दिन उद्यान के द्वारपाल ने धनकुमार के पास आकर कहा कि उद्यान में वसुन्धर नामक मुनिराज का आगमन हुआ है। मुनिराज वसुन्धर पहले भी एक बार उस उद्यान में पधारकर उसे पावन कर चुके थे, इसलिए धनकुमार उनसे भलीभाँति परिचित था। वह उसी समय धनवती को साथ लेकर उद्यान में गया और उन्हें वन्दन कर उनका उपदेश सुनने के लिए उनके पास बैठ गया। मुनिराज ने बहुत देर तक मर्मस्पर्शी धर्मोपदेश दिया उसे सुनकर धनकुमार को वैराग्य आ गया। उसने तुरन्त महल में आकर सारा राज्य-भार अपने जयन्तकुमार नामक पुत्र को सौंप दिया। इसके बाद उसी दिन दीक्षा ले ली। पतिव्रता धनवती ने भी उसी का अनुसरण किया।

धनकुमार के धनदत्त और धनदेव नामक दो भाइयों ने भी धनकुमार के साथ चारित्र ले लिया। राजर्षि धन ने गुरु के निकट रहकर घोर तपस्या और शास्त्राभ्यास करना आरम्भ किया, फलतः कुछ दिनों के बाद वे गीतार्थ बन गये। गुरुदेव ने यह देखकर आचार्य पद पर उनकी स्थापना की। धनसूरि ने अनेक राजाओं को धर्मोपदेश और दीक्षा दी। अन्त में सति धनवती के साथ उन्होंने अनशन व्रत ग्रहण कर एक महीने में अपने प्राण त्याग दिये। इसके बाद सौधर्म देवलोक में उन दोनों को देवत्व प्राप्त हुआ, जहाँ वे इन्द्र के बराबरी के माने जाने लगे। धनकुमार के दोनों भाई तथा समस्त शिष्यों को भी सौधर्म देवलोक में देवत्व की प्राप्ति हुई।

दूसरा परिच्छेद तीसरा और चौथा भव



इसी भरत-क्षेत्र में वैताढ्य पर्वत की उत्तर-श्रेणी में सुरतेज नामक नगर था, वहाँ पर सूर नामक एक खेचर चक्रवर्ती राज्य करता था। उसके विद्युन्मती नामक एक रानी थी। सौधर्म देवलोक में धनकुमार की आयु पूर्ण होने पर उन्होंने इसी रानी के उदर से पुत्र-रूप में जन्म लिया। सूर राजा ने बड़ी धूम-धाम से उसका जन्मोत्सव मनाया और उसका नाम चित्रगति रखा। बड़ा होने पर उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया और कुछ ही दिनों में वह समस्त विद्या-कलाओं में पारंगत हो गया।

उसी वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में शिव-मन्दिर नामक एक नगर था, जिसमें अनंग सिंह नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम शशिप्रभा था। धनवती ने इन्हीं के यहाँ पुत्री रूप में जन्म लिया। अब तक रानी के पुत्र तो कई हो चुके थे परन्तु कन्या एक भी न हुई थी, इसलिए वह अपने माता-पिता को बहुत ही प्रिय लगती थी। शुभ मुहूर्त में पण्डितों के आदेशानुसार उसका नाम रत्नवती रखा गया। जिस प्रकार जल सिंचने से लता की वृद्धि होती है, उसी प्रकार माता-पिता के यत्न से रत्नवती भी शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगी। यथासमय उसके लिए स्त्रियोचित शिक्षा का प्रबन्ध किया गया और उसने भी अनेक विद्या-कलाओं में पारदर्शिता प्राप्त कर ली।

समय बीतते देर नहीं लगती। देखते ही देखते रत्नवती ने किशोरावस्था अतिक्रमण कर यौवन की सीमा में पदार्पण किया। राजा ने जब देखा कि इसकी अवस्था विवाह करने योग्य हो चली है, तब वे मन-ही-मन कुछ

चिन्तित हो उठे। एक दिन उन्होंने किसी ज्योतिषी से पूछा—“महाराज! क्या आप बतला सकते हैं कि मेरी पुत्री का विवाह किसके साथ होगा?”

ज्योतिषी ने कुछ सोच-विचार कर कहा—“हे राजन्! जो आपका खड्ग छीन लेगा और सिद्धायतन (सिद्ध-मन्दिर) की वन्दना करते समय जिस पर देवतागण पुष्प-वृष्टि करेंगे उसीसे आपकी पुत्री का विवाह होगा। मेरा यह वचन झूठा नहीं पड़ सकता। यही विधाता का विधान है।”

ज्योतिषी के यह वचन सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुए। वे अपने मन में कहने लगे—“जो मेरा खड्ग छीनेगा वह अवश्य ही मुझ से अधिक बलवान होगा। मेरी पुत्री बड़ी भाग्यवान मालूम होती है। तभी तो ऐसे बलवान पुरुष से उसके ब्याह का योग पड़ा है। अस्तु।”

इसी भरत-क्षेत्र के चक्रपुर नामक नगर में सुग्रीव नामक एक राजा राज्य करता था। उसके यशस्वती और भद्रा नामक दो रानियाँ थीं। उन दोनों के सुमित्र और पद्म नामक दो पुत्र थे। इनमें से सुमित्र गुणवान और पद्म गुणहीन था। एक दिन भद्रा को कुबुद्धि सूझी। उसने अपने मन में सोचा कि जब तक सुमित्र जीता रहेगा, तब तक मेरे पुत्र को राज्य न मिल सकेगा। यह सोचकर उसने सुमित्र को विष दे दिया। बेचारा सुमित्र विष के प्रभाव से मूर्छित होकर गिर पड़ा। यह समाचार पाते ही सुग्रीव राजा अपने मन्त्रियों के साथ वहाँ दौड़े आये। विष को शान्त करने के लिए मन्त्र-तन्त्रादिक अनेक उपाय किये गये, किन्तु कोई फल न हुआ। चारों ओर यह बात फैल गयी कि भद्रा ने सुमित्र को विष दिया है। भद्रा इससे डरकर कहीं भाग गयी।

परन्तु सुमित्र के जीने की कोई आशा न थी। ऐसा मालूम होता था, मानो उसका अन्तिम समय निकट आ पहुँचा है। राजा का जी बहुत दुःखी हो गया था। उन्होंने अपने पुत्र के जीवन के लिए जिनपूजा और शान्ति आदिक-कर्म कराये किन्तु इससे भी कोई लाभ न हुआ। अन्त में राजा निराश होकर अपने पुत्र को याद कर करके रोने लगे। मन्त्री आदि भी निराश हो गये। परन्तु सौभाग्यवश इसी समय क्रीड़ा निमित्त विचरण करते हुए चित्रगति वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि समूचे नगर पर शोक की काली घटा छायी हुई है। जाँच करने पर उन्हें राजकुमार को विष देने का वृत्तान्त ज्ञात हुआ। वे तुरन्त

अपने विमान से नीचे उतरे। उन्होंने कुमार के शरीर पर ज्योंही मन्त्रित जल के छींटे दिये, त्योंही वह इस प्रकार उठ बैठा, जिस प्रकार कोई मनुष्य गहरी निद्रा से उठ बैठता है। अपने आसपास राजा और मन्त्री आदि को एकत्रित देखकर सुमित्र ने अपने पिता से इसका कारण पूछा। राजा ने कहा—“हे पुत्र! तुम्हारी विमाता ने तुम्हें विष दे दिया था। उससे तुम मूर्च्छित हो गये थे। हम लोगों ने अनेक प्रकार के उपचार किये, किन्तु कोई फल न हुआ। अन्त में, हम लोग तुम्हारे जीवन की आशा छोड़ बैठे थे। इतने में ही यह महापुरुष आ पहुँचे। इन्होंने अपने मन्त्र-बल से तुम्हारी मूर्च्छा दूर कर तुम्हें जीवन-दान दिया है।”

पिता के यह वचन सुनकर सुमित्र ने हाथ जोड़कर चित्रगति से कहा—“हे महापुरुष! आपने अकारण मुझ पर जो उपकार किया है, वही आपके उत्तम कुल का परिचय देने के लिए पर्याप्त है, फिर भी यदि आप अपने नाम और कुल का पूरा परिचय देंगे, तो बड़ी कृपा होगी।”

चित्रगति का मन्त्री पुत्र भी चित्रगति के साथ ही था। उसने चित्रगति के वंशादिक का वर्णन कर सब लोगों को उसका नामादिक बतलाया। चित्रगति का प्रकृत परिचय पाकर सुमित्र को बहुत ही आनन्द हुआ। उसने कहा—“हे अकारण बन्धो! मेरे विमाता ने आज मुझे विष देकर मेरा अपकार नहीं, बल्कि उपकार किया है। यदि वह विष न देती, तो मुझे आपके दर्शन कैसे होते? आपने मुझे न केवल जीवनदान ही दिया है, बल्कि मुझे प्रत्याख्यान और नमस्कार हीन को दुर्गति में पड़ने से भी बचाया है। बतलाइए, मैं इस उपकार का बदला आपको किस प्रकार दे सकता हूँ?”

चित्रगति ने कहा—“मित्र! मैंने जो कुछ किया है, वह बदले की इच्छा से नहीं, बल्कि अपना कर्तव्य समझकर ही किया है। आपके प्राण बच गये, यही मेरे लिये परम सन्तोष का विषय है। मुझे अब आज्ञा दीजिए, ताकि मैं अपने नगर को जा सकूँ।”

सुमित्र ने कहा—“हे बन्धो! मैं अकारण आप का समय नष्ट नहीं करना चाहता। परन्तु सुयशा नामक एक केवली भगवान समीप के ही प्रदेश में विचरण कर रहे हैं और वे शीघ्र ही यहाँ आने वाले हैं। यदि उन्हें वन्दन करने

के बाद आप यहाँ से प्रस्थान करें तो बहुत अच्छा होगा !”

सुमित्र का यह अनुरोध अमान्य करना चित्रगति के लिए कठिन था। वे वहीं ठहर गये। सुमित्र को भी इस बहाने उनका आतिथ्य-सत्कार करने का मौका मिल गया। कई दिन देखते ही देखते बीत गये। इस बीच उन दोनों में घनिष्ठ मित्रता हो गयी। सारा दिन क्रीड़ा-कौतुक और हास्य-विनोद में ही व्यतीत होता था, इसलिए चित्रगति को दिन जरा भी भारी मालूम नहीं होते थे।

अन्त में एक दिन केवली भगवान भी वहाँ आ पहुँचे। उनका आगमन सुनकर राजा सुग्रीव और वे दोनों उन्हें वन्दन करने गये। केवली भगवान उस समय धर्मोपदेश दे रहे थे, इसलिए वे उन्हें वन्दन कर, उनका उपदेश सुनने लगे। मुनिराज का उपदेश बहुत ही मर्मग्राही और सारपूर्ण था, इसलिए श्रोताओं पर उसका बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा।

धर्मोपदेश पूर्ण होने पर चित्रगति ने मुनिराज से कहा—“हे भगवन्! आज आपका उपदेश सुनकर मुझे आर्हत धर्म का वास्तविक ज्ञान हुआ है। यह मेरा सौभाग्य ही था, जो सुमित्र से मेरी भेंट हो गयी, वरना मैं आपके दर्शन से वञ्चित ही रह जाता। मैं अब तक उस श्रावक धर्म को भी न जान सका था, जो हमारे यहाँ कुल परम्परा से प्रचलित है।”

इतना कहकर चित्रगति ने केवली भगवान के निकट सम्यक्त्व मूलक श्रावक धर्म ग्रहण किया। इसके बाद राजा ने केवली भगवान से पूछा—“भगवन्! संसार की कोई भी बात आप से छिपी नहीं है। आप सर्वज्ञाता हैं। दयाकर बतलाइये कि मेरे प्रिय पुत्र को विष देकर भद्रा कहाँ चली गयी? वह इस समय कहाँ है और क्या कर रही है?”

मुनिराज ने कहा—“वह यहाँ से भागकर एक जंगल में गयी थी। वहाँ पर भीलों ने उसके गहने छीनकर उसे अपने राजा के हाथों में सौंप दिया। उसने उसे एक वणिक के हाथ बेच दिया। किसी तरह वह उसके चंगुल से भी भाग निकली, परन्तु उसके भाग्य में अब सुख और शान्ति कहाँ? वह फिर एक जंगल में पहुँची और वहाँ दावानल में जलकर खाक हो गयी। इस प्रकार रौद्र ध्यान से मृत्यु होने पर इस समय वह प्रथम नरक का दुःख भोग रही है। वहाँ

से निकलने पर वह एक चण्डाल की स्त्री होगी। वहाँ भी गर्भधारण करने पर सौत से उसका झगड़ा होगा, जिसमें सौत उसे छूरी मार देगी, जिससे उसकी मृत्यु होने पर वह तीसरी नरक में जायगी। इसके बाद उसे तिर्यश्च गति प्राप्त होगी। इसी प्रकार वह जन्म-जन्मान्तर में अनन्तकाल तक दुःख भोग करेगी। आप के सम्यग्दृष्टि पुत्र को विष देने के कारण ही उसकी यह अवस्था होगी। उसने जो घोर पाप किया है, उसका यह फल होगा।”

केवली भगवान के यह वचन सुनकर सुग्रीव राजा के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने भगवान के निकट संयम लेने की इच्छा प्रकट की। उधर सुमित्र के हृदय में भी उथल-पुथल मच रही थी। उसने कहा—“मुझे धिक्कार है कि माता के इस दुष्कर्म में मुझे कारण रूप बनना पड़ा। हे गुरुदेव! कृपाकर मुझे भी इस भवसागर से पार कीजिए। मुझे भी यह संसार अब विषवत् प्रतीत होता है।”

पुत्र के यह वचन सुनकर राजा सुग्रीव ने कहा—“हे पुत्र! जो कुछ होना था वह तो हो चुका। अब उन बातों के लिए सोच करना व्यर्थ है। तुम्हारी अवस्था अभी संयम लेने योग्य नहीं है। मैं तुम्हारा पिता हूँ। मेरी आज्ञा मानना तुम्हारा कर्तव्य है। मैं अभी तुम्हें संसार-त्याग के लिए अनुमति नहीं दे सकता। इस समय तो तुम्हें राज्य-भार ग्रहण कर प्रजापालन करना होगा। यही इस समय मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ।”

सुमित्र को पिता की यह आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ी। राजा सुग्रीव ने उसे सिंहासन पर बिठाकर चारित्र ले लिया। अब वे केवली भगवान के साथ विचरण करते हुए जप-तप और साधना में अपना समय बिताने लगे। सुमित्र ने अपने सौतेले भाई पद्य को कई गाँव देकर उससे मेल रखने की चेष्टा की, परन्तु इसका कोई फल न हुआ। वह असन्तुष्ट होकर कहीं चला गया। चित्रगति अब तक सुमित्र के पास ही था। वह उसे किसी प्रकार भी जाने नहीं देता था। अंत में बहुत कुछ कहने, सुनने पर सुमित्र ने उसे विदा किया। उसे बहुत दिनों के बाद वापस आया देखकर उसके माता-पिता को असीम आनन्द हुआ। चित्रगति देवपूजादिक पुण्यकार्य करते हुए अपने दिन बिताने लगा। उसकी इस जीवनचर्या से उसके माता-पिता और गुरुजन उससे बहुत प्रसन्न रहने लगे।

हमारे पाठक राजा अनंगसिंह और उसकी पुत्री रत्नवती को शायद अभी न भूले होंगे। उनका परिचय इसी परिच्छेद के आरम्भ में अंकित किया जा चुका है। रत्नवती के कमल नामक एक भाई भी था, वह कुबुद्धि के कारण एक दिन सुमित्र की बहिन को हरण कर ले गया। इस घटना से सुमित्र बहुत उदास हो गया, क्योंकि उसे यह भी पता न था कि यह कार्य किसने और किस उद्देश्य से किया है। एक विद्याधर के मुंह से यह समाचार चित्रगति ने सुना, तो उसने इस विपत्तिकाल में अपने प्यारे मित्र की सहायता करना अपना कर्तव्य समझा। उसने तुरन्त अपने विद्याधरों द्वारा सुमित्र को कहला भेजा, कि आपकी इस विपत्ति से मैं बहुत दुःखी हूँ, परन्तु आप कोई चिन्ता न करें। आपकी बहिन का पता लगाकर उसे जिस प्रकार हो, आपके पास पहुँचा देने का भार मैं अपने ऊपर लेता हूँ।

चित्रगति की इस सान्त्वना से सुमित्र के व्यथित हृदय को शान्ति मिली। चित्रगति की यह सान्त्वना केवल मौखिक ही न थी। बल्कि उसने दूसरे ही दिन उसका पता लगाने के लिये अपने नगर से सदल बल प्रस्थान कर दिया। मार्ग में उसे अपने गुप्तचरों द्वारा मालूम हुआ कि उसका हरण कमल ने किया है। इसलिए उसने अपनी समस्त सेना के साथ शिवमन्दिर नगर पर धावा बोल दिया। कमल में इतनी शक्ति कहाँ कि वह उसके सामने ठहर सके। जिस प्रकार गजेन्द्र कमल-नाल को उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार चित्रगति ने कमल की सेना को छिन्न-भिन्न कर डाला। वह युद्ध से मुख मोड़कर मैदान से भागने की तैयारी करने लगा।

अपने पुत्र की पराजय का यह समाचार सुनकर राजा अनंगसिंह अपनी सेना के साथ वहाँ दौड़ आया और चित्रगति से युद्ध करने लगा। दोनों ने अपनी शस्त्रविद्या और भुजबल से काम लेने में कोई बात की कमी न रखी। घंटों युद्ध होता रहा, परन्तु दोनों में से कोई भी किसी को पराजित न कर सका, राजा अनंगसिंह ने जब देखा, कि इस शत्रु को जीतना बहुत ही कठिन है तब उसने उस खड्ग का स्मरण किया, जो उसके पूर्वजों को किसी देवता की कृपा से प्राप्त हुआ था। स्मरण करते ही वह खड्ग उसके हाथ में आ पहुँचा। वह खड्ग क्या था, मानो मूर्तिमान काल था। उसमें सँ अग्नि की ज्वाला के समान भयंकर लपटें निकल रही थी, जो बिजली की तरह चारों

ओर लपक कर शत्रु-सेना को झुलसाये देती थी। उस देवी खड्ग के सामने ठहरना तो दूर रहा, उसकी ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था। वह खड्ग हाथ में आते ही अनंगसिंह ने चित्रगति को ललकार कर कहा—“हे बालक! यदि तुझे अपने प्राणों का जरा भी मोह हो, तो इसी समय यहाँ से भाग जा, वर्ना मैं तेरा सिर धड़ से अलग कर दूँगा।”

चित्रगति ने उपेक्षा पूर्ण हास्य करते हुए कहा—“हे मूढ़! एक लौह का टुकड़ा हाथ में आ जाने से तुझे इतना गर्व हो गया कि तू अपने उस प्रतिस्पर्धी को रण में भाग जाने को कहता है, जो तुझे घंटों से हँफा रहा है! इस शस्त्र के बूते पर लड़ना कोई वीरता नहीं है। यदि तेरी भुजाओं में बल हो, तो इसे दूर रख दे और जितनी देर इच्छा हो, मुझ से आकर लड़ ले।”

चित्रगति के यह वचन सुनकर राजा अनंगसिंह क्रोध से कूदते हुए सर्प की भाँति झुल्ला उठा। उसने चित्रगति पर उस दिव्य खड्ग से वार करने की तैयारी की, परन्तु चित्रगति भी असावधान था। उसने अपनी विद्या के बल से चारों ओर अन्धकार फैला कर दिन की रात बना दी। जिस प्रकार श्रावण की अंधेरी घटा में कुछ सूझ नहीं पड़ता, उसी प्रकार अन्धकार के कारण सब लोग किर्करव्यविमूढ़ बन गये। उन्हें अपने पास खड़े हुए मनुष्य भी आँखों से दिखायी न देते थे। चित्रगति ने जानबूझकर यह माया जाल फैलाया था। अन्धकार होते ही वह लपक कर राजा अनंगसिंह के पास पहुँचा और उसके हाथ से वह दैवी खड्ग छीन लिया। इसके बाद वह उस स्थान में गया जहाँ सुमित्र की बहिन रखी गयी थी। वह उसे एक घोड़े पर बैठाकर अपने साथ ले आया और उसी क्षण अपनी सेना के साथ वहाँ से नौ दो ग्यारह हो गया।

उसके चले जाने पर उसकी इच्छा से वह अन्धकार दूर हो गया। अन्धकार दूर होने पर राजा ने देखा कि उसका वह दैवी खड्ग गायब है। न कहीं उसके शत्रु का पता है, न कहीं उसकी सेना का। इसी समय उसे समाचार मिला कि सुमित्र की वह बहिन भी गायब है, जिसे कमल हरण कर लाया था। अपनी इस पराजय से वह बहुत लज्जित हुआ। वह दैवी खड्ग हाथ से निकल जाने के कारण भी उसे कम दुःख न था, परन्तु इतने ही में उस ज्योतिषी की बात याद आ गयी। उसने कहा था कि जो आपके हाथ से आपका खड्ग छीन लेगा, उसी से आपकी कन्या का विवाह होगा। इस बात के स्मरण से उसका

दुःख हल्का हो गया और वह एक बार चित्रगति से मिलने के लिए उत्कंठित हो उठा। परन्तु अब उसका पता पाना सहज न था। राजा इससे निराश हो गया। परन्तु इतने ही में उसे उस ज्योतिषी की दूसरी बात स्मरण आ गयी। उसने यह भी कहा था कि, “सिद्धायतन को बन्दन करते समय उस पर पुष्पवृष्टि होगी।” यही एक ऐसी बात थी, जिससे उसका पता लग सकता था। वह इसी बात पर विचार करता हुआ अपने राज-महल को लौट आया।

उधर चित्रगति ने सुमित्र की बहिन को ले जाकर सुमित्र को सौंप दिया। इससे उसे बहुत ही आनन्द हुआ। उसने चित्रगति की प्रशंसा कर उसे धन्यवाद दिया। इसके बाद चित्रगति उससे विदा ग्रहण कर अपने नगर को लौट गया।

सुमित्र के हृदय में वैराग्य के बीज ने तो पहले ही जड़ जमा ली थी। इधर उसकी बहिन का हरण होने पर कामदेव का विषम रूप उसकी आँखों के सामने आ गया। वैराग्य की प्रबलता के कारण उसने अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप कर सुयशा केवली के निकट जाकर दीक्षा ले ली।

दीक्षा ग्रहण करने के बाद पहले बहुत दिनों तक सुमित्र अपने गुरुदेव के निकट शास्त्राभ्यास करता रहा। इसके बाद उनकी आज्ञा प्राप्त कर वह सर्वत्र अकेला विचरण करने लगा। कुछ दिनों के बाद विचरण करता हुआ वह मगध देश में जा पहुँचा वहाँ एक नगर के बाहर उसने कार्योत्सर्ग करना आरम्भ किया। इसी समय उसका सौतेला भाई पद्म कहीं से घूमता-घामता हुआ वहाँ आ पहुँचा। उसकी दृष्टि सुमित्र पर जा पड़ी। वह ध्यानावस्था में पर्वत की भाँति स्थिर बैठा था। उसे देखते ही उसकी प्रतिहिंसा-वृत्ति जागृत हो उठी। उसने कान तक धनुष खींचकर इतने जोर से एक बाण मारा कि सुमित्र मुनि का हृदय छिन्न-भिन्न हो गया। वे अपने मन में कहने लगे—“यह ब्रेचारा अपने आत्मा को नरक में डालकर मुझे स्वर्ग भेज रहा है। इसलिए इससे बढ़कर मेरा हितैषी कौन हो सकता है? मैंने इसकी इच्छानुसार इसे राज्य न दिया था, इसीलिए यह मुझसे असन्तुष्ट हो गया था, मुझे विश्वास है कि अब वह इसके लिए मुझे क्षमा कर देगा।” इस प्रकार धर्म-ध्यान करते हुए नमस्कार मन्त्र का स्मरण कर सुमित्र मुनि काल के विकराल गाल में प्रवेश कर गये। मृत्यु के बाद वे देवलोक में सामानिक देव हुए। पद्म उन्हें बाण मारकर ज्योंही वहाँ से भागने लगा, त्योंही उसे एक सर्प ने डस लिया। इससे तुरन्त उसकी मृत्यु हो

गयी और वह सातवीं नरक में पड़ कर अपना कर्म-फल भोगने लगा।

उधर सुमित्र की मृत्यु जानकर चित्रगति को बहुत ही दुःख हुआ। उसने अपने अशान्त हृदय को शान्त करने के लिए सिद्धायतन की वन्दना करने का विचार किया और वह सदलबल शीघ्र ही वहाँ जा पहुँचा। उस समय वहाँ और भी अनेक विद्याधर एकत्र थे। राजा अनंगसिंह भी रत्नवती को साथ लेकर उस महान तीर्थ की वन्दना करने आया था। चित्रगति ने अत्यन्त भक्ति के साथ विविध प्रकार से शाश्वत अरिहन्त की पूजा की। अवधि-ज्ञान से यह सब वृत्तान्त सुमित्रदेव को भी ज्ञात हुआ। इसलिए उसने अन्य देवताओं के साथ वहाँ आकर चित्रगति पर आकांश से पुष्प-वृष्टि की। चित्रगति की यह महिमा देखकर विद्याधरों को बहुत आनन्द हुआ और राजा अनंगसिंह को भी मालूम हो गया कि यही रत्नवती का भावी पति है।

सुमित्र देव ने इस अवसर पर अपने प्रिय मित्र को अपना परिचय दे देना उचित समझा, इसलिए उसने प्रत्यक्ष होकर चित्रगति से पूछा—“हे चित्रगति! क्या तुम मुझे पहचानते हो?”

चित्रगति ने कहा—“हाँ, मैं आपके विषय में इतना अवश्य जानता हूँ कि आप एक महान देव हैं।”

चित्रगति का यह उत्तर सुनकर सुमित्र देव को हंसी आ गयी, उसने अपना वास्तविक परिचय देने के लिए सुमित्र का रूप धारण किया, उसका यह रूप देखते ही चित्रगति उसे पहचान गया और दौड़कर उसे हृदय से लगा लिया। साथ ही उसने कहा—“हे मित्र! मैं आपको कैसे भूल सकता हूँ? आप ही के प्रसाद से तो मुझे धर्म की प्राप्ति हुई है।”

सुमित्र ने भी विवेक दिखलाते हुए कहा—“हे चित्रगति! आपने मुझ पर जो उपकार किया है, उसके सामने यह सब किसी हिसाब से नहीं। यदि आपने मुझे जीवन-दान दिया न होता, तो मुझे धर्मप्राप्ति का अवसर ही न मिलता। उस अवस्था में यह देवत्व तो दूर था, मैं प्रत्याख्यान और नमस्कार रहित मनुष्यत्व से भी वञ्चित रह जाता।”

इस प्रकार वे दोनों मुक्त कण्ठ से एक दूसरे की प्रशंसा कर रहे थे। उनके इस अपूर्व मिलन का दृश्य वास्तव में दर्शनीय था। वहाँ चक्रवर्ती सूर आदिक

जो विद्याधर राजा उपस्थित थे, वे भी उन दोनों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगे। चित्रगति का अलौकिक रूप और गुण देखकर रत्नवती भी उस पर मुग्ध हो गयी और उसे अनुराग पूर्ण दृष्टि से देखने लगी।

राजा अनंगसिंह पुत्री की यह अवस्था देखकर अपने मन में कहने लगे—
“उस ज्योतिषी ने जो कुछ कहा था, वह अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुआ, क्योंकि इस चित्रगति ने मेरा खड्ग छीन लिया था, इसी पर आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई है और इसी पर मेरी पुत्री को अनुराग उत्पन्न हुआ है। निःसन्देह, यही रत्नवती का भावी पति है। मुझे अब शीघ्र ही इससे रत्नवती का ब्याह कर देना चाहिए, परन्तु यहाँ पर देवस्थान में विवाह विषयक बातचीत करना ठीक नहीं। नगर में पहुँचने के बाद इसकी चर्चा करना उचित होगा।”

यह सोचकर राजा अनंगसिंह सपरिवार अपने नगर को लौट आये। सुमित्रदेव तथा अन्यान्य विद्याधरों का सत्कार कर, चित्रगति भी अपने पिता के साथ अपने नगर को वापस चला गया।

शीघ्र ही राजा अनंगसिंह ने अपने प्रधानमन्त्री को चित्रगति के पिता राजा सूर की सेवा में प्रेषित किया। उसने राज-सभा में उपस्थित हो, उन्हें प्रणाम करके कहा—“हे स्वामिन्! आपके पुत्र चित्रगति और हमारी राजकुमारी रत्नवती—दोनों रत्न के समान हैं। इनका विवाह कर देने से मणि-कञ्चन योग की क्रावत चरितार्थ हो सकती है। हमारे महाराज इस सम्बन्ध के लिए बहुत ही उत्सुक हैं। यदि आप भी अपनी सम्मति प्रदान करेंगे तो हम लोग अपने को कृत-कृत्य समझेंगे।”

राजा सूर ने अनंगसिंह के मन्त्री की यह प्रार्थना सहर्ष स्वीकार ली। कुछ दिनों के बाद शुभ मुहूर्त में उन दोनों का विवाह कर दिया गया। रत्नवती चित्रगति को पति-रूप में पाकर बहुत ही प्रसन्न हुई। वे दोनों गार्हस्थ्य सुख उपभोग करते हुए आनन्द पूर्वक अपने दिन निर्गमन करने लगे।

उधर धनदेव और धनदत्त के जीव च्युत होकर सूर के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुए थे। चित्रगति अपने इन छोटे भाइयों को बहुत ही प्रेम करता था। उनके नाम मनोगति और चपलगति रखे गये थे। बड़े होने पर उन्हें भी समुचित शिक्षा दी गयी थी। विवाह के कई वर्षों बाद चित्रगति अपनी पत्नी और लघु

बन्धुओं के साथ नन्दीश्वरादि महातीर्थों की यात्रा करने गये। वहाँ से वापस लौटने पर उसके पिता सूर ने चित्रगति को सिंहासन पर बैठाकर स्वयं दीक्षा ले ली। चित्रगति योग्य पिता का पुत्र था। इसलिए उसने अनेक खेचर राजाओं को वश में कर अपने राज्य का विस्तार किया। साथ ही अपने प्रजा-प्रेम और अपनी न्यायप्रियता के कारण वह शीघ्र ही प्रजा का प्रिय-पात्र बन गया।

चित्रगति के एक जागीरदार का नाम मणिचूड़ था। उसकी मृत्यु हो जाने पर उसके शशिव और शूर नाम के दोनों पुत्र राज्य प्राप्ति के लिए आपस में युद्ध करने लगे। चित्रगति ने उनके राज्य का बंटवारा कर दिया, ताकि सदा के लिए उनके वैमनस्य का अन्त हो जाए। उन्होंने उन्हें समझा बुझाकर भी राह पर लाने की चेष्टा की। उस समय तो ऐसा मालूम हुआ कि इस व्यवस्था से उन्हें सन्तोष हो गया है और वे एक दूसरे से न लड़ेंगे, परन्तु शीघ्र ही उन दोनों में फिर घोर युद्ध हो गया, जिससे उन दोनों को अपने-अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

चित्रगति के हृदय पर इस घटना का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उनका हृदय वैराग्य से पूर्ण हो गया। वे अपने मन में कहने लगे—“अहो! यह संसार बहुत ही विषम है। इसमें कोई सुखी नहीं।” वे ज्यों-ज्यों विचार करते गये, त्यों-त्यों उनका वैराग्य प्रबल होता गया। फलतः उन्होंने पुरन्दर नामक अपने बड़े पुत्र को राज्य-भार सौंपकर दामोदर नामक आचार्य के निकट दीक्षा ले ली। रत्नवती तथा उनके दोनों लघुबन्धुओं ने भी उनका अनुकरण किया। चित्रगति ने दीर्घकाल तक चारित्र्य पालन कर अन्त में पादोपगमन अनशन किया, जिसके फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो गयी। मृत्यु होने पर माहेन्द्र देवलोक में वे महान देव हुए। उनके दोनों छोटे भाई और रत्नवती को भी देवत्व प्राप्त हुआ। वे सब वहाँ पर स्वर्गीय सुख का उपभोग करने लगे।



तीसरा परिच्छेद पांचवां और छठा भव



पश्चिम महाविदेह के पद्म नामक विजय में सिंहपुर नामक एक नगर था। वहाँ हरिनन्दी नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम प्रियदर्शना था। स्वर्ग से च्युत होने पर चित्रगति के जीव ने शुभ स्वप्न से सूचित उसके उदर से पुत्र रूप में जन्म लिया। राजा ने बड़े प्रेम से उसका जन्मोत्सव मनाया और उसका नाम अपराजित रखा। बड़े होने पर उन्होंने निपुण शिक्षा गुरुओं द्वारा उसे विविध विद्या और कलाओं की शिक्षा दिलवायी। क्रमशः वह किशोरावस्था अतिक्रमण कर यौवन की वसन्त-वाटिका में विचरण करने लगा।

राजकुमार अपराजित की मन्त्री-पुत्र विमलबोध से घनिष्ठ मित्रता थी, अतः एक दिन वे दोनों क्रीड़ा करने के लिए घोड़े पर सवार हो नगर के बाहर निकल गये। दुर्भाग्यवश उनके घोड़े अशिक्षित थे, इसलिए वे जंगल की ओर भाग गये। अन्त में, जब वे भागते थक गये, तब एक स्थान में रुक गये। राजकुमार और मन्त्री-पुत्र भी श्रान्त और क्लान्त हो उठे थे, इसलिए शीघ्र ही वे अपने-अपने घोड़े पर से उतर पड़े और एक वृक्ष के नीचे बैठ कर विश्राम करने लगे। जब वे कुछ स्वस्थ हुए तब आसपास के रमणीय दृश्यों को देखकर अपराजित ने विमलबोध से कहा—“हे मित्र! यदि ये अश्व हम लोगों को यहाँ न भगा लाये होते तो यह सुन्दर स्थान हम लोग कैसे देख पाते? यदि हम लोग इस स्थान में आने के लिए माता-पिता की आज्ञा लेने जाते, तो मेरा विश्वास है कि वे भी इसके लिए हमें कदापि आज्ञा न देते!”

मन्त्री-पुत्र ने कहा—“हाँ, राजकुमार! आप का कहना बिल्कुल ठीक है।

वास्तव में यह स्थान बहुत ही मनोरम और दर्शनीय है। यहाँ आते ही मानो सारी थकावट दूर हो गयी। मुझे तो इच्छा होती है कि मैं यहीं पड़ा रहूँ और नगर लौटने का नाम तक न लूँ।”

जिस समय राजकुमार और मन्त्रीपुत्र में इसी तरह की बातचीत हो रही थी, उसी समय एक अपरिचित पुरुष राजकुमार के पास आकर खड़ा हो गया। उसका समूचा शरीर भय से कांप रहा था। राजकुमार को देखते ही वह गिड़गिड़ा कर उससे अपनी रक्षा की प्रार्थना करने लगा। राजकुमार ने उसे आश्वासन देकर उससे शान्त होने को कहा। यह देखकर मन्त्री-पुत्र ने राजकुमार से कहा; “हे मित्र! इसकी रक्षा करने के पहले हमें एक बार विचार कर लेना चाहिए। यदि यह अन्यायी हो तो इसकी रक्षा करना उचित नहीं।”

अपराजित ने कहा—“यह अन्यायी हो या न्यायी, हमें इसका विचार न करना चाहिए। शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का परम धर्म है।”

राजकुमार की यह बात अभी पूरी भी न होने पायी थी कि ‘मारो मारो’ पुकारते और उसका पीछा करते हुए कई राजकर्मचारी वहाँ आ पहुँचे। उनके हाथ में नगी तलवारें थी। उन्होंने राजकुमार और मन्त्री-पुत्र से कहा—“आप लोग जरा दूर हट जाइए। हम इस डाकू सरदार को मारना चाहते हैं। इसने हमारे समूचे नगर को लूटकर तबाह कर डाला है।”

उनके यह वचन सुनकर राजकुमार ने हँसते हुए कहा—“यह हमारी शरण में आया है। अब इसे इन्द्र भी नहीं मार सकते। आप लोगों का तो कहना ही क्या है?”

यह सुनकर राजकर्मचारी आगबबूला हो उठे। वे अपनी तलवार खींचकर उस डाकू सरदार की ओर झपट पड़े। परन्तु राजकुमार भी असावधान न थे। वे भी अपनी तलवार खींचकर उन राज-कर्मचारियों पर टूट पड़े। राज-कर्मचारियों में इतना साहस कहाँ कि वे सिंह-शावक के सामने ठहर सकें। दो चार हाथ दिखाते ही सारा मैदान साफ हो गया। वे भागकर अपने स्वामी कोसलराज के पास पहुँचे और उन्हें सारा हाल कह सुनाया। वे भी डाकू के रक्षकों पर बहुत नाराज हुए। उन्होंने उन्हें पराजित करने के लिए अपनी विशाल सेना खाना की, परन्तु अपराजित ने देखते-ही-देखते उनके भी दांत खट्टे कर दिये। अपनी सेना

का यह पराजय-समाचार सुनकर कोसलराज आग बबूला हो उठे। इस बार वे स्वयं बहुत बड़ी सेना लेकर उन युवकों को दण्ड देने के लिए उनके सामने आकर उपस्थित हुए। राजकुमार ने इस बार कठिन मोर्चा देखकर उस चोर को तो मन्त्री-पुत्र के सुपुर्द कर दिया और वह अकेला ही उस समुद्र समान सेना में घुसकर उसका संहार करने लगा। शीघ्र ही उसे कोसलराज की सेना में एक ऐसा हाथी दिखायी दिया, जिस पर एक महावत के सिवा और कोई सवार न था। वह सिंह की तरह तड़ककर उसी क्षण उस हाथी के दांतों पर चढ़ गया और एक ही हाथ से उसके कन्धे पर बैठे हुए महावत का काम तमाम कर डाला। इसके बाद वह उसी हाथी पर बैठकर बड़ी निपुणता के साथ शत्रु-सेना से युद्ध करने लगा।

इसी समय कोसलराज के एक मन्त्री की दृष्टि उस पर जा पड़ी। उसे देखते ही उसने राजा से कहा—“हे राजन! इस युवक को तो मैं पहचानता हूँ। यह राजा हरिनन्दी का पुत्र है!”

मन्त्री के यह वचन सुनकर राजा को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने उसी समय संकेत कर अपनी सेना को युद्ध करने से रोक दिया। इसके बाद सैनिकों से घिरे हुए राजकुमार के पास पहुँच कर उन्होंने कहा—“हे कुमार! तुम तो हमारे मित्र हरिनन्दी के पुत्र हो। तुम्हारा बल और रणकौशल देखकर मैं बहुत ही सन्तुष्ट हुआ हूँ। सिंह-शावक के सिवा गजराज का मस्तक और कौन विदीर्ण कर सकता है? हे महानुभाव! तुमसे युद्ध करना हमारे लिये शोभाप्रद नहीं है। तुम हमारे घर चलो और हमारा आतिथ्य ग्रहण करो! मैं अपने पुत्र और अपने मित्र के पुत्र में कोई अन्तर नहीं समझता।

इतना कह, राजकुमार को गले लगा, हाथी पर बैठाकर कोसलराज उसे अपने महल में ले गये। मन्त्री-पुत्र भी उस शरणागत डाकू को छोड़कर राजकुमार के साथ कोसलराज के महल में आया। वहाँ पर दोनों ने कई दिन तक राजा का आतिथ्य ग्रहण किया। कोसलराज के कनकमाला नामक एक कन्या भी थी। उसकी अवस्था विवाह योग्य हो चुकी थी इसलिए कोसलराज ने इस अवसर का लाभ उठाकर राजकुमार अपराजित से उसका विवाह कर दिया। इससे उन सब के आनन्द में सौगुनी वृद्धि हो गयी। नगर में कई दिनों तक बड़ी

धूमधाम से आनन्दोत्सव मनाया गया। राजकुमार अपराजित अपने मित्र मन्त्री-पुत्र के साथ दीर्घकाल तक विविध सुखों का रसास्वादन करते रहे।

बीच बीच में उन्होंने कई बार राजा से विदा मांगी, परन्तु स्नेहवश कोसलराज ने उन्हें जाने की आज्ञा न दी। दोनों ने जब देखा कि इस तरह कोसलराज से विदा ग्रहण करना सहज नहीं है, तब एक दिन वे चुपचाप वहाँ से चल पड़े।

जिस समय राजकुमार अपराजित और मन्त्री-पुत्र कोसलराज नगर से बाहर निकले, उस समय रात के बारह बज चुके थे। चारों ओर घोर सन्नाटा था। नगरनिवासी निद्रादेवी की गोद में पड़े हुए आनन्दपूर्वक विश्राम कर रहे थे, इसलिए उन दोनों को नगर-त्याग करने में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़ा। दोनों सहर्ष वहाँ से मार्ग पर आगे बढ़े।

रास्ते में एक स्थान पर कालीदेवी का मन्दिर था। उसके निकट पहुँचने पर राजकुमार ने किसी के रोने की आवाज सुनी। उन्हें ऐसा मालूम हुआ मानो कोई स्त्री यह कहकर रो रही है कि—“क्या यह भूमि पुरुष रहित हो गयी है? क्या इस पृथ्वी पर अब कोई ऐसा वीर नहीं, जो इस हत्यारे से मेरी रक्षा कर सके?” वे शीघ्र ही लपक कर उस स्थान में पहुँचे। उन्होंने देखा कि मन्दिर के अन्दर एक अग्निकुण्ड के पास एक स्त्री बैठी हुई है और उसी के सामने एक विद्याधर नंगी तलवार लिये खड़ा है। सुन्दरी उसके भय से थर-थर कांप रही थी। राजकुमार को देखकर वह पुनः अपनी प्राण-रक्षा के लिए जोर से चिल्ला उठी। राजकुमार ने उसकी ओर आश्वासन भरी दृष्टि से देखकर उस विद्याधर से कहा—“हे नराधम! इस अबला पर हाथ उठाने से तुझे लज्जा नहीं आती? यदि तुझे अपने बल पर कुछ भी घमण्ड हो, तो मुझसे युद्ध करने को तैयार हो जा! अब मैं तुझे कदापि जीवित न छोड़ूंगा।”

राजकुमार की यह ललकार सुनकर पहले तो वह विद्याधर कुछ लज्जित हुआ, किन्तु इसके बाद उसने कहा—“हे युवक! मैं नहीं जानता कि तुम कौन हो, किन्तु मैं तुम्हारी चुनौती स्वीकार करता हूँ। मैं समझता हूँ कि तुम्हारी मृत्यु ही तुम्हें यहाँ खींच लायी है और इसीलिए तुमने मेरे कार्य में बाधा देने का साहस किया है।

बस, फिर क्या था ? दोनों एक-दूसरे से भिड़ पड़े। दोनों ही युद्ध विद्या में निपुण थे, इसलिए एक-दूसरे पर अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करने लगे। यह युद्ध दीर्घकाल तक होता रहा, किन्तु कोई किसी को पराजित न कर सका। अन्त में वे दोनों अस्त्र-शस्त्र छोड़कर भुजा युद्ध करने लगे। भुजायुद्ध में भी राजकुमार ने उस विद्याधर के दाँत खट्टे कर दिये। उसने जब देखा कि राजकुमार को किसी तरह भी पराजित करना सहज नहीं है, तब उसने उसे नागपाश से जकड़ने की चेष्टा की, किन्तु राजकुमार ने उसे भी पुरानी रस्सी की तरह तोड़ डाला। यह देखकर विद्याधर ने पुनः अपनी विद्याओं का स्मरण कर अस्त्र और शस्त्रों का सहारा लिया, परन्तु सब व्यर्थ हो गये। इसी तरह सारी रात युद्ध होता रहा। अन्त में सूर्योदय होने पर राजकुमार ने अपने खड्ग से विद्याधर के सिर पर एक ऐसा प्रहार किया, कि वह मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा। अपराजित अपने नामानुसार अपराजित ही रहा। उसकी विजय और विद्याधर की घोर पराजय हुई।

विजयी राजकुमार की शारीरिक शोभा इस समय दर्शनीय हो रही थी। वह धीर वीर और सुन्दर तो था ही, इस समय विजयलक्ष्मी ने वरण कर मानो उसे और भी सुन्दर बना दिया था, विद्याधर के पराजित होने पर उस सुन्दरी ने कृतज्ञतासूचक दृष्टि से राजकुमार के मुख की ओर देखा। उसने कुछ बोलने की इच्छा की, किन्तु उसके मुख से एक भी शब्द न निकल सका। वह तो अपनी रक्षा के लिए कृतज्ञता प्रकट करना चाहती थी, परन्तु विधाता का विधान कुछ ओर ही था। राजकुमार का अलौकिक रूप देखते ही वह तन मन से उस पर मुग्ध हो गयी। उसका हृदय उसके हाथ से निकल गया। वह अपनी आँखें संकुचाकर व्याकुलतापूर्वक जमीन की ओर देखने लगी। उसे भी विद्याधर की भाँति अपने तन-मन कि खबर न थी। परन्तु विद्याधर और उसमें यह अन्तर था कि विद्याधर चेतन रहित था वह चेतना होते हुए भी मूर्च्छित सी हो रही थी।

वीरता और क्रूरता भिन्न-भिन्न चीजें हैं। राजकुमार अपराजित वीर होने पर भी हृदयहीन न थे। उन्होंने शीघ्र ही समुचित उपचार कर उस विद्याधर को स्वस्थ बनाया। उसे भलीभाँति होश आने पर उन्होंने कहा—“यदि अब भी तुम्हें युद्ध करने का हौंसला हो, तो मैं तैयार हूँ।”

विद्याधर ने कहा—“नहीं, अब मैं युद्ध करना नहीं चाहता। सच्चे वीर अपने विजेता का सम्मान करते हैं। मुझे भी अब अपनी पराजय स्वीकार कर तुम्हारा आदर करना चाहिए। तुमने यहाँ आकर मुझे स्त्री-वध के पाप से बचाया है, इसलिए मैं तुम्हारा चिरऋणी रहूँगा। वास्तव में तुमने मुझसे युद्ध कर मेरा अपकार नहीं, उपकार ही किया है। परन्तु अब मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरे वस्त्र में एक मणी और कुछ जड़ी बूटी बँधी हुई है, मणि को जल में डुबोकर उसी जल से उन जड़ी बूटियों को घिस कर जखमों पर लगाने से मैं पूर्णरूप से स्वस्थ हो जाऊँगा। दयाकर इतना उपकार और कीजिए, फिर मैं सहर्ष अपना रास्ता लूँगा।”

यह सुनकर राजकुमार ने बड़ी खुशी के साथ विद्याधर का इलाज किया। जड़ी को घिसकर लगाते ही उसके सब जखम अच्छे हो गये और ऐसा मालूम होने लगा मानो कुछ हुआ ही न था। उसे स्वस्थ देखकर राजकुमार ने पूछा—“क्या आप अपना और इस स्त्री का परिचय देने की कृपा करेंगे?”

विद्याधर ने कहा—“मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं। यदि आप यह सब बातें सुनना चाहते हैं तो सहर्ष सुनिये। मैं श्रीषेण नामक विद्याधर का पुत्र हूँ। मेरा नाम सुरकान्त है। यह स्त्री रथनपुर नगर के राजा अमृतसेन की कन्या है। इसका नाम रत्नमाला है। एक बार एक ज्ञानी ने बतलाया था कि हरिनन्दी राजा के अपराजित नामक राजकुमार से इसका ब्याह होगा। तब से वह मन-ही-मन उसी को प्रेम करती थी। दूसरे की ओर आँख उठाकर देखती तक न थी, संयोगवश एक बार मैंने इसे देख लिया, मुझे इच्छा हुई कि इससे ब्याह करना चाहिए, इसलिये मैंने इससे पाणिग्रहण की प्रार्थना की, किन्तु इसने मेरी प्रार्थना को ठुकराते हुए कहा—“या तो अपराजित ही मेरा पाणिग्रहण करेंगे या अग्निदेव ही अपनी गोद में मुझे स्थान देंगे। इन दो के सिवा मेरे शरीर की तीसरी गति नहीं हो सकती।” इसका यह उत्तर सुनकर मुझे क्रोध आ गया और मैं यहाँ इस मन्दिर में आकर दुःसाध्य विद्या की साधना करने लगा। इसके बाद मैंने फिर कई बार इससे प्रार्थना की, किन्तु जब इसने मेरी एक न सुनी, तब मैं इसका हरण कर इसे यहाँ उठा लाया। मैं कामान्ध हो गया था। मेरी विचार शक्ति नष्ट हो गयी थी। इसलिए मैं इसके टुकड़े कर अग्निकुण्ड में डाल देने की तैयारी कर रहा था। इतने ही में यहाँ आकर आपने इसकी प्राण-रक्षा की, साथ ही मुझे भी

नरक में जाने से बचाया। सच पूछिये तो आपने हम दोनों पर बड़ा ही उपकार किया है। हे महाभाग! यही मेरा और इस सुन्दरी का परिचय है। यदि आपक्ति न हो तो आप भी अब अपना परिचय देने की कृपा करें।”

विद्याधर की यह प्रार्थना सुनकर राजकुमार ने एक मतलब भरी दृष्टि से मन्त्री-पुत्र की ओर देखा। मन्त्री-पुत्र ने उनका तात्पर्य समझ कर विद्याधर को उनके नाम और कुलादिक का परिचय दिया। राजकुमार का प्रकृत परिचय पाकर रत्नमाला भी आनन्द से पुलकित हो उठी। उसे ऐसा मालूम होने लगा मानो परमात्मा ने ही उस पर दया कर उसके इष्ट को यहाँ भेज दिया है। वह इसके लिए उसे अनेकानेक धन्यवाद देने लगी।

इसी समय रत्नमाला को खोजते हुए उसकी माता कीर्तिमती और उसके पिता अमृतसेन भी वहाँ आ पहुँचे। उनके पूछने पर मन्त्री-पुत्र ने उन्हें सारा हाल कह सुनाया। उन्हें जब यह मालूम हुआ कि रत्नमाला के भावी पति ने ही संयोगवश वहाँ पहुँच कर उसकी रक्षा की है, तब उनके आनन्द का वारापार न रहा। उन्होंने उसी समय अपराजित के साथ रत्नमाला का ब्याह कर दिया। सूरकान्त पर राजा अमृतसेन को बड़ा ही क्रोध आया, परन्तु अपराजित के कहने से उन्होंने उसका अपराध क्षमा कर दिया। इसके बाद राजा अमृतसेन ने अपराजित से अपने नगर चलने की प्रार्थना की, किन्तु अपराजित ने इस बात को अस्वीकार करते हुए कहा—“इस समय आप मुझे क्षमा करिए। अपने नगर पहुँचने पर मैं आपको सूचना दूँगा, तब आप रत्नमाला को मेरे पास पहुँचा दीजिएगा। भविष्य में यदि कभी इस तरफ आऊँगा, तो आपका आतिथ्य अवश्य ग्रहण करूँगा।”

इतना कह राजकुमार ने राजा अमृतसेन, रत्नमाला और उसकी माता से विदा ग्रहण की, विद्याधर सूरकान्त ने भी उसे प्रेमपूर्वक विदा किया। उसने चलते समय अपराजित को पूर्वोक्त मणि और जड़ी-बूटी तथा मन्त्री-पुत्र को वेश बदलने की गुटिका अपनी ओर से भेंट दी। राजकुमार और मन्त्री-पुत्र ने उसकी यह भेंट सहर्ष स्वीकार कर ली। उसके बाद सब लोगों ने एक दूसरे से विदा हो अपने-अपने स्थान के लिए प्रस्थान किया।

राजकुमार अपराजित और मन्त्री-पुत्र को इस स्थान से आगे बढ़ने पर

एक बहुत बड़ा जंगल मिला। उसमें कुछ दूर जाने पर राजकुमार को प्यास मालूम हुई, इसलिए राजकुमार को एक आम्र वृक्ष के नीचे बिठाकर मन्त्री-पुत्र जल लेने चला गया। परन्तु थोड़ी देर में जब वह जल लेकर वापस आया, तब उसने देखा कि राजकुमार का कहीं पता नहीं है। वह अपने मन में यह सोचकर कि शायद मैं भूलकर किसी दूसरे वृक्ष के नीचे चला आया हूँ, अतः वह इधर-उधर के अन्य वृक्षों के नीचे उन्हें खोजने लगा, पर कहीं भी राजकुमार का पता न चला। अन्त में वह निराश होकर एक स्थान में बैठ गया। मानसिक व्याकुलता के कारण उसे मूर्छा आ गयी। वायु के शीतल झकरोरों के कारण कुछ देर में होश आने पर मन्त्री-पुत्र पुनः राजकुमार के वियोग से व्याकुल हो उठा। वह दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बहते हुए कहने लगा—“हे कुमार! तुम कहाँ हो? क्या इस प्रकार अदृश्य होकर तुम मेरी परीक्षा ले रहे हो? हे मित्र! मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम जहाँ भी रहोगे, सुखी रहोगे। संसार में कोई भी मनुष्य तुम्हारा अपकार नहीं कर सकता, किन्तु तुम्हारे वियोग से मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। हाँ! राजकुमार! तुम कहाँ हो?”

इस प्रकार मन्त्री-पुत्र बहुत देर तक विलाप करता रहा, परन्तु इसका कोई फल न हुआ। वह पुनः उठ खड़ा हुआ और चारों ओर उसकी खोज करता हुआ नन्दीपुर नामक एक नगर के समीप पहुँचा। वह चलते-चलते थक गया था, इसलिए नगर के बाहर एक बगीचे में बैठकर विश्राम करने लगा। इसी समय दो विद्याधरों ने उसके पास आकर कहा—“हे मन्त्री-पुत्र! भुवनभानु नामक एक विद्याधर राजा समीप के जंगल में अपनी विद्या के बल से एक महल खड़ा कर उसी में सपरिवार रहता है। उसे कमलिनी और कुमुदिनी नामक दो कन्याएँ हैं। भुवनभानु को एक ज्योतिषज्ञ ज्ञानी ने बतलाया कि उनका विवाह आपके मित्र अपराजित के साथ होगा। उसका यह वचन सुनकर उन्होंने हमें उसे ले आने की आज्ञा दी। शीघ्र ही हम लोग उसकी खोज में निकल पड़े। जंगल में पहुँचते ही तुम दोनों पर हमारी दृष्टि पड़ी। इसके बाद जिस समय तुम जल लेने गये, उस समय मौका देखकर हम लोग उसे अपने स्वामी के पास उठा ले गये। हमारे स्वामी उसे देखते ही उठकर खड़े हो गये और अत्यन्त सम्मानपूर्वक उन्होंने उसे अपने आसन पर बैठाया। इसके बाद उन्होंने नाना प्रकार से राजकुमार की स्तुति कर उससे अपनी दोनों कन्याओं का पाणि-ग्रहण करने की प्रार्थना की परन्तु

राजकुमार तुम्हारे वियोग से व्याकुल हो रहे थे, इसलिए उन्होंने उनकी प्रार्थना का कोई उत्तर न दिया। वे बार-बार तुम्हारा स्मरण करते थे, इसलिए हमारे स्वामी ने तुम्हें भी लेकर आने की आज्ञा दी है। बड़ी खोज के बाद हमें तुम्हारा पता लगा है। हे महाभाग! अब आप उठिए और जल्दी हमारे साथ चलिए। आप के बिना राजकुमार का ब्याह रुक गया है।”

विद्याधरों के यह वचन सुनकर मन्त्री-पुत्र के आनन्द का वारापार न रहा। वह शीघ्र ही उन दोनों के साथ चल पड़ा और राजा भुवनभानु के यहाँ अपराजित से जा मिला। उसे देखकर राजकुमार का सारा दुःख दूर हो गया और उसने सहर्ष भुवनभानु की दोनों कन्याओं का पाणिग्रहण कर लिया। राजा भुवनभानु ने अपने इन दोनों अतिथियों को कई दिन अपने यहाँ रखकर उनका भली-भाँति आतिथ्य किया। इसके बाद राजकुमार अपने मित्र के साथ उनसे विदा ग्रहण कर वहाँ से चल पड़े। मार्ग में उन्हें श्रीमन्दिर नामक एक मनोहर नगर मिला। उसकी रमणीयता देखकर उन दोनों ने कुछ दिनों तक वहाँ रह जाने का विचार किया। सूरकान्त के दिए हुए मणि द्वारा सभी आवश्यक पदार्थ प्राप्त कर वे दोनों वहाँ रहने लगे।

एक दिन राजकुमार ने देखा कि उस नगर में भयंकर हाहाकार मचा हुआ है। नगर के अधिकारीगण जनता को शान्त करने की चेष्टा कर रहे हैं, उसे समझा बुझा रहे हैं, किन्तु कोई उनकी बातों पर ध्यान नहीं देता। जिसे जिधर जगह मिलती है, वह उधर ही भाग रहा है। जनता की यह अवस्था देखकर राजकुमार ने अपने मित्र को वास्तविक घटना का समाचार लाने के लिये बाजार में भेजा। उसने वापस आकर राजकुमार से कहा—“हे मित्र! इस नगरी के राजा का नाम सुप्रभ है। उसे किसी ने छुरी मार दी है। लोग कहते हैं कि उसके बचने की कोई आशा नहीं। उस राजा का कोई उत्तराधिकारी ऐसा नहीं है, जो राज्य का समुचित प्रबन्ध करे। प्रायः ऐसे मौकों पर राज्य के शत्रु नगर पर आक्रमण कर दिया करते हैं। इसीलिए नगर निवासी इधर-उधर भाग रहे हैं।” यह समाचार सुनकर राजकुमार को बहुत ही आश्चर्य और दुःख हुआ।

उधर इसी नगर में कामलता नामक एक प्रसिद्ध गणिका-रहती थी। उसके पास संरोहण औषधि थी। उसके द्वारा वह अनेक आहत व्यक्तियों को आराम

कर चुकी थी। राजा पर भी उसने अपनी यह औषधि आजमाई, परन्तु राजा का जखम ऐसा भीषण था, कि उस औषधि ने भी कोई काम न किया। उत्तरोत्तर राजा की अवस्था बिगड़ते देखकर कामलता ने प्रधानमन्त्री से कहा—“हे मन्त्रीराज! इस नगर में साक्षात् देव समान एक परदेशी आदमी आया हुआ है। वह अपने जीवन निर्वाह के लिए किसी प्रकार का व्यवसाय या उद्योग नहीं करता, फिर भी उसके दिन बड़े आनन्द से कट रहे हैं। इसलिए वह बहुत ही प्रभावशाली मालूम होता है। मैं समझती हूँ कि उसके पास कोई औषधि या यन्त्र-मन्त्र अवश्य होगा। आप उसके पास जाइए शायद वह महाराज को आराम कर दे!”

कामलता के यह वचन सुनकर मन्त्रीजी उसी समय अपराजित के पास पहुँचे और अनेक प्रकार से विनय-अनुनय कर उन्हें महाराज के पास ले आये। अपराजित ने राजा को देखा। उनकी अवस्था अभी आशाजनक थी। इसलिए अपराजित ने मौका देखकर उस मणि के जल में जड़ी को घिसकर ज्योंही राजा के जखम पर लगाया, त्योंही वे स्वस्थ होकर इस तरह उठ बैठे, मानो निद्रा से उठ रहे हों। भली-भाँति स्वस्थ होने पर राजा ने अपराजित का परिचय पूछा। मन्त्री-पुत्र ने तुरन्त राजा को सब हाल कह सुनाया। उसे सुनकर सुप्रभ राजा प्रसन्न हो उठे। उन्होंने अपराजित को गले लगाकर कहा—“अहो! आप तो मेरे मित्र राजा हरिनन्दी के पुत्र हैं। मुझे खेद है कि आप इतने दिनों से मेरे नगर में हैं, फिर भी मैं आपका पता न पा सका। आप को साधारण प्रजाजन की भाँति नगर में न रह कर मेरे महल में आकर रहना चाहिए था।

इसके बाद सुप्रभ राजा ने अपराजित और उनके मित्र को कई दिन तक अपने यहाँ रखकर उनका आतिथ्य सत्कार किया। उनके रम्भा नामक एक परम रूपवती कन्या थी। उन्होंने अपराजित के साथ उसका विवाह भी कर दिया। कुछ दिन अपनी इस पत्नी के साथ मौजकर अपराजित यहाँ से भी विदा हो आगे के लिए चल पड़े।

श्रीमन्दिर छोड़ने के कई दिन बाद राजकुमार अपराजित और मन्त्री-पुत्र कुण्डपुर नामक एक नगर में जा पहुँचे। यहाँ एक उद्यान में उन्हें केवली भगवान के दर्शन हुए। उन्हें वन्दन कर उनका धर्मोपदेश सुनने के बाद राजकुमार ने

उसने पूछा—“हे भगवन्! मैं भव्य हूँ या अभव्य?”

केवली भगवान ने कहा—“हे राजकुमार! तुम भव्य हो। पाँचवे जन्म में तुम बाईसवें तीर्थंकर होंगे और यह तुम्हारा मित्र गणधर होगा।”

केवली भगवान के यह वचन सुनकर दोनों जन बहुत ही प्रसन्न हुए। वे कई दिन तक वहाँ रहे और मुनिराज की सेवा करते रहे। इसके बाद जब मुनिराज वहाँ से विहार कर गये, तब वे भी वहाँ से चल पड़े और स्थान-स्थान पर चैत्य-वन्दन करते हुए इधर-उधर विचरण करने लगे।

उधर जनानन्दपुर में जितशत्रु नामक राजा राज्य करते थे। उनकी राणी का नाम धारिणी था। वह गर्भवती थी। तथासमय उसके उदर से रत्नवती ने पुत्री रूप में जन्म लिया। उसके पिता ने उसका नाम प्रीतिमती रखा। जब प्रीतिमती की अवस्था कुछ बड़ी हुई, तब उसकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया गया। प्रीतिमती की बुद्धि बहुत ही तीव्र थी, इसलिए अल्पकाल में ही वह अनेक विद्या और कलाओं में पारंगत हो गयीं। इसके बाद क्रमशः जब उसने यौवनावस्था में पदार्पण किया, तब राजा उसकी विवाह-चिन्ता से व्याकुल हो उठे। ऐसे रूपवती और गुणवती पुत्री को हर किसी के गले मढ़ देना उन्होंने उचित न समझा। उन्होंने विचार किया कि इसका विवाह इसकी इच्छानुसार किसी योग्य वर से ही करूँगा। निदान, एक दिन उन्होंने उसे एकान्त में बुलाकर पूछा—“हे पुत्री! तुम्हें किस के साथ ब्याह करना पसन्द है?”

प्रीतिमती ने संकुचाते हुए सिर झुकाकर कहा—“हे पिताजी! मैं उसी से ब्याह करना पसन्द करती हूँ, जो कला-कौशल में मुझे से अधिक निपुण हो। यदि कोई पुरुष इस विषय में मुझे जीत लेगा तो मैं सदा के लिए उसकी दासी बन जाऊँगी।”

राजा ने कहा—“अच्छा, ऐसा ही होगा।”

धीरे-धीरे प्रीतिमती की इस प्रतिज्ञा का समाचार चारों ओर फैल गया। वह रूप और गुण में देवकन्याओं को भी मात करती थी, इसलिए दूर-दूर के राजकुमार उसका पाणिग्रहण करने के लिए लालायित हो रहे थे। उसकी इस प्रतिज्ञा का समाचार पाकर वे सब जोरों से कला कौशल का अभ्यास करने लगे, जिससे इस कठिन परीक्षा में उन्हीं की विजय हो।

राजा जितशत्रु ने यथासमय प्रीतिमती के स्वयंवर की तैयारी की। नगर में बड़ी सजावट के साथ एक मण्डप बनाया गया और उसमें भिन्न-भिन्न राजाओं के लिए सुशोभित मंच और आसन सजाये गये। महाराज का निमन्त्रण पाकर दूर-दूर के राजे-महाराजे अपने-अपने राजकुमारों के साथ स्वयंवर में भाग लेने के लिए आकर उपस्थित हुए। केवल राजा हरिनन्दी न आये, क्योंकि वे पुत्र-वियोग के कारण सदैव दुःखित रहते थे।

राजकुमार अपराजित को इस स्वयंवर का कोई हाल मालूम न था, किन्तु दैवयोग से घूमते घूमते वे भी अपने मित्र के साथ वहाँ आ पहुँचे। स्वयंवर की चहल-पहल देखकर उन्होंने अपने मित्र विमलबोध से कहा—“हे मित्र! हम लोग बहुत अच्छे समय पर यहाँ आ पहुँचे हैं। यदि हम लोग यहाँ ठहर जायेंगे, तो देश-देशान्तर के राजकुमारों का कौशल देखने के अलावा हम लोग उस राजकुमारी को भी देख सकेंगे, जो कला से इतना प्रेम रखती है।”

मन्त्री-पुत्र ने भी राजकुमार के प्रस्ताव का अनुमोदन किया, इसलिए वे दोनों वहीं ठहर गये। पाठकों को मालूम ही है कि सूरकान्त ने मन्त्री-पुत्र को वेश-परिवर्तन की एक गुटिका भेंट दी थी। स्वयंवर के दिन अपराजित ने उसके सहारे अपना वेश बदल डाला, जिससे उन्हें कोई पहचान न सके। इसके बाद वे दोनों दर्शकों के मंच पर एक स्थान में जा बैठे। उनके विकृत रूप के कारण किसी का ध्यान उनकी ओर आकर्षित न हुआ।

यथासमय राजकुमारी प्रीतिमती ने स्वयंवर वाले मण्डप में प्रवेश किया। उसने दिव्य वस्त्रालंकार धारण किये थे। वह सखियों के झुण्ड से घिरी हुई थी, किन्तु उसके दोनों ओर चमर ढाल रहे थे, जिससे वह आसानी से पहचानी जा सकती थी। राजाओं के सामने पहुँचने पर उसकी प्रधान परिचारिका भिन्न-भिन्न राजाओं को दिखा कर उनका परिचय प्रदान करने लगी। उसने कहा—“देखो सखी! यहाँ पर अनेक गुणवान, रूपवान और कलाकुशल राजकुमार तथा राजे महाराजे एकत्र हुए हैं। यह देखिए, कदम्ब देश के राजा भुवनचन्द्र हैं, जो पूर्व दिशा के भूषण रूप हैं। यह दक्षिण दिशा के अलंकार रूप समरकेतु राजा हैं। उत्तर दिशा के कुबेर समान यह कुबेरराज हैं। जिनकी कीर्तिलता दूर-दूर तक फैली है, ऐसे यह सोमप्रभ राजा है। इनके अतिरिक्त धवन, शुर और भी

आदिक नरेश भी आये हुए हैं। यह विद्याधरों के स्वामी राजा मणिचूड़ हैं। यह रत्न के समान कान्तिवाले राजा रत्नचूड़ हैं। यह दीर्घबाहु मणिप्रभ राजा हैं और यह सुमन, सूर, सौम आदिक खेचर राजा हैं। हे सखी! इन सब कलाविदों को देखकर भलीभाँति इनकी परीक्षा कर लो, फिर जिसे पसन्द करो उसे अपनी वरमाला अर्पण करो।

इस प्रकार सखी ने प्रीतिमती को सभामण्डप के समस्त राजाओं का परिचय दिया। उस समय प्रीतिमती जिस राजा की ओर देखती वही कामदेव के बाण से घायल हो छटपटाने लगा। अन्त में उसने सरस्वती की भाँति वीणाविनिन्दित कण्ठस्वर से पूर्व पक्ष ग्रहण कर वाद-विवाद करना आरम्भ किया। उसे सुनकर समस्त भूचर और खेचर राजा हतबुद्धि हो गये। किसी में भी ऐसी शक्ति न थी, जो उसके प्रश्नों का उत्तर दे सके। सब लोगों ने निराश हो, मन ही मन पराजय स्वीकार कर, अपना सिर झुका लिया।

सभा की यह अवस्था देखकर राजा-जितशत्रु बड़ी चिन्ता में पड़ गये। वे अपने मन में कहने लगे—“हा दैव! अब मैं क्या करूँ? सभा में एक से एक विद्वान राजा महाराजा उपस्थित हैं, परन्तु इनमें से कोई भी प्रीतिमती के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। मानों सभी के मुँह में ताला लग गया है। यदि मैं जानता कि यह अवस्था होगी, तो इस स्वयंवर का आयोजन ही न करता। इसकी अपेक्षा तो किसी के साथ राजकन्या का चुपचाप विवाह कर देना ही अच्छा था। इतना सब करने के बाद अब वह भी नहीं हो सकता। क्या अब प्रीतिमती कुमारी ही रह जायगी? क्या विधाता ने उसके लिये पति की सृष्टि ही नहीं की?”

राजा को इस प्रकार चिन्तित देखकर प्रधानमन्त्री ने उसे धैर्य देते हुए कहा—“हे राजन्! आप इतनी चिन्ता क्यों कर रहे हैं? बहुरत्ना वसुन्धरा ने प्रीतिमती के लिए पति की सृष्टि जरूर की है। वह समय आने पर अवश्य प्राप्त होगा। राजा ने प्रत्युत्तर में कहा, “हे मंत्री! यदि आज प्रीतिमती के लिये उपयुक्त वर नहीं मिलता, तो हमें यह न मान लेना चाहिए कि फिर कभी नहीं मिलेगा। हे राजन्! अब आप यह घोषणा कर दीजिए कि कोई भी राजकुमार या साधारण पुरुष जो प्रीतिमती को वाद-विवाद में जीत लेगा, उसी के साथ उसका ब्याह

कर दिया जायगा। मुझे विश्वास है कि इस घोषणा से कभी-न-कभी कोई उपयुक्त वर मिल ही जायगा, साथ ही वर्तमान अवस्था में जो हँसी होने का डर है, वह भी इससे न रहेगा।”

मन्त्री की यह सलाह राजा को पसन्द आ गयी, इसलिए उन्होंने तुरन्त उपरोक्त प्रकार की घोषणा करा दी। यह घोषणा सुनकर राजकुमार अपराजित अपने मन में कहने लगे—“यद्यपि वाद-विवाद में स्त्री को जीतने पर भी पुरुष का गौरव नहीं बढ़ सकता, तथापि मैं उसे जीतने की चेष्टा अवश्य करूँगा। उसके प्रश्नों का उत्तर न दे सकना पुरुषों के लिए लज्जा की बात है। इसमें उनका अपमान है, उनकी हीनता है। मैं यह कलंक अवश्य दूर करूँगा।”

यह सोचकर अपराजित तुरन्त प्रीतिमती के सामने आ खड़े हुए। इस समय उन्होंने बहुत ही साधारण कपड़े पहन रखे थे, साथ ही अपना रूप भी विकृत बना लिया था, इसलिए देखने में वे उतने सुन्दर न मालूम होते थे, फिर भी पूर्वजन्म के स्नेहानुभाव के कारण प्रीतिमती उन्हें देखते ही उन पर अनुरक्त हो गयी। इसके बाद यथाविधि वाद-विवाद आरम्भ हुआ। प्रीतिमती ने पूर्वपक्ष लिया, परन्तु अपराजित इससे विचलित न हुए। उन्होंने उसके प्रश्नों का उत्तर देते हुए इतनी सुन्दरता से उसकी युक्तियों का खण्डन किया कि वह अवाक् बन गयी। उसने उसी क्षण अपनी पराजय स्वीकार कर राजकुमार के गले में जयमाला पहना दी।

परन्तु राजकुमार की यह विजय देखकर समस्त भूचर और खेचर राजा ईर्ष्याग्नि से जल उठे। वे कहने लगे—“क्या हमारे रहते हुए यह दरिद्री इस राजकुमारी को ले जायगा? हम यह कदापि न होने देंगे। इतना कहकर वे सब शस्त्रास्त्र से सज्जित हो राजकुमार पर आक्रमण करने लगे। उनकी सेना भी इधर-उधर दौड़धूप करने लगी। राजकुमार इस युद्ध के लिये तैयार न थे, किन्तु ज्यों ही राजाओं ने रंग बदला, त्यों ही वे एक हाथी के सवार को मारकर उस पर चढ़ बैठे और उसके हौदे में जो शस्त्रास्त्र रखे थे, उन्हीं को लेकर वे युद्ध करने लगे। इस प्रकार कभी रथ पर कभी हाथी पर और कभी जमीन पर रहकर युद्ध करने से वे एक होने पर भी ऐसे मालूम होने लगे मानो कई राजकुमार युद्ध कर रहे हैं। उन्होंने अपने विचित्र रण-कौशल से थोड़ी ही देर में शत्रु-सेना को इस

तरह छिन्न-भिन्न कर डाला कि उसमें बेतरह भगदड़ मच गयी।

परन्तु भूचर और खेचर राजाओं के लिए यह बड़ी लज्जा की बात थी। एक तो राजकन्या द्वारा वे वाद-विवाद में पराजित हुए थे, दूसरे अब राजकुमार अपराजित, जिसे वे कोई साधारण व्यक्ति समझ रहे थे, अकेला ही उनका मान-भंग कर रहा था। वे अपनी इस पराजय से झल्ला उठे और बिखरी हुई सेना को एकत्र कर फिर से युद्ध करने लगे। इस बार राजकुमार ने राजा सोमप्रभ का हाथी छीन लिया और उस पर बैठकर वे शत्रु सेना का संहार करने लगे।

इस युद्ध में भी वे न जाने कितने सैनिकों का काम तमाम कर डालते, परन्तु सौभाग्य वश उनके कितने ही लक्षण और तिलक आदि देखकर राजा सोमप्रभ ने उनको पहचान लिया। उन्होंने राजकुमार को प्रेमपूर्वक गले लगाकर कहा—“हे कुमार! मैंने तुम्हें पहचान लिया। तुम तो मेरे भानजे हो।”

राजा सोमप्रभ के मुख से राजकुमार अपराजित का परिचय पाकर सब राजाओं ने युद्ध करना बन्द कर दिया। अब तक जो शत्रु बनकर युद्ध कर रहे थे, वे ही अब मित्र बनकर अपराजित के विवाह में योगदान करने लगे। राजा जितशत्रु ने शुभमुहूर्त में बड़ी धूमधाम से राजकुमार अपराजित के साथ प्रीतिमती का विवाह कर दिया। विवाह के समय राजकुमार अपना प्रकृत रूप प्रकट किया, जिसे देखकर राजा जितशत्रु तथा राजकन्या प्रीतिमती विशेष रूप से आनन्दित हुए।

विवाह कार्य सानन्द सम्पन्न हो जाने पर राजा जितशत्रु ने समस्त राजाओं को सम्मानपूर्वक विदा किया। राजकुमार अपराजित अपने मित्र विमलबोध के साथ कुछ दिनों के लिए वहीं ठहर गये और अपनी नव-विवाहिता पत्नी के साथ आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करने लगे। राजा जितशत्रु के मन्त्री की एक कन्या थी, जिसकी अवस्था विवाह करने योग्य हो चुकी थी। इस बीच में उसने उसका ब्याह विमलबोध के साथ कर दिया जिससे उसके जीवन में भी आनन्द की बात आ गयी। दोनों मित्र दीर्घकाल तक अपने श्वसुर का आतिथ्य ग्रहण करते रहे।

राजकुमार अपराजित की इस विजय और विवाह का समाचार धीरे-धीरे राजा हरिनन्दी के कानों तक जा पहुँचा। उन्होंने राजकुमार का पता पाते ही

उसके पास एक दूत भेजा। राजकुमार ने उसका स्वागत कर अपने माता-पिता का कुशल समाचार पूछा। उत्तर में दूत ने सजल नेत्रों से कहा—“हे राजकुमार वे किसी तरह जीते हैं यही कुशलता समझिए। वैसे तो वे आपके वियोग से मृतप्रायः हो रहे हैं। रात-दिन वे खिन्न और दुःखित रहते हैं। किसी काम में उनका जी नहीं लगता। आनन्द जैसी वस्तु तो मानो अब उनके जीवन में है ही नहीं। बीच-बीच में जब कभी आपके सम्बन्ध की कोई उड़ती हुई खबर उनके कानों तक पहुँच जाती है, तब वे कुछ क्षणों के लिए आनन्दित हो उठते हैं और उनका हृदय आशा से भर जाता है, परन्तु कुछ देर के बाद फिर उनकी आशा-निराशा में परिणत हो जाती है और वे फिर उसी तरह निराशा हो जाते हैं। इस बार आपका विश्वसनीय पता पाकर उन्होंने आपको बुला लाने के लिए मुझे भेजा है। आप मेरे साथ शीघ्र ही चलिए और अपने माता-पिता की वियोग-व्यथा दूर कर उनके जीवन को सुखी बनाइए!”

दूत के यह वचन सुनकर राजकुमार के नेत्रों से आँसू आ गये। उन्होंने कहा—“मेरे कारण मेरे माता-पिता को जो दुःख हुआ है, उसके लिए मुझे आन्तरिक खेद है। चलो, अब मैं शीघ्र ही तुम्हारे साथ चलता हूँ।”

इतना कह राजकुमार अपराजित राजा जितशत्रु के पास गये और उनसे सारा हाल निवेदन किया। राजा जितशत्रु ने उसी समय उन्हें जाने की आज्ञा दे दी। वे उनसे विदा ग्रहण कर अपने नगर की ओर चल पड़े। इसी समय अपनी दोनों पुत्रियों के साथ विद्याधर भुवनभानु तथा भिन्न-भिन्न वे राजा भी अपनी-अपनी कन्याओं के साथ वहाँ आ पहुँचे जिनके साथ राजकुमार ने ब्याह किया था। विद्याधर सुरकान्त भी कहीं से घूमता-घामता वहाँ आ पहुँचा। राजकुमार ने अपनी संमस्त पत्नियों तथा भूचर और खेचर राजाओं के साथ सिंहपुर की ओर प्रस्थान किया।

शीघ्र ही यह सब दल सिंहपुर जा पहुँचा। वहाँ उनके आगमन का समाचार पहले ही पहुँच गया था, इसलिए नगर-निवासियों ने उनके स्वागत के लिए बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कर रखी थीं। जिस समय राजकुमार अपराजित अपनी पत्नियों के साथ अपने माता-पिता के सामने पहुँचे, उस समय का दृश्य बहुत ही हृदयस्पर्शी था। सबकी आँखों में आनन्दाश्रु झलक रहे थे। राजा हरिनन्दी

पुत्र को गले लगाकर उसके मस्तक पर बार-बार चुम्बन करने लगे। उनके नेत्र उसे देखकर मानो तृप्त ही न होते थे। माता ने भी पुत्र की पीठ पर हाथ फेरकर उसे आशीर्वाद दिया और विमलबोध ने उनसे उन सब का परिचय कराया। राजकुमार के साथ जो भूचर और खेचर राजा आये थे, वे कई दिन तक राजा हरिनन्दी का आतिथ्य ग्रहण करते रहे। इसके बाद उन सबको सम्मानपूर्वक विदा कर राजकुमार अपराजित अपने माता-पिता को आनन्दित करते हुए वहीं अपने दिन निर्गमन करने लगे।

उधर मनोगति और चपलगति दोनों महेन्द्र देवलोक से च्युत होकर अपराजित के सूर और सोम नामक लघु बन्धु हुए। कुछ दिनों के बाद राजा हरिनन्दी ने समस्त राज्य-भार अपराजित को सौंपकर स्वयं दीक्षा ले ली और दीर्घकाल तक तपस्या कर अन्त में उन्होंने परमपद प्राप्त किया। इधर राजा अपराजित ने प्रीतिमती को पटरानी, विमलबोध को मन्त्री और अपने दोनों लघु बन्धुओं को माण्डलिक राजा बना दिया। वह राज्य-शासन में सदा न्याय और नीति से काम लेता था, इसलिए प्रजा का प्रेम सम्पादन करने में भी उसे देरी न लगी। इस प्रकार प्रजापालन करते हुए राजा अपराजित के दिन आनन्द से कटने लगे। उन्होंने दीर्घकाल तक शासन किया और अपने शासनकाल में अनेक जिन चैत्यों की रचना करायी तथा अनेक बार तीर्थाटन कर अपना जीवन और धन सार्थक किया।

एक दिन राजा अपराजित उद्यान की सैर करने गये। वहाँ उन्होंने एक धनीमानी सार्थवाह को देखा, जो अपने इष्ट-मित्र और स्त्रियों के साथ वहाँ क्रीड़ा करने गया था। वह उस समय याचकों को दान दे रहा था और बन्दीजन उसकी बिरुदावली गा रहे थे। उसका ठाठ-बाट देखकर राजा अपराजित चकित हो गये। उन्होंने एक सेवक से उसका परिचय पूछा। उसने बतलाया—“महाराज! यह हमारे नगर के समुद्रपाल नामक सार्थवाह का पुत्र है। इसका नाम अनंगदेव है।”

राजा यह सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—“धन्य है मुझे, कि मेरे राज्य में ऐसे उदार और धनीमानी व्यापारी निवास करते हैं।”

अस्तु! उस दिन तो राजा अपने वासस्थान को लौट गये। किन्तु दूसरे

दिन वे जब फिर नगर घूमने निकले तो उन्होंने देखा कि नगर के किसी प्रतिष्ठित पुरुष की मृत्यु हो गयी है और उसके शव को हजारों आदमी श्मशान लिये जा रहे हैं। शव के पीछे कई स्त्रियाँ बाल बिखेरे हृदयभेदक ध्वनि से करुण क्रन्दन कर रही थीं। राजा ने सेवक से पूछा—“यह कौन है? किस की मृत्यु हो गयी है?” सेवक ने बतलाया—“महाराज! यह वही अनंगदेव सार्थवाह है, जिसे कल आपने बगीचे में देखा था। आज विशूचिका-हैजे की बीमारी से इसकी मृत्यु हो गयी है।”

यह सुनकर राजा को बड़ा ही दुःख हुआ। साथ ही मनुष्य जीवन की यह क्षणभंगुरता देखकर उनका हृदय वैराग्य से भर गया। वे खिन्नता पूर्वक अपने वासस्थान को लौट आये और यथा नियम अपने राजकाज देखने लगे, परन्तु इस दिन से किसी भी काम में उनका जी न लग सका। उनकी आन्तरिक शान्ति नष्ट हो गयी और उसका स्थान सदा के लिए अशान्ति ने अधिकृत कर लिया।

पाठकों को स्मरण होगा, कि देशाटन के समय कुण्डपुर में अपराजित को एक केवली के दर्शन हुए थे। कुछ दिनों के बाद वही केवली भगवान एक दिन सिंहपुर आ पहुँचे। राजा अपराजित ने बड़ी श्रद्धा के साथ उनकी सेवा में उपस्थित हो उनका धर्मोपदेश सुना। इसके बाद उन्होंने प्रीतिमती के उदर से उत्पन्न पद्म नामक अपने पुत्र को राज्यभार सौंप, उन्हीं के निकट दीक्षा ले ली। रानी प्रीतिमती, लघुबन्धु सूर और सोम तथा मन्त्री विमल-बोध ने भी उनका अनुसरण कर उसी समय दीक्षा ले ली। इन सब लोगों ने अपने जीवन का शेष समय तपस्या करने में बिताया, मृत्यु होने पर आरण देवलोक में इन्हें इन्द्र के समान देवत्व प्राप्त हुआ और वे सब परस्पर प्रेम करते हुए स्वर्गीय सुखों का उपभोग करने लगे।



चौथा परिच्छेद सातवाँ और आठवाँ भव



इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कुरु नामक एक देश था। उसके हस्तिनापुर नामक नगर में श्रीषेण नामक एक राजा राज्य करते थे, उनकी रानी का नाम श्रीमती था। उसने एक दिन पिछली रात में स्वप्न देखा कि मानो उसके मुख में पूर्णचन्द्र प्रवेश कर रहा है। सुबह राजा की निद्रा भंग होने पर उसने वह स्वप्न उन्हें कह सुनाया। उन्होंने उसी समय स्वप्न पाठकों को बुलाकर इस स्वप्न का फल पूछा। स्वप्न पाठकों ने कहा—“महाराज! यह स्वप्न बहुत ही उत्तम है। इसके प्रभाव से रानी को एक परम प्रतापी पुत्र होगा, जो शत्रुरूपी समस्त अन्धकार का नाश करेगा।”

यह स्वप्न फल सुनकर राजा और रानी अत्यन्त प्रसन्न हुए। अपराजित का जीव देवलोक से च्युत होकर उस रानी के उदर में आया और गर्भकाल पूर्ण होने पर उसने यथासमय एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। राजा ने इस पुत्र का नाम शंख रक्खा। जब उसकी अवस्था कुछ बड़ी हुई, तब राजा ने उसकी शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध किया और उसने थोड़े ही दिनों में अनेक विद्या तथा कलाओं में पारदर्शिता प्राप्त कर ली। धीरे धीरे किशोरावस्था अतिक्रमण कर वह यौवन के कुसुमित वन में विचरण करने लगा।

उधर विमल बोध का जीव देवलोक से च्युत होकर राजा के मन्त्री के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ और उसका नाम मतिप्रेम गया। पूर्व सम्बन्ध के कारण शंखकुमार और उसमें बाल्यावस्था से ही मित्रता हो गयी। यह मैत्री बन्धन दिन प्रतिदिन दृढ़ होता गया और बाल्यवस्था की भांति युवावस्था में भी

वे दोनों एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र बने रहे।

एक दिन प्रजा के एक दल ने श्रीषेण राजा की सेवा में उपस्थित होकर प्रार्थना की कि:—“हे राजन्! आपके राज्य की सीमा पर विशाल श्रृंग नामक एक बहुत ही विषम पर्वत है। उस में शिशिरा नामक एक नदी भी बहती है। उसी पर्वत के कीले में समरकेतु नामक एक पल्लीपति रहता है। वह हम लोगों पर बड़ा ही अत्याचार करता है और हम लोगों को दिन दहाड़े लूट लेता है। हे राजन्! यदि आप उसके अत्याचार से हमारी रक्षा न करेंगे, तो हम लोग आप का राज्य छोड़कर कहीं अन्यत्र जा बसेंगे।”

प्रजा के यह वचन सुनकर राजा ने उन्हें आश्वासन दे विदा किया और पल्लीपति पर आक्रमण करने के लिए उसी समय सैन्य को तैयार होने की आज्ञा दी। रणभेरी की आवाज सुनकर नगर में खल बली मच गयी। शंखकुमार उसका कारण जानकर पिता के पास दौड़ा आया और उन्हें प्रणाम कर कहने लगा—“हे पिताजी! एक साधारण पल्लीपति पर आप इतना क्रोध क्यों करते हैं? श्रृंगाल पर सिंह को हाथ डालने की जरूरत नहीं। उसके लिए तो हम लोग काफी हैं। यदि आप की आज्ञा हो तो मैं शीघ्र ही उसे गिरफ्तार कर आप की सेवा में हाजिर कर सकता हूँ।

पुत्र के यह वचन सुनकर राजा को बड़ा ही आनन्द हुआ। उन्होंने पल्लीपति को दण्ड देने के लिए शंखकुमार की अधिनायकता में एक बड़ी सेना खाना की। परन्तु पल्लीपति बड़ा ही धूर्त था। उसने ज्यों ही सुना कि शंखकुमार इस ओर आ रहे हैं, त्यों ही वह अपने किले को खाली कर एक गुफा में जा छिपा। कुशाग्रबुद्धि शंखकुमार उसकी यह चाल पहले ही समझ गया, इसलिए उन्होंने कुछ सेना के साथ एक सामन्त को उस किले में भेज दिया और वे स्वयं एक गुफा में छिपे रहे। पल्लीपति ने समझा कि शंखकुमार समस्त सेना के साथ दुर्ग में चले गये हैं, इसलिये अब उन्हें घेर लेना चाहिए। यह सोचकर उसने दुर्ग को चारों ओर से घेर लिया। शंखकुमार ने यही समय उपयुक्त समझ कर बाहर से उस पर आक्रमण कर दिया। अब उस पर दोनों ओर से मार पड़ने लगी। एक ओर से उस पर दुर्ग की सेना टूट पड़ी और दूसरी ओर से शंखकुमार की सेना ने धावा बोल दिया। दोनों सेनाओं के बीच में वह बुरी तरह फँस गया। जब उसने

देखा कि बचने का कोई उपाय नहीं है, तब अत्यन्त दीनता पूर्वक कंठ में कुठार डालकर वह शंखकुमार की शरण में आया। उसने कहा—‘हे स्वामिन्!’ मैं अपनी पराजय स्वीकार कर आपकी शरण में आया हूँ। अब मैं आपका दास होकर रहूँगा। आप मुझे जो चाहे सो दण्ड दे दीजिये और मेरा यह अपराध क्षमा कीजिए।

पल्लीपति की यह प्रार्थना सुनकर शंखकुमार से उससे वह सब माल ले आने को कहा, जो उसने आसपास के लोगों को लूट लूटकर एकत्र किया था। पल्लीपति ने उसकी यह आज्ञा तुरन्त शिरोधार्य की। शंखकुमार ने वह सब माल उसी समय उनके असल मालिकों को लौटा दिया। इसके बाद उन्होंने उससे समुचित दण्ड वसूल कर उसे अपने साथ चलने की आज्ञा दी। यथासमय सब सेना ने विजय का डंका बजाते हुए वहां से प्रस्थान किया।

मार्ग में संध्या पड़ने पर सब लोगों ने एक स्थान में पड़ाव डालकर वहीं रात बिताना स्थिर किया। मध्यरात्रि के समय जब अपनी शैया में पड़े हुए शंखकुमार मधुर निद्रा का आस्वादन कर रहे थे, उस समय एक ओर से उन्हें किसी अबला का करुणा प्रधान क्रन्दन सुनायी दिया। उसे सुनकर वे तुरन्त उठ बैठे और हाथ में खड्ग लेकर उसी ओर चल पड़े। कुछ दूर जाने पर उन्हें एक प्रौढ़ा स्त्री दिखायी दी। शंखकुमार ने उसके पास पहुँचकर पूछा—‘हे भद्रे! तुम्हें ऐसा कौन सा दुःख है, जिसके कारण तुम इस तरह विलाप कर रही हो?’

राजकुमार के इन वचनों से प्रौढ़ा को कुछ सान्त्वना मिली। उसने कहा—‘हे भद्र! अंगदेश में चम्पा नामक एक नगरी है। उसमें जितारि नामक राजा राज्य करता है। उसकी रानी का नाम प्रीतिमती है। उसने कई पुत्रों के बाद यशोमती नामक एक कन्या को जन्म दिया है। उसकी अवस्था अब विवाह योग्य हो चुकी है, परन्तु उसे अपने अनुरूप कोई वर नहीं दिखायी देता, इसलिए वह रातदिन दुखी रहती है। हाल ही में उसने किसी के मुख से राजा श्रीषेण के पुत्र शंखकुमार की प्रशंसा सुनी है। उसे सुनकर वह उस पर तन मन से अनुरक्त हो गयी है और उसने प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं शंखकुमार से ही व्याह करूँगी। इस प्रतिज्ञा का हाल सुनकर उसके पिता को परम आनन्द हुआ और उसने यह सम्बन्ध ठीक करने के लिए अपने आदमियों को राजा श्रीषेण के

पास भेज दिया। परन्तु वहां से कोई उत्तर आने के पहले ही मणिशेखर नामक एक विद्याधर राजा ने उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट कर उसकी मंगनी की।

इधर राजा जितारि चिन्ता में पड़ गये क्योंकि यशोमती ने स्पष्ट कह दिया कि वह शंखकुमार के सिवा और किसी से ब्याह करना नहीं चाहती। यह सुनकर वह विद्याधर असन्तुष्ट हो गया और उसने उसका हरण कर लिया। मैं उसकी दाई थी। मुझे उसने बड़ा स्नेह था, इसलिए मैं भी उसके साथ आयी थी, परन्तु दुष्ट विद्याधर मुझे यहीं छोड़कर उसे न जाने कहां उठा ले गया है। भे भद्र! मैं उसी के वियोग से दुःखित होकर यहाँ पर विलाप कर रही हूँ।”

यह सब समाचार सुनकर शंखकुमार ने कहा—“हे माता! तुम धैर्य धारण करो। मैं उस विद्याधर को पराजित कर कुमारी को शीघ्र ही तुम्हारे पास ले आता हूँ।”

इतना कह शंखकुमार वहां से चल पड़े और जंगल में चारों ओर घूम घूम कर उस विद्याधर की खोज करने लगे। खोजते खोजते सवेरा हो गया और सूरज निकल आया, किन्तु कहीं उसका पता न चला। अन्त में वे विशाल श्रृंग पर्वत पर जा पहुँचे। वहां पर एक गुफा में उन्होंने उस विद्याधर को देखा। उस समय वह यशोमति को ब्याह करने के लिये मना रहा था। और यशोमती दृढ़ता पूर्वक इन्कार कर रही थी। वह उस विद्याधर से कह रही थी कि तुम्हारी यह याचना बिल्कुल व्यर्थ है। मैं अपना तन मन शंखकुमार को अर्पण कर चुकी हूँ। अब उनके सिवा और कोई पुरुष मेरे शरीर को हाथ नहीं लगा सकता।”

उसके यह वचन सुनकर, विद्याधर ने असन्तुष्ट होकर कहा—“तुम जिस शंखकुमार को इतना प्रेम करती हो, उसको तो मैंने अपने अधिकार में कर रखा है। अब तुम उसे देख भी न सकोगी। तुम्हें आज नहीं तो कल, मेरे साथ भवश्य ही ब्याह करना होगा। यदि तुम मेरी बात प्रसन्नता पूर्वक न मानोगी, तो मुझे लाचार होकर बलात्कार करना पड़ेगा।”

इधर शंखकुमार एक ओर खड़े खड़े सब बातें सुन रहे थे, जब उन्होंने इसकी यह धमकी सुनी तो वे गरज कर कहने लगे—“हे नीच! हे पापी! अब तू तैयार हो जा! मैं तुझे कदापि जीता न छोड़ूँगा।”

इतना कह शंखकुमार मणिशेखर विद्याधर पर टूट पड़े। दोनों बड़ी देर तक धमासान युद्ध करते रहे। अन्त में जब मणिशेखर ने देखा कि वह भुजबल से शंखकुमार को न जीत सकेगा, तब वह अपनी माया से आग के गोले आदि बनाकर उनसे युद्ध करने लगा, परन्तु पुण्य प्रभाव के कारण कुमार की कोई हानि न हुई। उसके अनेक अस्त्रों को तो उसने अपने खड्ग से ही काट डाला। इससे मणिशेखर बहुत लज्जित हुआ। इसी समय शंखकुमार ने उसका धनुष खींचकर उसकी छाती में इतने वेग से एक बाण मारा कि वह मुर्छित होकर वहीं भूमि पर गिर पड़ा।

मणिशेखर के मूर्छित हो जाने पर शंखकुमार से उसका उपचार किया और जब वह स्वस्थ हुआ तब पुनः उसे लड़ने के लिये चुनौती दी। किन्तु मणिशेखर ने उसे हाथ जोड़ते हुए कहा—“हे कुमार! अब मैं तुमसे युद्ध करना नहीं चाहता। तुम वीर शिरोमणि हो। मनुष्य होते हुए भी तुमने मुझे विद्याधर को जीत लिया है। तुम्हारा बल देखकर मैं समझ गया हूँ कि तुम साधारण मनुष्य नहीं हो। हे वीर! यह यशोमती जिस प्रकार तुम्हारे गुणों से तुम पर मुग्ध हो रही है, उसी तरह मैं भी तुम्हारे बल से तुम पर मुग्ध हो रहा हूँ। मैंने तुमसे लड़ने में बड़ी भूल की है। अब मेरा अपराध क्षमा करो!”

शंखकुमार ने कहा—“हे मणिशेखर! मैं भी तुम्हारा बल और तुम्हारी नम्रता देखकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। हे महाभाग! अब तुम जो कहो वह करने के लिए मैं तैयार हूँ।”

मणिशेखर ने कहा—“यदि आप प्रसन्न हैं तो मेरे साथ वैताढ्य पर्वत पर चलिये। वहां पर चलने से एक तो सिद्धायतन तीर्थ की यात्रा हो जायगी, दूसरे मुझ पर भी बड़ा अनुग्रह होगा।”

शंखकुमार ने उसकी यह प्रार्थना सहर्ष स्वीकार कर ली। यशोमती को भी इससे बहुत ही आनन्द हुआ। इसी समय मणिशेखर के कुछ अनुचर वहां आ पहुँचे। उन्होंने सब वृत्तान्त सुनकर शंखकुमार को प्रणाम किया। शंखकुमार ने उन्हीं में से दो विद्याधरों को अपनी सेना के पास भेजकर उसे हस्तिनापुर जाने को आदेश दिया। वहां से लौटते समय वही विद्याधर यशोमती की उस धात्री को भी अपने साथ लेते आये, जिसे शंखकुमार आश्वासन देकर मार्ग में छोड़

आये थे। इसके बाद वे मणिशेखर के साथ वैताढ्य पर्वत पर गये और वहां पर सिद्धायतन की यात्रा की। यशोमती और उसकी दाई ने भी इस यात्रा में शंखकुमार का साथ दिया।

सिद्धायतन की यात्रा करने के बाद मणिशेखर, शंखकुमार और यशोमती आदि को कनकपुर ले गया और वहां उसने बड़े प्रेम से उनका स्वागत सत्कार किया। शंखकुमार के वीरत्व और सद्गुणों पर मुग्ध हो वहाँ के अन्यान्य विद्याधरों ने उनकी दासता स्वीकार की और उनसे अपनी कन्याओं का विवाह करने की भी प्रार्थना की, परन्तु शंखकुमार ने कहा कि यशोमती के साथ विवाह करने के बाद ही मैं इन कन्याओं से विवाह कर सकता हूँ, उसके पहले शंखकुमार ने मणिशेखर के यहां रहकर बहुत दिनों तक उसका आतिथ्य ग्रहण किया। इसके बाद जब उन्होंने वहाँ से प्रस्थान करने की इच्छा प्रकट की, तब मणिशेखर आदि अनेक विद्याधर अपनी अपनी कन्याओं को साथ लेकर उन्हें चम्पानगरी तक पहुँचाने आये।

चम्पानगरी में जब राजा जितारी ने यह सब हाल सुना, तो वे आनन्द से फूल उठे। उन्हें स्वप्न में भी अब आशा न थी कि वे अपनी प्राणाधिक पुत्री को पुनः देख सकेंगे। वे अपने मुख्य राजकर्मचारियों को साथ ले, नगर के बाहर पहुँचे और बड़ी धूम के साथ शंखकुमार तथा यशोमती आदि को नगर में ले आये। शीघ्र ही शुभमुहूर्त में उन्होंने आनन्द पूर्वक उन दोनों का विवाह कर दिया। इसके बाद अन्यान्य विद्याधरों की कन्याओं से भी शंखकुमार ने विवाह किया। विवाहोत्सव पूर्ण होने पर श्रीवासुपूज्य भगवान के चैत्य की भक्तिपूर्वक यात्रा कर शंखकुमार हस्तिनापुर लौट आये।

इधर आरण देवलोक से च्युत होकर पूर्व जन्म के सूर और सोम नामक दोनों भाई इस जन्म में भी शंखकुमार के यशोधर और गुणधर नामक दो लघु बन्धु हुए। कुछ दिनों के बाद राजा श्रीषेण ने शंखकुमार को अपने राजसिंहासन पर बैठाकर, गुणधर नामक गणधर के पास जाकर दीक्षा ले ली। दीक्षा लेने के बाद उन्होंने बहुत दिनों तक उग्र तपस्या की। अन्त में जब उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ, तब एक दिन देवताओं के साथ विहार करते हुए वे हस्तिनापुर आ पहुँचे। वनपाल के मुख से केवली भगवान का आगमन सुनकर शंख राजा ने उनकी

सेवा में उपस्थित हो उन्हें भक्ति पूर्वक वन्दन कर, उनका धर्मोपदेश सुना। धर्मोपदेश सुनने के बाद उन्होंने कहा—‘हे भगवान्! जैन धर्म के प्रभाव से यह बात मैं भली भांति समझ गया हूँ कि इस संसार में कोई किसी का सगा-या संबंधी नहीं है। फिर भी मुझे इस यशोमती पर इतना ममत्व क्यों है, यह मैं जानने के लिये बहुत उत्सुक हो रहा हूँ।’

केवली भगवान ने कहा—‘हे राजन्! यशोमती पहले जन्म में तुम्हारी धनवती नामक स्त्री थी। इसके बाद सौधर्म देवलोक में तुम दोनों को देवत्व की प्राप्ति हुई और वहाँ भी तुम दोनों में बड़ा प्रेम रहा। फिर चित्रगति के जन्म में वह रत्नवती के नाम से तुम्हारा पत्नी हुई। वहाँ से माहेन्द्र देवलोक में पहुँच कर तुम दोनों देवता हुए। उसके बाद जब तुमने अपराजित के नाम से जन्म लिया, तब वह प्रीतिमती के नाम से तुम्हारी स्त्री हुई। वहाँ से तुम दोनों आरण देवलोक में पहुँचे और वहाँ एक दूसरे के मित्र हुए। वहाँ से च्युत होने पर सातवें जन्म में तुम शंखकुमार हुए और वह यशोमती के नाम से तुम्हारी पत्नी हुई। इन्हीं संबंधीयों के कारण उस पर तुम्हारा अधिक प्रेम है।

‘अब तुम यहाँ से अपराजित नामक अनुत्तर विमान में जाओगे, और वहाँ से च्युत होने पर तुम भरत क्षेत्र में नेमिनाथ नामक बाईसवें तीर्थकर होगे और यह यशोमती राजीमती के नाम से जन्म लेगी। उस जन्म में तुम इससे विवाह नहीं करोगे, फिर भी वह तुम पर अनुराग रखेगी और तुम्हारे पास दीक्षा ग्रहण कर परमपद प्राप्त करेगी।’

केवली भगवान के यह वचन सुनकर शंखकुमार को वैराग्य आ गया और उन्होंने अपने पुण्डरीक नामक पुत्र को अपना राज्य सौंपकर केवली भगवान के निकट दीक्षा ले ली। उनके दोनों लघु बन्धु, मन्त्री और रानी यशोमती ने भी उनका अनुकरण किया, यानी उन लोगों ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली।

दीर्घकाल तक जप तप करने के बाद शंखकुमार गीतार्थ हुए। उसके बाद अरिहन्त भक्ति तथा वीस स्थानकों की आराधना करने से उन्होंने तीर्थकर नामकर्म उपार्जन किया। अन्त में पादोपगमन अनशन कर प्रतापी शंखमुनि ने अपराजित विमान प्राप्त किया। यथा विधि जप तप करने के बाद यशोमती आदि भी उसी विमान के अधिकारी हुए।

पाँचवाँ परिच्छेद हरिवंश और नवाँ जन्म



इस भरत क्षेत्र के वत्स नामक देश में कौशाम्बी नामक एक नगरी थी। उसमें सुमुख नामक राजा राज्य करता था। उसने वीर नामक एक वरुण बुननेवाले की स्त्री का अपहरण कर उसे अपनी रानी बना लिया था। वीर के लिए अपनी पत्नी का वियोग असह्य हो गया और वह उसीके दुःख से पागल हो चारों ओर इधर उधर भटकने लगा। एक दिन राजा सुमुख और उनकी उस रानी की दृष्टि उस पर जा पड़ी। इससे वे दोनों संवेग को प्राप्त हुए। इतने ही में अचानक बिजली गिरने से उन दोनों की मृत्यु हो गयी। मृत्यु के बाद वे दोनों हीरवर्ष क्षेत्र में युगलिक के रूप में उत्पन्न हुए।

उधर वीर भी अज्ञानतापूर्वक कष्ट सहन कर सौधर्म देवलोक में किल्बिष देव हुआ। पूर्व जन्म के द्वेष से वह उन दोनों का हरणकर चम्पा नगरी में ले गया। वहाँ पर राजा चन्द्रकीर्ति की मृत्यु हो गयी थी। उसके कोई उत्तराधिकारी न था, इसलिये उसने उन दोनों को उसका राज्य दे दिया। साथ ही उसने अपनी देवशक्ति से उनकी आयु घटा दी, उनके शरीर पाँच सौ धनुष परिमाण बना दिये, उनके नाम हरि और हरिणी रख दिये और उन्हें मद्यमांसादिक भक्षण करना सीखा दिया। इतना करने के बाद वह किल्बिष देव अपने वासस्थान को चला गया। कालान्तर में उन्हीं दोनों से हरिवंश की उत्पत्ति हुई।

सौवीर देश में यमुना नदी के तटपर मथुरा नामक एक नगरी थी। वहाँ पर किसी समय हरिवंश कुलोद्भवा वसुराजा के पुत्र राजा बृहद्ध्वज के बहुत दिन बाद उसी कुल में यदु नामक एक राजा हुआ। उसके शूर नामक एक पुत्र

था। शूर के शौरि और सुवीर नामक दो पुत्र हुए यथा समय शौरि को अपना राज्यासन और सुवीर को युवराज पद देकर शूर राजा ने दीक्षा ले ली। कुछ दिनों के बाद मथुरा का राज्य सुवीर को देकर शौरि कुशात्तदेश को चला गया और वहां पर उसने शौर्यपुर नामक एक नगर बसाया।

शौरि राजा के अन्धकवृष्णि और सुवीर के भोजवृष्णि आदि कई भाग्यशाली पुत्र हुए, जिन्होंने संसार में बड़ी नामना प्राप्त की। कुछ दिनों के बाद मथुरा का राज्य भोजवृष्णि को देकर सुवीर सिन्धु देश को चला गया और वहां सौवीरपुत्र नामक नगर बसाकर वहाँ उसने निवास किया। शौरि राजा ने अन्धक वृष्णि को अपना राज्य देकर सुप्रतिष्ठ मुनि के पास दीक्षा ले ली और बहुत दिनों तक जप तप कर वह मोक्ष का अधिकारी हुआ।

यथा समय भोजवृष्णी के उग्रसेन नामक पुत्र हुआ और अन्धक वृष्णि के सुभद्रा देवी से दस पुत्र हुए जो समुद्रविजय, अक्षोभ्य, स्तिमित सागर, हिमवान, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र और वसुदेव आदि नाम से प्रसिद्ध हुए। ये दस भाई संसार में दशार्ह नाम से भी सम्बोधित किये जाते थे। उनके कुन्ती और माद्री नामक दो छोटी बहनें थीं। कुन्ती का विवाह राजा पाण्डु और माद्री का विवाह राजा दमघोष के साथ हुआ था।

एक दिन राजा अन्धकवृष्णि ने सुप्रतिष्ठ नामक अवधि ज्ञानी मुनि से पूछा—“हे स्वामिन्! मेरा दसवाँ पुत्र वसुदेव इतना रूपवान, गुणवान और भाग्यशाली क्यों है? यही सब बातें उसके दूसरे भाईयों में क्यों नहीं पायी जाती?”

सुप्रतिष्ठ मुनि ने कहा:—“हे राजन्! इसका एक कारण है जो मैं तुझे बतलाता हूँ। सुनो,

“वसुदेव का पूर्व भव”

एक समय मगध देश के नन्दी ग्राम में एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नामक सोमिला और उसके पुत्र का नाम नन्दिषेण था। नन्दिषेण का भाग्य बहुत ही मंद था। इसलिए बाल्यावस्था में ही उसके माता पिता का देहान्त हो गया। नन्दिषेण कुरूप था, और उसके राशीग्रह भी खराब थे, इसलिए अन्याय रिश्तेदारों ने भी उसका त्यागकर दिया। लाचार, नन्दिषेण

मेहनत मजदूरी कर किसी तरह अपना पेट भरने लगा। उसकी यह दुरावस्था देखकर एक दिन उसके मामा को उस पर दया आ गयी और वह उसे अपने घर लेकर गया। उसके सात कन्याएँ थी, जिनकी अवस्था विवाह करने योग्य हो चुकी थी। उसने नन्दिषेण से कहा—“इनमें से सब से बड़ी कन्या का विवाह मैं तुम्हारे साथ कर दूँगा। तुम आनन्द से घर में रहो और घर का कामधन्धा देखो!”

विवाह के इस प्रलोभन से नन्दिषेण प्रसन्न हो उठा और घर के छोटे बड़े सभी काम बड़े चाव से करने लगा। परन्तु उस के मामा की बड़ी कन्या को जब यह बात मालूम हुई, तो वह कहने लगी कि पिताजी यदि मेरा विवाह नन्दिषेण से करेंगे, तो मैं आत्महत्या कर अपना प्राण दे दूँगी। उसकी इस प्रतिज्ञा से नन्दिषेण की आशा पर पानी फिर गया। फलतः वह बहुत उदास रहने लगा। उसकी यह अवस्था देखकर उसके मामा ने कहा—“हे नन्दिषेण! तुझे उदास होने की जरूरत नहीं। यदि मेरी पहली कन्या तुझ से विवाह नहीं करेगी, तो मैं दूसरी कन्या से तेरा विवाह कर दूँगा।” परन्तु एक के बाद एक-सभी कन्याओं ने इसी तरह की प्रतिज्ञा कर ली। किसी को भी कुरूप नन्दिषेण से विवाह करना मंजूर न था। यह देखकर उसके मामा ने कहा—“हे नन्दिषेण! मेरी कन्याएँ तुझ से विवाह नहीं करना चाहती तो कोई हर्ज नहीं, मैं किसी दूसरे की कन्या से तेरा विवाह करवा दूँगा।”

इस प्रकार नन्दिषेण के मामा ने तो उसे बहुत सान्त्वना दी, परन्तु नन्दिषेण अपने मन में कहने लगा कि “जब मेरी कुरूपता के कारण मामा की ही कन्याएँ मुझे नहीं चाहती और मुझसे दूर भागती हैं, तब दूसरे की कन्याओं का क्या भरोसा? मुझे अब वैवाहिक सुख की आशा ही न करनी चाहिए। यदि यह सुख मेरे भाग्य में लिखा होता, तो भगवान ने मुझे सुन्दरता और सौभाग्य भी दिया होता।”

इस तरह के विचार करते करते नन्दिषेण को वैराग्य आ गया और वह अपने मामा का काम छोड़कर रत्नपुर चला गया। वहाँ पर स्त्री-पुरुषों को क्रीड़ा करते देख वह पुनः अपनी निन्दा करने लगा। उसे अब अपना जीवन दुःखमय और असार मालूम होता था वह आत्महत्या करने के विचार से एक

उपवन में गया, किन्तु आत्महत्या करने के पहले ही वहाँ उसकी दृष्टि एक साधु पर जा पड़ी। उसने उनके पास जाकर उन्हें प्राणाम किया। उन मुनिराज का नाम सुस्थित था। उन्होंने अपने ज्ञान से उसकी आन्तरिक भावना समझ कर कहा—“हे भद्र! तुम्हें आत्महत्या न करनी चाहिए। दुःख का कारण तो अधर्म है, इसलिए यदि तुम सुख चाहते हो, तो तुम्हें धर्म की आराधना करनी चाहिए। आत्महत्या करने से सुख की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती।”

मुनिराज के यह वचन सुनकर नन्दिषेण को अपने कर्तव्य का ज्ञान हुआ और उसने आत्महत्या के विचार को जलाञ्जलि दे दी, उसने उसी समय उनके पास दीक्षा ले ली। कुछ दिनों के बाद जप तप के प्रभाव से वह गीतार्थ हो गया और उसने साधुओं की वैयावच्च—सेवा करने का अभिग्रह ग्रहण किया।

नन्दिषेण अपने इस अभिग्रह के अनुसार सभी तरह के साधुओं की वैयावच्च करता था और किसी भी कारण से कभी खिन्न या विचलित न होता था। उसकी यह कर्तव्यनिष्ठा देखकर एक दिन इन्द्र ने अपनी सभा में मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा की, परन्तु एक देवता को उनकी बातों पर विश्वास न हुआ और उसने नन्दिषेण की परीक्षा लेने का विचार किया। निदान, वह एक म्लान साधु का वेश धारण कर रत्नपुर के बाहर पड़ा रहा और एक दूसरा देवता साधु के ही वेश में नन्दिषेण के पास पहुंचा। उस समय नन्दिषेण पारणा कर रहा था। उसने ज्यों ही पहला ग्रास उठाया त्यों ही साधु वेशधारी उस देवता ने उसे पुकार कर कहा—“हे नन्दिषेण! तू वैयावच्च की प्रतिज्ञा कर इस समय भोजन कैसे कर रहा है? नगर के बाहर क्षुधा और तृषा से पीड़ित तथा अतिसार रोग से ग्रसित एक मुनिराज बैठे हुए कष्ट पा रहे हैं।”

साधु के यह वचन सुनकर नन्दिषेण ने भोजन को छोड़, उसी समय मुनिराज की वैयावच्च के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में वह उनके लिए शुद्ध जल की खोज करने लगा, परन्तु उसके इस कार्य में बाधा देने के लिए वह जहां जाता वहीं का जल वह देवता अनेषणीय (अशुद्ध) बना देता। इससे शुद्ध जल के प्राप्त करने में उसे बड़ी कठिनाई हुई, परन्तु अन्त में उसके तपोबल के कारण उस देवता का उद्योग निष्फल प्रमाणित हुआ और वह शुद्ध जल प्राप्त

कर किसी तरह मुनिराज की सेवा में पहुँचा।

परन्तु मुनिराज बना देव तो उसकी परीक्षा ले रहे थे। इसलिए वे उसे देखते ही आगबबूला हो उठे। उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा—“मैं इस अवस्था में यहां पर पड़ा हूँ। और तूने भोजन के चक्कर में पड़कर मेरी खबर तक न ली। जब तू शीघ्र ही नहीं आ सकता तब तूने यह व्रत क्यों ले रक्खा है? धीकार है, तुझे और तेरे इस वैयावच्च अभिग्रह को! क्या इसी तरह सब की वैयावच्च करता है।”

नन्दिषेण ने हाथ जोड़कर नम्रता पूर्वक कहा—“हे मुनिराज! मेरा यह अपराध क्षमा कीजिए। अब मैं आपकी सेवाशुश्रुषा में कोई कसर न रक्खूँगा। लीजिए यह शुद्ध जल ग्रहण कीजिए।

इतना कह नन्दिषेण ने उस मायावी मुनि को जलपान कराया। जलपान कराने के बाद उसने जब मुनिराज से उठने को कहा, तब मुनिराज ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा:—“हे मूर्ख क्या तुझे दिखायी नहीं देता कि मैं चलने फिरने में असमर्थ हूँ।”

मायावी मुनि के यह वचन सुनकर नन्दिषेण ने उसे अपने कन्धे पर बैठा लिया। परन्तु कन्धे पर बैठ के आगे चलते समय मायावी मुनि पद पद पर उसकी भर्त्सना करने लगे। वे कहने लगे—“तू इतनी तेजी से क्यों चलता है? तेरी इस कठिन चाल से मेरे शरीर में धमक लगती है, फलतः मुझे कष्ट होता है। यदि तू मेरी वैयावच्च करना चाहता है, तो धीरे धीरे चल, वरना मुझे यहीं पर उतार दे।”

यह सुनकर नन्दिषेण बहुत धीरे धीरे चलने लगा, परन्तु कुछ दूर आगे बढ़ते ही मायावी मुनि ने उसके शरीर पर मलत्याग कर दिया। नन्दिषेण को इससे जरा भी दुःख न हुआ। वह पूर्ववत् उन्हें अपने कन्धे पर लिये ही लिये आगे बढ़ा और रास्ते में केवल इसी बात पर विचार करता रहा कि किस प्रकार इनकी सेवाशुश्रुषा कर उन्हें रोग मुक्त करना चाहिए।

नन्दिषेण की यह कर्त्तव्यनिष्ठा देखकर वह देवता उस पर प्रसन्न हो उठा। उसने नन्दिषेण के शरीर की विष्टा दुरकर उन पर पुष्पवृष्टि की। इसके बाद उसने तीन बार नन्दिषेण की प्रदक्षिणा कर उन्हें प्रणाम किया और इन्द्रसभा में

उनकी जो प्रशंसा सुनी थी, वह उन्हें कह सुनायी। अन्त में उसने नन्दिषेण मुनि के निकट क्षमा प्रार्थना करते हुए कहा—“हे मुनिराज! आप मेरा अपराध क्षमा कीजिए और बतलाइए कि आप मुझसे क्या चाहते हैं? आप जो चाहें वह मैं आपको दे सकता हूँ।”

मुनि ने उत्तर दिया—“हे देव! संसार में धर्म ही परम दुर्लभ है, किन्तु मैं उसे प्राप्त कर चुका हूँ। धर्म के सिवा अब और कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसकी मैं याचना करूँ और आप मुझे दे।”

नन्दिषेण मुनि के यह वचन सुन, वह देवता अत्यन्त प्रसन्न हुआ और मन ही मन उनकी प्रशंसा कर अपने वासस्थान को चला गया। इस घटना के बाद नन्दिषेण मुनि ने बारह हजार वर्ष तक कठिन तप किया और अन्त में अनशन कर उन्होंने अपना प्राण त्याग दिया। मृत्यु के समय उन्होंने यह सोचा कि इस तप के प्रभाव से दूसरे जन्म में मैं स्त्रियों का प्यारा बन सकूँ। मृत्यु के बाद वे महाशुक्र देवलोक में देवता हुए और वहां से च्युत होकर वे ही वसुदेव नामक तुम्हारे पुत्र हुए हैं। अपनी अन्तिम इच्छा के कारण उन्होंने इस जन्म में रूप, गुण और सौभाग्य प्राप्त किया है। वे अपने इन गुणों के कारण स्त्रियों का हृदय अनायास जीत सकते हैं और उनके वल्लभ बन सकते हैं।

सुप्रतिष्ठ मुनि के यह वचन सुनकर राजा अन्धक वृष्णि को बहुत ही आनन्द हुआ। उन्होंने समुद्रविजय को अपना समूचा राज्यभार सौंपकर मुनिराज के निकट दीक्षा ले ली। अन्त में वे मोक्ष के अधिकारी हुए। राजा भोजवृष्णि ने भी उनका अनुकरण किया। उनके बाद उग्रसेन मथुरा का राजा और धारिणी उनकी पटरानी हुई।



छठा परिच्छेद कंस का जन्म



एक दिन राजा उग्रसेन बगीचे की सैर करने जा रहे थे। उस समय उन्होंने मार्ग में एक मासीपवासी तापस को देखा। उस मुनि ने यह व्रत ले रक्खा था कि मैं पारणे के दिन केवल एक ही घर की भिक्षा ग्रहण करूँगा, दूसरे घर की नहीं। इस नियमानुसार वह प्रतिमास केवल एक ही बार भिक्षा माँगने निकलता और एक घर में जो कुछ मिल जाता, उसी से पारणा कर वह पुनः अपने वासस्थान को लौट जाता। दूसरे घर में वह कभी भिक्षा नहीं माँगता था।

राजा उग्रसेन ने उस तापस को देखकर उसे अपने यहां भोजन करने निमन्त्रण दे दिया। तापस निमन्त्रण स्वीकार कर यथासमय राजा के यहां आया, परन्तु राजा निमन्त्रण की बात बिल्कुल ही भूल गये थे, इसलिए राज मन्दिर में किसी ने उनका भाव भी न पूछा और वह बिना भोजन किये ही अपने वासस्थान को लौट गया। वहाँ पहुँचने पर उसने पारणे किये बिना ही दूसरे मास का उपवास आरम्भ कर दिया।

दूसरे महीने में पुनः राजा उग्रसेन एक दिन उधर से जा निकले। तापस को देखकर उन्हें उसके निमन्त्रण की बात याद आ गयी। उन्होंने उसके पास जाकर अपनी इस भूल के लिए बहुत ही नम्र शब्दों में उससे क्षमा प्रार्थना की और पुनः पारणे के दिन अपने यहां भोजन के लिए उसे निमन्त्रित किया। परन्तु पहले की भांति वे फिर यह बात भूल गये और तापस को बिना भोजन किये ही वापस लौट जाना पड़ा ज्यों ही राजा को अपनी यह भूल मालूम हुई, त्यों ही वे फिर उस तापस के पाय गये और अपनी भूल के लिए क्षमा प्रार्थना

की। इसके बाद उन्होंने फिर पारणे के दिन अपने यहां भोजन करने के लिए उस तापस को निमन्त्रण दिया, किन्तु इस बार निमन्त्रण की बात सुनकर तापस को उस पर क्रोध आ गया। उसने निमन्त्रण अस्वीकारकर यह नियाणा किया है—“इस तप के प्रभाव से जन्मान्तर में मेरे ही हाथों से इसकी मृत्यु हो!

इसके बाद अनशन कर उस तापस ने प्राण त्याग दिया और राजा उग्रसेन के यहां रानी धारिणी के उदर से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। गर्भकाल में गर्भ के प्रभाव से रानी धारिणी को अपने पति का मांस खाने की इच्छा उत्पन्न हुई, परन्तु यह दोहद ऐसा था, जिसे प्रकट करना भी कठिन था। निदान, दिन प्रतिदिन उसका शरीर क्षीण होने लगा। उसकी यह अवस्था देखकर राजा उग्रसेन ने जब उससे अत्यन्त आग्रह पूर्वक पूछताछ की, तब उसने उन्हें अपने इस दोहद का हाल कह सुनाया।

राजा उग्रसेन उसे सुनकर बड़ी चिन्ता में पड़ गये। उन्होंने वह समाचार अपने मन्त्रियों से कहा। मन्त्रियों ने इसके लिए एक उपाय सोच निकाला। उन्होंने राजा को अंधेरे में बिठाकर उनके पेट पर खरगोश का मांस बांध दिया और बाद में वही मांस रानी के सामने काट-काटकर उसको खाने के लिए दिया गया। यह मांस खाने से जब रानी का दोहद पूर्ण हो गया तब वह अपने मूल स्वभाव में आ गयी और पश्चात्ताप करती हुई कहने लगी कि—“हे देव! मैंने यह क्या किया? पति के बिना मेरा जीवन ही व्यर्थ है। उनके बिना यह गर्भ भी बेकार है। अब मैं अवश्य ही अपना प्राण दे दूंगी।”

इतना कह रानी धारिणी ने चिता रूढ़ हो प्राण त्याग करने की तैयार की, किन्तु इसी समय मन्त्रियों ने उसके पास आकर कहा—“हे रानी जी! आप धैर्य धारण करें। हम सात दिन मैं किसी-न-किसी तरह महाराज को स्वस्थ कर आप को दिखा दूंगे।”

मन्त्रियों की इस सान्त्वना से रानी ठहर गयी। सातवें दिन उन्होंने अपने वचनानुसार राजा उग्रसेन ने उसकी भेंट करा दी। राजा को जीवित देखकर उसे बहुत ही आनन्द हुआ और उसने इसी उपलक्ष में एक उत्सव भी मनाया।

इसके बाद गर्भकाल पूर्ण होने पर पौष कृष्ण चतुर्दशी को चन्द्र के मूल नक्षत्र में रात्रि के समय रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। परन्तु गर्भकाल के

अपने विचित्र दोहद के कारण रानी पहले से ही उस पुत्र से डर गयी थी, इसलिए उसका जन्म होते ही उसने उसे कांसे की एक सन्दूक में बन्द कर, उसमें राजा तथा अपने नाम की मुद्रिकाएँ तथा पत्र रख, उसे एक दासी द्वारा यमुना नदी में फिँकवा दिया। यह समाचार राजा उग्रसेन को मालूम न हो सका। रानी ने उनसे कहला दिया कि पुत्र का जन्म होते ही उसकी मृत्यु हो गयी और राजा ने भी इसे सच मान लिया।

उधर वह सन्दूक पानी में बहती हुई शौर्यपुर के निकट जा पहुँची वहाँ सुभद्र नामक एक व्यापारी ने, जो शौचकर्म के लिए वहाँ गया था, उस सन्दूक को देखा। उसने तुरन्त उसे बाहर निकाल, उसे खोलकर देखा तो उसमें से राजा रानी के नाम की दो मुद्रिकाएँ, वह पत्र और बालचन्द्र के समान उस बालक को पाया। उस वणिग की पत्नी मृतवत्सा थी। उसके बच्चे न जीते थे, इसलिए उस बच्चे को वह आनन्दपूर्वक अपने घर ले गया। वणिग पत्नी भी उस रूपवान बालक को देखकर प्रसन्न हो उठी। उन दोनों ने बड़े प्रेम से उस बच्चे को रख लिया और सुभद्र नाम कंस रक्खा।

कंस जब बड़ा हुआ तो वंश बड़ा ही उत्पाती निकला। वह मौहल्ले के समस्त बालकों से झगड़ा और मारपीट करता। उससे आधे दिन सुभद्र को उलाहने मिलने लगे। धीरे धीरे कंस की अवस्था दस वर्ष की हुई, परन्तु इतने ही समय में उसके उत्पातों के कारण उसके पालक माता पिता की नाकों में दम आ गया। अन्त में उससे आजिज आकर सुभद्र ने वसुदेव कुमार के यहाँ उसे नौकर रखवा दिया। यहाँ पर कंस का सितारा चमका। वह वसुदेव कुमार का प्रिय पात्र बन गया वसुदेव के साथ ही खेलते वह यौवनावस्था को प्राप्त हुआ वे दोनों एक राशि में स्थित सोम और मंगल की भाँति शोभा देने लगे।

उधर शुक्तिमती नगरी में वसुराजा के पुत्र सुवसुराज राज्य करते थे, परन्तु किसी कारणवश वहाँ से भागकर वे नागपुर में जा बसे। वहाँ पर उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम बृहद्रथ रक्खा गया। वह बड़ा होने पर राजगृह में जा बसा। वहाँ उसके वंश में जयद्रथ नामक एक राजा हुआ। उसके बराक्षंध नामक एक प्रति वासुदेव पुत्र था। वह तीनों खण्ड का स्वामी और परम प्रतापी था। एक दिन उसने किसी दूत द्वारा राजा समुद्रविजय को कहला

भेजा कि वैताढ्य पर्वत के पास सिंहपुर नगर में सिंहरथ नामक एक राजा राज करता है। वह बड़ा अभिमानी है, इसलिये जो कोई उसे बन्दी बना कर यहां ले आयगा उसे मैं अपनी जीवयशा नामक पुत्री और एक अच्छा सा नगर जागीर में दूँगा।

जरासन्ध का आदेश अमान्य करना कोई सहज काम न था, इसलिए दूत के मुख से यह सन्देश सुनते ही समुद्रविजय की राज सभा में खलबली मच गयी। सिंहरथ को बन्दी बनाना उतना ही कठिन था, जितना एक जहरीले सांप को वश करना। फिर भी वसुदेव ने इसका बीड़ा उठाकर अपने बड़े भाई से सिंहपुर जाने की आज्ञा मांगी। समुद्रविजय ने कहा—“हे भाई! तुम अभी सुकुमार हो। रणक्षेत्र अभी तुम ने आँखों से भी नहीं देखा। वहां तो खून की नदी बहानी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में तुम्हारा वहां जाना उचित नहीं।”

परन्तु वसुदेव को तो अपना बाहुबल और रणकौशल दिखाने का हौसला था, इसलिए उसने वारंवार बड़े भाई से आग्रह पूर्वक अनुरोध किया। उसके इस उत्साह के सामने अन्त में समुद्र विजय को झुकना ही पड़ा। उन्होंने एक बहुत बड़ी सेना के साथ उसे प्रस्थान करने की आज्ञा दे दी। बस, फिर क्या था, रणभेरी बज उठी और कंस के साथ वसुदेव सिंहपुर की ओर चल पड़े।

थोड़ी ही दिनों में यह सब दल सिंहपुर जा पहुँचा। शत्रुसेना के आगमन का समाचार मिलते ही राजा सिंहरथ भी सिंह की भांति सिंहपुर से बाहर निकल आया। वहां दोनों दलों में धमासान युद्ध हुआ। सिंहरथ की सेना वसुदेव की सेना से अधिक बलवान थी, इसलिए थोड़ी ही देर में वसुदेव की सेना के पैर उखड़ गये। वसुदेव ने रंग बदलते देखकर कंस को अपना सारथी बना कर बड़े जोर से युद्ध करना आरम्भ किया। सिंहरथ ने भी दृढ़ता—पूर्वक उठकर उससे लोहा लिया। दोनों एक दूसरे से बढ़कर बलवान थे, इसलिए इस युद्ध में विजय लक्ष्मी किस को वरण करेगी, यह कहना कठिन हो गया।

परन्तु कंस की नसों में भी क्षत्रिय का खून जोश मार रहा था। वसुदेव का सारथी बनकर केवल रथ हांकना और युद्ध में भाग न लेना वह भला कब पसन्द कर सकता था? मौका मिलते ही रथ से कूदकर एक मुद्गर द्वारा उसने

सिंहरथ का रथ चूर चूर कर डाला। सिंहरथ ने भी कंस को मारने के लिए तलवार खींच ली, किन्तु उसी समय वसुदेव ने एक ऐसा भाला मारा कि वह तलवार तुरन्त भूठ से अलग हो गयी। अब सिंहरथ को बन्दी बनाना सहज हो गया। कंस ने छल और बल द्वारा उसे पकड़कर तुरन्त उसके हाथ पैर बांध दिये और उसे उठाकर वसुदेव के रथ में डाल दिया। सिंहरथ की यह अवस्था होते ही उसकी सेना भी भाग खड़ी हुई। वसुदेव और कंस विजय का डंका बजाते हुए सिंहरथ के साथ अपने नगर को लौट आये।

राजा समुद्रविजय अपने भाई का यह पराक्रम देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। किन्तु उन्होंने वसुदेव को एकान्त में बुलाकर कहा कि—“कोष्टिक नामक एक निमित्त ज्ञानी ने मुझ से कहा है कि जरासन्ध ने सिंहरथ को बन्दी बनाने वाले से अपनी कन्या का विवाह कर देना घोषित किया है, परन्तु उसके लक्षण अच्छे नहीं है। यह पति और पिता दोनों कुलों का क्षय करेगी। इसलिए यदि जरासन्ध तुम से उसका विवाह करना चाहे, तो तुम वह भूलकर भी स्वीकार न करना।”

भाई के यह वचन सुनकर वसुदेव कहा—“सिंहरथ का बन्दी बनाने का श्रेय वास्तव में कंस को ही है, इसलिए जीवयशा से उसी का ब्याह करा देना चाहिए जरासन्ध दहेज में जो वस्तु दे वह भी उसी को दे देना चाहिए।”

वसुदेव का यह विचार राजा को पसन्द आ गया, परन्तु उन्होंने कहा कि कंस तो जाति का वणिक है, इसलिए जरासन्ध उससे अपनी कन्या का विवाह न करेगा।

वसुदेव ने कहा—“आप का कहना ठीक है, परन्तु मुझे तो कंस वणिक प्रतीत नहीं होता। अपने कार्यों से तो वह क्षत्रिय ही मालूम होता है।”

अंत में राजा ने उसके पालक पिता को बुलाकर उससे कंस का हाल पूछा। उसने कंस के सामने ही सब सच्चा हाल कह सुनाया और प्रमाण स्वरूप वह दो मुद्रिकाएं तथा पत्र भी लाकर राजा को दिखाया। उस पत्र में कंस के जन्म का सब हाल लिखा हुआ था। उसे पढ़कर सबको विश्वास हो गया कि कंस वणिक नहीं, बल्कि यदुवंशी राजा उग्रसेन का पुत्र है।

इसके बाद राजा समुद्रविजय ने सिंहरथ को जरासन्ध के हाथों में सौंप दिया। साथ ही उसे कंस की वीरता का सारा वृत्तान्त भी कह सुनाया। जरासन्ध उसे सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसने जीवयशा का विवाह कंस के साथ कर दिया। पाठकों को स्मरण होगा कि जरासंध ने विजेता को मन पसन्द नगरी भी देने को कहा था। कंस अपने पिता से असन्तुष्ट हो गया था। इसलिए उसने जरासन्ध से मथुरा नगरी की याचना की। जरासन्ध ने उसकी यह इच्छा भी पूर्ण कर दी। कंस का मनोरथ पूर्ण हो गया। अब वह वणिक पुत्र मिटकर राजवंशी बन गया।

मथुरा नगरी पुरस्कार में पाने के बाद कंस ने जरासंध से सेना लेकर अपने पिता उग्रसेन राजा पर आक्रमण कर दिया और अपने पिता उग्रसेन को गिरफ्तार कर एक पाँजड़े में बन्द कर दिया। उग्रसेन के अतिमुक्त नामक और भी एक पुत्र था, किन्तु उसे पिता की दुर्गति देखकर वैराग्य आ गया, अतः उसने दीक्षा ले ली। इसके बाद कंस ने शौर्यपुर से अपने पालक पिता सुभद्र को बुलाकर उसके निकट बड़ी कृतज्ञता प्रकट की और उसे स्वर्णादिक देकर बहुत सम्मानित किया।

एक दिन धारिणी रानी ने अपने पति को छोड़ देने के लिए कंस से बड़ी विनय अनुनय की, परन्तु उसका कोई फल न हुआ। जब कंस ने किसी तरह उग्रसेन को न छोड़ा तब रानी धारिणी कंस के मित्रों के यहाँ जा जाकर कहने लगी कि मैंने ही कंस को काँसे की सन्दूक में बन्दकर नदी में फेंकवा दिया था। राजा उग्रसेन को तो यह बात मालूम भी न थी। वे सर्वथा निरपराधी थे। वास्तविक अपराधिनी तो मैं ही हूँ, इसलिए कंस से कहिए कि जो दण्ड देना हो, वह मुझे दे और महाराज को बन्धन मुक्त कर दें।

कंस के मित्रों ने यह सब बातें कंस को बतलाकर उग्रसेन को बन्धन मुक्त कर देने के लिए उस पर बहुत जोर डाला। परन्तु पूर्वजन्म के निदान के कारण उसका कोई फल न हुआ। कंस के निकट जो कोई राजा उग्रसेन का नाम लेता, उससे भी कंस असन्तुष्ट हो जाता, इसलिए धीरे धीरे लोगों ने उस विषय की चर्चा भी करनी बन्द कर दी।

उधर सिंहरथ को बन्दी बनाने में यथेष्ट सहायता करने के कारण

जरासन्ध ने समुद्रविजय को भी खूब सम्मानित किया। वह जरासन्ध का आतिथ्य ग्रहण कर अपने नगर को लौट गया। इस विजय से वसुदेव की अच्छी ख्याति हो गयी। अब वह शौर्यपुर में जब जब घूमने निकलता, तब तब नगर की ललनाएँ सब काम छोड़कर उसे देखने के लिए दौड़ पड़ती और उसका अलौकिक रूप देखकर उस पर मुग्ध हो जाती। मन ही मन अपना तनमन उस पर न्यौछावर कर देती। कुछ दिनों के बाद चारों ओर इसके लिए कानाफूसी होने लगी। एक दिन नगर के महाजनों ने आकर राजा से एकान्त में कहा—“हे स्वामिन्! वसुदेव का रूप देखकर नगर की बहु बेटियों ने मान मर्यादा छोड़ दी है। जो स्त्री उसे एकबार देख लेती है, वह मानों उसके वश हो जाती है। फिर किसी काम में उसका जी नहीं लगता और वह उसी के पीछे पागल हो जाती है।”

महाजनों के यह वचन सुनकर राजा ने कहा—“हे महाजनों! आप लोग धैर्य धारण करे। मैं शीघ्र ही इसका कोई उपाय करूँगा।”

इस प्रकार महाजनों को सान्त्वा देकर राजा ने उन्हें विदाकर दिया और वसुदेव से इस बात का जिक्र तक न किया। कुछ दिनों के बाद एकदिन जब वसुदेव उन्हें प्रणाम करने आया तो उन्होंने बड़े प्रेम से उसे अपने पास बैठाकर कहा—“प्रिय भाई! आजकल तुम्हारा शरीर बहुत ही दुर्बल हो गया है? मैं समझता हूँ कि तुम सारा दिन नगर में घूमा करते हो, इसलिए ऐसा हुआ है। तुम अपना सारा समय राजमहल और राजसभा में ही बिताया करो तो अच्छा हो। मैं कुछ ऐसे कलाविद् मनुष्यों को प्रबन्ध कर दूँगा, जो तुम्हें कला की शिक्षा भी देंगे और अवकाश के समय तुम्हारा मनोरंजन भी करेंगे।”

वसुदेव बहुत ही नम्र और विवेकी था। उसने तुरन्त यह बात मान ली और दूसरे दिन से संगीत, नृत्य और विद्या-कला की चर्चा में अपना समय बिताने लगा। अपनी सरलता के कारण वह बिल्कुल न समझ सका, कि उस पर यह प्रतिबन्ध क्यों लगाया गया है।

परन्तु यह रहस्य अधिक दिनों तक छिपा न रह सका। महल के कई दास दासियों को महाजनों की शिकायत का हाल मालूम था और उन्हीं से इस गुप्त भेद का भंडाफोड़ हो गया। बात यह हुई कि एक दिन एक कुब्जा दासी

कुछ गन्ध-द्रव्य लिये आ रही थी। उस समय वसुदेव ने उसे रोक कर पूछा, कि—“यह गन्ध द्रव्य किसके लिए लायी हो? कुब्जा ने उत्तर दिया—“हे कुमार! यह गन्ध शिवादेवी ने समुद्र विजय के लिए भेजा है।”

“तब तो यह मेरे भी काम आयगा।” यह कहते हुए दिङ्गी के साथ वसुदेव ने उसे छीन लिया। छीनते ही वह दासी नाराज हो गयी। उसने धुड़क कर कहा—“तुम में यह कुलक्षण हैं, इसीलिए तो तुम बन्धन में पड़े हो!”

वसुदेव ने चौंकर पूछा—“बन्धन कैसा? क्या मैं किसी बन्धन में पड़ा हूँ?”

दासी पहले तो कुछ भयभीत हुई, किन्तु बाद में वसुदेव की बातों में आकर उसने महाजनों की शिकायत का सारा हाल उसे कह सुनाया। स्त्रियों के हृदय में छिपी बात अधिक समय तक रह ही कैसे सकती है?

वसुदेव ने उसे तो गन्ध द्रव्य देकर विदा कर दिया किन्तु वह स्वयं गहरी चिन्ता में पड़ गया। वह अपने मन में कहने लगा,—“मेरे बड़े भाई को शायद यह सन्देह हो गया है कि मैं स्त्रियों का ध्यान अपनी और आकर्षित करने के लिए ही नगर में घूमा करता हूँ और इसीलिए उन्होंने मुझे बाहर न जाने की सलाह दी है। यह बहुत ही बुरी बात है। ऐसी अवस्था में यहां रहना भी मेरे लिये अपमानजनक है!”

इस प्रकार विचारकर शाम के समय गुटिका द्वारा वेश बदलकर वसुदेव नगर के बाहर निकल गया। नगर के बाहर एक श्मशान था। वहां चिता तैयार कर उसने किसी अनाथ की लाश उसमें जला दी। इसके बाद स्वजनों को शान्त करने के उद्देश्य से एक कागज में दो श्लोक लिखकर उसे पास के खंभे में लटका दिया। वे श्लोक यह थे—

दोषत्वेनाभ्यधीयन्त, गुरूणां यद्गुणा जनेः ।
इति जीवन्मृतं मन्यो, वसुदेवेऽनलेऽविशत् ॥
ततः सन्तमसन्तं वा, दोषं मे स्ववितर्कितम् ।
सर्वे सहध्वं गुरवः, पौरलोकाश्च मूलतः ॥

अर्थात्—“गुरुजनों के समक्ष महाजनों ने गुणों को दोष रूप में प्रकट किये इसलिए मैंने अपने को जीवन्मृत मानकर अग्नि में प्रवेश कर लिया है।

अपनी धारणानुसार, मेरा दोष हो या न हो, किन्तु गुरुजन और नगरवासियों से मेरी यही प्रार्थना है, कि वे मेरा अपराध क्षमा करें और मुझे भूल जायें।”

इतनी कारवाई करने के बाद वसुदेव ब्राह्मण का वेश धारणकर वहां से एक और चल पड़े। मार्ग में उन्हें एक रथ मिला। उसमें कोई स्त्री बैठकर अपने माथके जा रही थी। उसने वसुदेव को देखकर अपने आदमियों से कहा— “मालूम होता है कि यह प्रवासी ब्राह्मण थक गया है। इसे अपने रथ में बैठा लो!” उसके यह वचन सुनकर उसके आदमियों ने वसुदेव को रथ पर बैठा लिया। इससे वसुदेव अनायास एक नगर में पहुँच गये। वहां भोजन और स्नानादि से निवृत्त हो, वे एक यक्ष के मन्दिर में चले गये और वहीं उन्होंने सुख पूर्वक वह रात्रि व्यतीत की।

इधर शौर्यपुर में चारों ओर यह बात फैल गयी कि, वसुदेव ने अग्नि प्रवेश कर अपना प्राण दे दिया है। यादवों को इस घटना से बहुत ही दुःख हुआ किन्तु इसे दैवेच्छा मानकर उन्होंने वसुदेव की उत्तर क्रिया कर दी। वसुदेव यह समाचार सुनकर निश्चिन्त हो गये। उन्हें विश्वास हो गया कि अब कोई उनकी खोज न करेगा। दो एक दिन के बाद वे उस नगर से विजयखेट नामक नगर को चले गये।

विजयखेट के राजा का नाम सुग्रीव था। उसके श्यामा और विजयसेना नामक दो कन्याएँ थीं। वसुदेव ने कलाकौशल में उन्हें पराजित कर उनसे विवाह कर लिया। विवाह के बाद वे बहुत दिन तक ससुराल में मौज करते रहे। इसी समय विजयसेना के उदर से उन्हें अक्रूर नामक एक पुत्र भी हुआ। वह बहुत ही रूपवान् बालक था। कुछ दिन उसकी भी बालक्रीड़ा देखने के बाद वसुदेव ने वहां से दूसरे नगर के लिए प्रस्थान किया।

मार्ग में वसुदेव को एक बड़ा भारी जंगल मिला। वहां उन्हें प्यास लगी। इसलिए वे जल की तलाश करते हुए जलावर्त्त नामक एक सरोवर के तट पर जा पहुँचे। उस समय एक जंगली हाथी ने उन पर आक्रमण कर दिया, किन्तु वसुदेव ने अविचलित होकर भृगोन्द्र की भांति उससे युद्ध कर उस पर विजय प्राप्त की। इसके बाद मौका मिलते ही वे उस पर सवार हो गये। इसी समय कहीं से अर्चिमाली और पवनंजय नामक विद्याधर उधर आ निकले। वे

वसुदेव को हाथी पर बैठे देखकर उन्हें कुञ्जरावर्त उद्यान में उठा ले गये। वहां विद्याधरों के राजा अशनिवेग ने अपनी श्यामा नामक कन्या से उनका विवाह कर दिया। वसुदेव अब वहीं पर आनन्द पूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगे।

वसुदेव की यह पत्नी वीणा बजाने में बहुत ही निपुण थी। उसकी इस कला से प्रसन्न हो वसुदेव ने उसे वर मागने को कहा। इस पर श्यामा ने कहा—“यदि आप वास्तव में प्रसन्न है और मुझे मनवांछित वर देना चाहते हैं, तो मुझे ऐसा वर दीजिए कि आपका और मेरा कभी वियोग न हो।”

वसुदेव ने कहा—“तथास्तु-ऐसा ही होगा, किन्तु हे सुन्दरी। यह तो बताओ कि तुमने क्या सोचकर यह वर मांगा है ? तुम इससे अच्छा कोई और वर भी मांग सकती थी।”

श्यामा ने कहा—“नाथ! अवश्य ही यह वर मांगने का एक खास कारण है। वह मैं आपको बतलाती हूँ, सुनिये। अर्चिमाली नामक एक राजा था। उसके ज्वलनवेग और अशनिवेग नामक दो पुत्र थे। ज्वलनवेग को अपना राज्यभार सौंपकर अर्चिमाली ने दीक्षा ले ली। कुछ दिनों के बाद ज्वलनवेग की विमला नामक रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नामक अंगारक रक्खा गया। मैं अशनिवेग की पुत्री हूँ। मेरी माता का नाम सुप्रभा था। कुछ दिनों के बाद ज्वलनवेग अपने भाई अशनिवेग को अपना राज्य देकर स्वर्ग चले गये। अंगारक को यह अच्छा न लगा और उसने अपनी विद्या के बल से अशनिवेग को बाहर निकाल कर राज्य पर अधिकार जमा लिया।

इस घटना से खिन्न हो मेरे पिता अष्टापद पर्वत पर चले गये। वहां पर अंगिरस नामक एक चारणमुनि ने उनकी भेंट हो गयी। उन्होंने उससे पूछा—“हे मुनिराज! मेरा राज्य मुझे कभी वापस मिलेगा या नहीं?”

मुनिराज ने कहा—“तुम्हारा राज्य तुम्हें अवश्य वापस मिलेगा, किन्तु वह तुम्हारे दामाद की सहायता से मिलेगा।”

इसपर मेरे पिता ने पुनः पूछा—“हे मुनिराज! क्या आप दया कर यह भी बतला सकते हैं कि मेरा दामाद कौन होगा?”

मुनिराज ने कहा—“जो जलावर्त के पास हाथी को जीतेगा, वही तुम्हारा दामाद होगा। यही उसकी पहचान है।”

मुनिराज के इन वचनों पर विश्वास कर मेरे पिता यहां पर चले आये। उसी समय से यह नगर बसाकर वे यहां पर निवास करते हैं। आप की खोज में वे प्रतिदिन जलावर्त्त पर दो विद्याधरों को भेजा करते थे। जिस दिन आपने उसे पराजित कर उस पर सवारी की, उस दिन वे आप को पहचान कर यहां पर ले आये और इसीलिए मेरे पिता ने आपके साथ मेरा विवाह कर दिया। मैं जानती हूँ कि अंगारक आप को यहां चैन से न बैठने देगा। साथ ही मुझे यह भी मालूम है कि धरणेन्द्र और विद्याधरों ने मिलकर यह निर्णय किया है कि आर्हत चैत्य के निकट और साधु के समीप अवस्थित स्त्री सहित इन्हें जो मारेगा, वह विद्या रहित हो जायगा। हे स्वामिन्! इन्हीं सब कारणों से मैंने यह वर मांगा है। मेरी धारणा है कि इससे अंगारक अब आप को अकेला न मार सकेगा।”

श्यामा के यह वचन सुनकर वसुदेव को बड़ा ही आनन्द हुआ। अब वे सुखपूर्वक वहीं रहते हुए अपने दिन निर्गमन करने लगे। एक दिन रात्रि के समय जब वे अपनी पत्नी के साथ सो रहे थे, तब अचानक वहां अंगारक आया और उन्हें उठाकर वहां से चल पड़ा। इससे तुरन्त वसुदेव की निद्रा भंग हो गयी। वे अपने मन में सोचने लगे कि मुझे यह कौन उठाये लिये जा रहा है? इतने ही में उन्हें हाथ में खड्ग लिये हुए श्यामा दिखायी दी। अंगारक ने उसे देखते ही अपनी तलवार से उसके दो टुकड़े कर डाले। यह हृदय विदारक दृश्य देखकर वसुदेव काँप उठे और उनसे मुख से एक चीख निकल पड़ी। किन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने देखा कि दो श्यामाएं दोनों और से अंगारक के साथ युद्ध कर रही हैं। यह देखकर वसुदेव ने समझा कि यह सब झूठी माया है। उन्होंने उसी समय अंगारक के शिर पर एक ऐसा घूंसा जमाया कि वह पीड़ा से तिलमिला उठा। उसने तुरन्त वसुदेव को छोड़ दिया। वसुदेव चम्पानगरी के बाहर एक सरोवर में जा गिरे, किन्तु सौभाग्यवश उन्हें कोई चोट न आयी। वे तैरकर उसके बाहर निकल आये। समीप में ही एक उपवन था। उसमें श्री वासुपूज्य भगवंत का चैत्य था। उसी में प्रवेश कर वसुदेव ने भगवंत की वन्दना की और वहीं पर वह रात बितायी।

सुबह एक ब्राह्मण से वसुदेव की भेंट हो गयी। वे उसके साथ चम्पानगरी में गये। वहां पर बाजार में वे जहां देखते वहीं उन्हें युवकगण वीणा बजाते हुए

दिखायी देते थे। इसलिए उन्होंने ब्राह्मण से उसका कारण पूछा। उसने बतलाया कि यहाँ चारुदत्त नामक एक सेठ है। उसके गन्धर्वसना नामक एक कन्या है जो रूप और गुण में अपना शानी नहीं रखती। उसने प्रतिज्ञा की है कि जो संगीतकला में और खासकर वीणा वादन में मुझे पराजित करेगा, उसी से मैं ब्याह करूंगी। इसीलिए यह सब युवक वीणा बजाने का अभ्यास कर रहे हैं। सुग्रीव और यशोग्रीव नामक दो प्रसिद्ध संगीताचार्य नियमित रूप से इन युवकों को संगीत की शिक्षा देते हैं। और प्रतिमास परीक्षा लेकर योग्यता की जांच भी करते हैं।”

ब्राह्मण से यह वचन सुनकर वसुदेव ब्राह्मण का वेश धारण कर सुग्रीव के पास गये।

उन्होंने उनसे कहा—“हे गुरुदेव! मैं बहुत दूर से आप का नाम सुनकर आप के पास आया हूँ। मेरा नाम स्कन्दिल, जाति ब्राह्मण और गोत्र गौतम है। गन्धर्व सेना को जीतने के लिए मैं आपके निकट संगीत सीखना चाहता हूँ। दयाकर मुझे भी आप अपनी शिष्य मण्डली में स्थान दीजिए!”

ब्राह्मण वेशधारी वसुदेव के यह वचन सुनकर संगीताचार्य सुग्रीव ने एक बार नीचे से ऊपर तक उसे देखा। उसका वेश देखकर उन्होंने मोटी बुद्धि से उसे मूर्ख समझ लिया और बड़े अनादर से उसे अपने पास रखवा। परन्तु वसुदेव ने इन सब बातों की कोई परवाह न की। वे ग्राम्य भाषा बोल बोलकर सारा दिन लोगों को हँसाते। अपना प्रकृत परिचय तो उन्होंने किसी को दिया ही नहीं। सब लोग उन्हें ग्रामीण और गँवार समझकर सदा उनकी दिल्लगी करते और उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते।

कुछ दिनों के बाद वाद विवाद का दिन आ पहुँचा। समस्त युवकों ने उत्तमोत्तम गहने कपड़े पहनकर सभास्थान की ओर जाने की तैयार की। वसुदेव के पास श्यामा का दिया हुआ एक ही वस्त्र था। सुग्रीव की पत्नी को यह बात मालूम थी, इसलिए उसने वसुदेव को पास बुलाकर बड़े प्रेम से उसे दो वस्त्र प्रदान किये। वसुदेव भी इन वस्त्रों को पहनकर सभा में जाने को तैयार हुए। उनका विचित्र वेश देखकर उनके सहपाठियों ने कहा—“आप हमारे साथ जरूर चलिए। गन्धर्व सेना बहुत करके तो आप के रूप पर ही मुग्ध हो जायगी

और यदि वैसा न हो तो आप उसे अपनी संगीतकला से जीत लीजिएगा।”

वसुदेव सहपाठियों की दिल्लीगी पर ध्यान न दे, वे उन्हें हँसाते हुए उनके साथ सभास्थान में पहुँचे। वहाँ भी उनके सहपाठियों ने उनकी दिल्लीगी कर उन्हें एक ऊँचे स्थान में बैठा दिया। यथा समय गन्धर्वसेना सभा में उपस्थित हुई। वाद विवाद आरंभ हुआ। सभा में देश विदेश के धुरन्धर संगीत शास्त्री उपस्थित थे। परन्तु गन्धर्वसेना ने सबको मात कर दिया। गाने, बजाने या संगीत विषयक वाद-विवाद करने में कोई भी उसके सामने न ठहर सका।

अन्त में वसुदेव की बारी आयी। गन्धर्व सेना ज्यों ही उनके सामने पहुँची। त्योंही उन्होंने अपना असली रूप प्रकट कर दिया। उनका यह रूप देखते ही गन्धर्व सेना उन पर मुग्ध हो गयी। यह देख उनके सहपाठियों पर तो मानों घड़ों पानी पड़ गया। जिसने वसुदेव का वह अलौकिक रूप देखा, उसीने दांतों तले अंगुली दबा ली। गन्धर्व सेना ने उनसे वीणा बजाने को कहा, किन्तु वसुदेव के पास वीणा न थी, इसलिए सभा के अनेक लोगों ने उन्हें अपनी वीणा दी, परन्तु वसुदेव ने वीणाओं में दोष दिखा-दिखाकर उन्हें वापस दे दी। अन्त में गन्धर्व सेना ने स्वयं अपनी वीणा दी। वसुदेव ने उसे निर्दोष बतलाकर गन्धर्व सेना से पूछा—“हे सुन्दरी! अब कहो, तुम किस विषय का संगीत सुनना चाहती हो?”

गन्धर्व सेना ने कहा—“हे संगीतज्ञ! इस समय महापद्म चक्रवर्ती के ज्येष्ठ बन्धु विष्णु कुमार के त्रिविक्रम विषयक संगीत सुनने की मेरी इच्छा है।”

बस उसके कहने की ही देर थी। उसी क्षण वीणा की मधुर झंकार और संगीत की सुन्दर ध्वनि से सभास्थान गूँज उठा। लोग मन्त्र मुग्ध होकर शिर हिला-हिलाकर वसुदेव का गायन, वादन, सुनते रहे। किसी भी छिद्रान्वेषी को उसमें कोई छिद्र दिखायी न दिया। परीक्षकों ने उसे निर्दोष और अद्वितीय बतलाया। गन्धर्वसेना की कौन कहे, बड़े बड़े संगीताचार्यों ने भी उनके सामने हार मान ली।

जब वसुदेव की विजय में कोई सन्देह न रहा, तब चारुदत्त सभा विसर्जन कर उन्हें सम्मान पूर्वक अपने भवन पर लेकर गये। वहाँ पर

गन्धर्वसेना और उनके विवाह का आयोजन किया गया। व्याह के समय चारुदत्त ने पूछा—“हे वत्स! तुम्हारा कौन गोत्र है?” वसुदेव ने हंसकर कहा—“आप जो समझ लें वही गोत्र है।” चारुदत्त ने इसे उपहास समझ कर कहा—“गन्धर्वसेना को वणिक् पुत्री मानकर आप उपहास कर रहे हैं, किन्तु इसके कुलादिक का वास्तविक वृत्तान्त मैं फिर किसी समय आप को सुनाऊँगा।”

खैर, किसी तरह उन दोनों का विवाह निपट गया। चारुदत्त ने इस समय बड़ा उत्सव मनाया और दानादिक में प्रचुर धन व्यय किया। सुग्रीव और यशोग्रीव ने भी वसुदेव के गुणों पर मुग्ध हो अपनी श्यामा और विजंया नामक दो कन्याओं का उनसे विवाह कर दिया। वसुदेव अपनी इन नव विवाहित पत्नियों के साथ अपने दिन सुखपूर्वक व्यतीत करने लगे।

एक दिन अवकाश के समय चारुदत्त ने वसुदेव कहा—“वत्स! मैंने तुमसे व्याह के समय कहा था कि गन्धर्व सेना के प्रकृत कुल का परिचय मैं तुम्हें फिर किसी समय दूँगा। आज तुम्हें वह वृत्तान्त सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो—

एक समय इसी नगरी में भानु नामक एक महा धनवान व्यापारी रहता था। उसके सुभद्रा नामक एक स्त्री भी थी, किन्तु सन्तान न होने के कारण वे दोनों बहुत दुःखित रहते थे। एक बार उन्होंने एक चरण मुनि से पूछा कि हे महाराज! क्या हम भी कभी पुत्र का मुख देखकर अपने को धन्य समझेंगे? मुनिराज ने कहा,—“हां, तुम्हारे पुत्र अवश्य होगा, किन्तु अभी कुछ समय की देरी है। मुनिराज के इन वचनों से उन्हें आशा बँध गयी। कुछ दिनों के बाद वास्तव में उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जो मैं हूँ। इससे उन दिनों के जीवन में एक नया ही आनन्द आ गया।

एक दिन मैं सिन्धु नदी के तट पर घूमने गया था। वहां पर किसी आकाशगामी पुरुष के सुन्दर चरण चिन्ह मुझे दिखायी दिये। ध्यान पूर्वक देखने पर मुझे मालूम हुआ कि उन चरण चिन्हों में किसी स्त्री के भी चरण चिन्ह सम्मिलित हैं। इससे मैं समझ गया कि उस पुरुष के साथ कोई स्त्री भी होगी। वहां से आगे बढ़ने पर एक स्थान में मुझे एक कदली गृह, पुष्पशैथ्या, ढाल और तलवार आदि चीजें दिखायी दी। उसके पास ही एक वृक्ष में कोई

विद्याधर जकड़ा हुआ था। मैंने देखा कि उसके हाथ पैरों में लोहे की कांटियाँ जड़ दी गयी हैं, इसलिए मैं बड़ी चिन्ता में पड़ गया। इधर-उधर खोज करने पर उसकी तलवार के म्यान में मुझे तीन औषधियाँ दिखायी दी। उनमें से एक औषधि का प्रयोग कर मैंने उसे बन्धन मुक्त किया। दूसरी औषधि लगाने से उस के जखम अच्छे हो गये और तीसरी औषधि देने पर वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। उसे स्वस्थ देखकर मैंने पूछा,—“हे युवक! तुम कौन हो और तुम्हारी यह अवस्था किसने की?”

युवक ने अपना परिचय देते हुए कहा,—“हे भद्र! वैताढ्य पर्वत पर शिवमन्दिर नामक एक नगर है। उसमें महेंद्र विक्रम नामक राजा राज करते हैं। उन्हींका मैं पुत्र हूँ। मेरा नाम अमितगति है। एक दिन धूमशिख और गौरमुण्ड नामक दो मित्रों के साथ क्रिड़ा करता हुआ मैं हिमन्त पर्वत पर जा पहुँचा। वहाँ पर मैंने अपने मामा हिरण्यदोम तपस्वी की सुकुमालिका नामक रमणीय कुमारी को देखा। उसे देखकर मैं उस पर मोहित हो गया और चुपचाप अपने वासस्थान को लौट गया। परन्तु मेरी हालात उसी दिन से खराब होने लगी। न मुझे भोजन अच्छा लंगता था, न रात में नींद ही आती थी। मेरे एक मित्र द्वारा मेरे पिता को यह हाल मालूम होने पर उन्होंने उस कुमारीका को बुलाकर उससे मेरा व्याह कर दिया। फलतः मैं उसके साथ आनन्दपूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगा।

कुछ दिनों के बाद मुझे मालूम हुआ कि मेरा मित्र धूमशिख मेरी स्त्री को कुदृष्टि से देखता है और भी कई बातों से मुझे विश्वास हो गया कि वह उस पर आसक्त है किन्तु इसके लिए मैंने न तो उसे उलाहना दिया, न मैंने उसको अपने यहाँ आना जाना ही बन्द करवाया। मेरी इस सज्जनता का फल आज मुझे यह मिला, कि वह हमारे साथ यहाँ घूमने आया और मुझे इस वृक्ष से जकड़ कर मेरी प्रियतमा को उठा ले गया। खैर, अब जो कुछ होगा, देखा जायगा। इस समय तो आपने मुझ पर उपकार कर मेरा प्राण बचाया है, इसलिए बतलाइए कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ? आपके इस उपकार का क्या बदला दूँ?

मैंने कहा—“हे अमितगति! मैंने किसी बदले की आशा से यह

उपकार नहीं किया। तुम्हें ऐसी अवस्था में सहायता करना मैंने अपना कर्तव्य समझा। मैं तुम्हारे दर्शन से ही अपने को कृतकृत्य मानता हूँ।”

मेरे यह वचन सुनकर वह विद्याधर अपने वासस्थान को चला गया और मैं इस घटना पर विचार करता हुआ अपने घर लौट आया।

यह उस समय की बात है, जिस समय मैं किशोरावस्था अतिक्रमण कर रहा था। धीरे-धीरे जब मैंने यौवन की सीमा में पदार्पण किया, तब मेरे पिता ने मेरे सर्वार्थ नामक मामा की मित्रवती नामक कन्या से मेरा विवाह कर दिया। परन्तु उन दिनों मैं कलाओं के पीछे पागल हो रहा था, इसलिये मैंने अपनी उस पत्नी की ओर आंख उठाकर देखा भी नहीं। मेरी यह अवस्था देखकर मेरे पिता ने मेरे लिये ललित गोष्ठी का प्रबन्ध कर दिया। उन्होंने सोचा होगा कि इस से मेरी कामुकता बढ़ेगी और मेरा ध्यान अपनी स्त्री की ओर आकर्षित होगा।

परन्तु उनके इस कार्य का फल उनकी इच्छानुसार न हुआ। मैं अपने प्यारे मित्रों के साथ बगीचों की सैर करने लगा और अन्त में कलिसेना नामक वेश्या की पुत्री वसन्तसेना के प्रेमजाल में उलझ गया। मैं उसके पीछे बारह वर्ष तक पागल रहा। मैं रात दिन वहीं रहता और वही खाता पीता। मैंने सब मिलाकर उसे सोलह करोड़ रुपये खिलाये। इसके बाद जब मैं उसे अधिक धन देने में असमर्थ हो गया, तब उसने मुझे अपने घर से निकाल दिया। लाचार, होकर मुझे फिर अपने घर आना पड़ा।

घर आने पर मुझे मालूम हुआ कि मेरे माता पिता का देहान्त हो गया है। घर की सारी सम्पदा तो मैंने पहले ही नष्ट कर दी थी। केवल मेरी स्त्री के पास कुछ आभूषण थे। उन्हें लेकर मैं व्यापार निमित्त अपने मामा के साथ उशीरवर्ति नगर की ओर चल पड़ा। वहां मैंने उन आभूषणों से कपास खरीद ली, क्योंकि उसमें मुझे अच्छा मुनाफा होने की उम्मीद थी।

यह कपास लेकर मैंने अपने मामा के साथ ताम्रलिप्ति नगर की ओर प्रस्थान किया। परन्तु मार्ग में मेरी कपास में आग लग जाने से वह देखते ही देखते खाक हो गयी। अब मेरे पास कोई ऐसा धन भी न था, जिससे मैं कोई व्यापार कर सकूँ। मेरे मामा ने भी मुझे अभागा समझ कर मेरा साथ छोड़

दिया। मैं इससे निराश-न हुआ और अकेला ही घोड़े पर बैठ पश्चिम की ओर आगे बढ़ा। दुर्भाग्यवश रास्ते में मेरा वह घोड़ा भी मर गया। अब पैदल चलने के सिवा कोई दूसरा उपाय न था। इसलिए कुछ दिनों के बाद मैं धीरे धीरे चलकर प्रियंगुपुर नामक एक नगर में जा पहुँचा।

प्रियंगुपुर में वणिकों की अच्छी बसती थी, वे तरह तरह का व्यवसाय करते थे। वहाँ सुरेन्द्रदत्त नामक मेरे पिता का एक मित्र भी रहता था। मैंने उसीके यहां जाकर आश्रय ग्रहण किया। वह मेरी दुरावस्था देखकर बहुत ही दुःखी हुआ। समुचित स्वागत सत्कार करने के बाद उसने मुझे वहीं व्यवसाय करने की सलाह दी। मैंने उसकी आर्थिक सहायता से उसकी इच्छानुसार कार्य शुरू किया और थोड़े ही दिन में सब खर्च बाद देकर मुझे लाख रुपये का मुनाफा हुआ।

यह रुपये हाथ में आने पर मुझे किराना लेकर समुद्र यात्रा करने की सूझी। सुरेन्द्र को यह बात पसन्द न आयी और उसने मुझे मना किया, किन्तु मैंने उसकी एक न सुनी। शीघ्र ही मैंने किराने से एक जहाज भरकर समुद्रमार्ग द्वारा विदेश के लिए प्रस्थान कर दिया। कुछ दिनों के बाद मैं यमुना नामक द्वीप में जा पहुँचा। उस द्वीप के कई नगरों में घूम घूम कर मैंने वह किराना बेच दिया। इसमें मुझे बहुत अधिक लाभ हुआ। थोड़े दिन इसी तरह उलट फेर करने पर मेरे पास आठ करोड़ रुपये इकट्ठे हो गये। यह कोई साधारण रकम न थी। मैंने सोचा कि अब अपने देश को चलना चाहिए और वहीं कोई व्यवसाय कर जीवन के शेष दिन शान्तिपूर्वक व्यतीत करने चाहिए।

यह विचार कर मैंने स्वदेश के लिए प्रस्थान किया, परन्तु देवदुर्विपाक से मार्ग में मेरा जहाज टूट गया। इससे न केवल मेरा वह धन ही नष्ट हो गया, बल्कि मेरी जान के भी लाले पड़ गये। खैर, अभी जिन्दगी बाकी थी, इसलिए लकड़ी का एक तख्ता मेरे हाथ लग गया और मैं उसी के सहारे तैरता हुआ सात दिन में उदम्बरावतीवेल नामक स्थान में किनारे आ लगा।

उदम्बरावतीवेल से मैं किसी तरह राजपुर नगर में गया वहाँ नगर के बाहर एक आश्रम में मुझे दिनकरप्रभ नामक एक त्रिदण्डीस्वामी के दर्शन हुए। उसे मैंने अपना सारा हाल कह सुनाया। उसने मुझ पर दया कर मुझे खाने के

लिए अन्न और सोने के लिए स्थान दिया। मैं उसी के यहाँ रहकर अपना सारा समय उसी की सेवा में बिताने लगा।

एक दिन उस त्रिदण्डी ने कहा—“हे वत्स! मालूम होता है कि तुम धनार्थी हो-तुम्हें धन की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि यह बात ठीक हो, तो तुम मेरे साथ एक पर्वत पर चलो। मैं वहाँ पर तुम्हें एक ऐसा रस दूंगा, जिससे तुम जितना चाहो, उतना सोना बना सकोगे।”

धन की आवश्यकता तो मुझे थी ही, इसलिए मैं उसी समय उसके साथ चल पड़ा। एक भयंकर जंगल के रास्ते हमलोग उस पर्वत पर पहुँचे। उसके मध्य भाग में दुर्गापाताल नामक एक भयानक गुफा थी। उस गुफा का द्वार एक बड़े भारी पत्थर से बन्द था। त्रिदण्डी ने मन्त्र बल से उसे खोलकर उसमें प्रवेश किया। मैं भी उसके साथ ही था। इधर उधर भटकने के बाद हम लोग उस कूप के पास जा पहुँचे, जिसमें वह सोना बनाने वाला रस भरा था। वह कूप चार हाथ चौड़ा काफी गहरा और देखने में बहुत ही भयंकर था। वहाँ पहुँचने पर त्रिदण्डी ने मुझसे कहा—“तुम इस कूप में उतर कर इस कमण्डल में रस भर लाओ! नीचे से ज्योंही हिलाओगे, त्यों ही मैं तुम्हें ऊपर खींच लूँगा।”

त्रिदण्डी के आदेशानुसार मैं एक मंचिया पर बैठ, उस कूएँ में उतरने लगा। त्रिदण्डी ने ऊपर से उसकी रस्सी पकड़ रखी थी। बीस पचीस हाथ नीचे जाने पर मुझे चमकता हुआ रस दिखायी दिया, नवकार मंत्र बोलकर मैं ज्यों ही वह रस कमण्डल में भरने को तैयार हुआ, त्यों ही किसी ने मुझे वैसा करने से मना किया। मैंने कहा—“भाई! तुम मना क्यों करते हो? मैं चारुदत्त नामक वणिक हूँ और त्रिदण्डी स्वामी के आदेश से यह रस लेने यहाँ आया हूँ।”

उस आदमी ने कहा—“भाई! मैं भी तुम्हारी ही तरह धन का लोभी एक वणिक हूँ और वह त्रिदण्डी ही मुझे यहाँ लाया था। इस कूएँ में उतारने के बाद वह पापी मुझे यहीं छोड़ कर चला गया। यह रस बड़ा तेज है। यदि तुम इसमें उतरोगे तो तुम्हारी भी यही अवस्था होगी। यदि तुम रस लिये बिना वापस नहीं जाना चाहते, तो अपना कमण्डल मुझे दो, मैं उसमें रस भर दूँगा।”

उसकी यह बात सुनकर मैंने वह कमण्डल उसे दे दिया और उसने उसमें रस भरकर उसे मेरी मचिया के नीचे लटका दिया। रस मिलते ही मैंने रस्सी हिला दी और उस त्रिदण्डी ने मुझे ऊपर खींचना आरम्भ कर दिया। अब मैं उस क्रूप के मुख के पास आ पहुँचा तब त्रिदण्डी ने खींचना बन्द कर, मुझसे पहले वह रस दे देने को कहा। मैंने कहा—“भगवन्! पहले मुझे बाहर निकालिये रस मचिया के नीचे बँधा हुआ है।”

त्रिदण्डी ने मेरी इस बात पर ध्यान न दिया। यह बार-बार रस दे देने का आग्रह करता था। इससे मैं समझ गया कि वह केवल रस का भूखा है। रस मिल जाने पर वह मुझे धोखा देकर इसी कुएं में छोड़ देगा और आप यहाँ से चलता बनेगा। निदान जब मैंने उसे रस का कमण्डल न दिया, तो उसने वह रस्सी छोड़ दी और मैं उस मचिया तथा रस्सी के साथ उस कुएँ में जा गिरा।

परन्तु आनन्द की बात इतनी ही थी कि, मैं उस रस में गिरकर उसके चारों ओर बँधी हुई कुएँ की वेदिका पर गिरा था। कूप स्थित मेरे उस अकारण बन्धु ने मेरी यह अवस्था देख, मुझे सान्त्वना देते हुए कहा—“हे मित्र! तुम्हें खेद करने की जरूरत नहीं, क्योंकि सौभाग्यवश तुम रस में न गिरकर कूएँ की वेदिका पर गिरे हो। खैर, इस रस को पीने के लिए एक गोह इस कूएँ में आया करती है। तुम उसकी प्रतीक्षा करो। जब वह यहाँ आये तब तुम उसकी पूछ पकड़ लेना। इस प्रकार तुम अनायास इस कुएँ से बाहर निकल जाओगे। यदि मेरे पैर गल न गये होते तो मैंने भी अपने उद्धार के लिए इसी उपाय से काम लिया होता।”

उसकी यह बात सुनकर मुझे बहुत ही सन्तोष हुआ और मैं कई दिन तक उस कुएँ में पड़ा रहा। एक दिन मैंने मित्र को अंतिम आराधना करवायी और मेरे सामने ही उस की मृत्यु हो गयी। अब मुझे कोई सान्त्वना देने वाला भी न रहा। इतने में एक दिन मुझे एक प्रकार का भयंकर शब्द सुनायी दिया। उसे सुनकर मैं बहुत डर गया, किन्तु फिर मुझे खयाल आया कि शायद वही गोह आ रही होगी। मेरा यह अनुमान सत्य निकला। शीघ्र ही वहाँ एक गोह ने आकर उस रस का पान किया। इसके बाद ज्यों ही वह बाहर निकलने लगी, त्यों ही मैंने उसकी पूछ पकड़ ली और मैं घसीटता घसीटता बाहर तो निकल

आया, परन्तु बाहर निकलते ही मैं मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा।

कुछ देर के बाद जब मुझे होश आया, तो मैंने काल के समान एक जंगली भैंसे को अपनी ओर आते देखा। उसकी लाल लाल आँखें, बड़े बड़े सींग और विकराल रूप देखकर मैं बेतरह डर गया और एक शिला पर चढ़ बैठा। वह भैंसा मुझे देखकर उस शिला के पास दौड़ आया और बड़े वेग से उसे ठोकरें मारने लगा। यदि मैं शिला पर न चढ़ गया होता और उसकी एक भी ठोकर मेरे लग जाती, तो मैं निःसन्देह वहीं ढेर हो जाता।

इसी समय एक और आश्चर्यजनक घटना इस प्रकार घटित हुई कि, उस शिलापर ठोकरें मारते हुए उस भैंसे का पैर पीछे से एक अजगर ने पकड़ लिया। इससे भैंसे का ध्यान मेरी ओर से हटकर उसकी ओर चला गया। इसके बाद ज्योंही उन दोनों में खींचातानी होने लगी, त्योंही मैं उस शिला से कूदकर एक तरफ भागा।

भागते भागते मैं जंगल के उस पार एक गांव में जा पहुँचा। वहां पर मेरे मामा का रुद्रदत्त नामक एक मित्र रहता था। उसने मुझे आश्रय देकर मेरी सेवासुश्रुषा की। जब मैं पूर्ण रूप से स्वस्थ हुआ, तब रुद्रदत्त के साथ व्यापार में स्थित हुआ। हम लोगों ने करीब एक लाख रुपये अपने साथ लेकर सुवर्णभूमि के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में हमें इषुवेगवती नामक एक नदी मिली। उसे पारकर हमलोग गिरिकूट (पर्वत के शिखर) पर पहुँचे। वहां से वेत्रवन में होकर हम लोगों ने टंकणप्रदेश में पदार्पण किया। यहां का मार्ग ऐसा था कि जिस पर केवल बकरे ही चल सकते थे, इसलिए हम लोगों को दो बकरे खरीद कर उन्हीं पर सवारी करनी पड़ी। यह बकरों का रास्ता पार कर हमलोग और भी विकट स्थान में जा पहुँचे। वहां पर रुद्रदत्त ने कहा—“यहां से आगे बढ़ने के लिए कोई रास्ता नहीं है। चारों ओर विकट पहाड़ियाँ और नदी नालों की भरमार है अब हमें इन बकरों को मारकर इनकी खाल अपने शरीर पर लपेट लेनी होगी। ऐसा करने पर भारण्ड पक्षी हमलोगों को मांस के धोखे से सुवर्णभूमि में उठा ले जायेंगे। वहां पहुँचने का यही तरीका है और इसी तरीके से सब लोग काम लेते हैं।”

बकरों को मारने की बात सुनकर मेरा तो कलेजा ही काँप उठा। मैंने

कहा—“इन बेचारों में हमलोगों को कठिन मार्ग पार करने में अमूल्य सहायता दी है। मुझे तो यह बन्धु समान प्रिय मालूम होते हैं। क्या इन्हें मारना उचित होगा ?”

मेरी यह बात सुनकर रुद्रदत्त को क्रोध आ गया। उसने मुझे झिड़क कर कहा—“इन्हें मारे बिना हम लोग आगे नहीं बढ़ सकते। उस हालत में हमें यहीं प्राण दे देना होगा। मैं इसके लिए तैयार नहीं हूँ। अपना प्राण बचाने के लिए इनका प्राण लेना ही होगा !”

इतना कह उसने अपने बकरे को उसी क्षण मार डाला। उसकी वह अवरथा देखकर मेरा बकरा दीन और कातर दृष्टि से मेरी और ताकने लगा। मैंने उससे कहा—“मैं तेरी रक्षा करने में असमर्थ हूँ इसलिए मुझे बड़ा दुःख है, लेकिन जैन धर्म तेरा सहायक हो सकता है। तू उसी की शरण स्वीकार कर! संकट के समय धर्म ही बन्धु, धर्म ही माता और धर्म ही पिता होता है।”

मेरी यह बात सुन, उस बकरे ने शिर झुकाकर जैन धर्म स्वीकार किया। मैंने उसे नवकार मन्त्र सुनाया और वह उसने बड़ी शान्ति से सुना। इतने में रुद्रदत्त ने उसे भी मार डाला। मरकर वह तो देवलोक गया और हम लोग एक एक छुरी हाथ में लेकर उनकी खाल में छिप रहे। उसी समय दो भारण्ड पक्षी आ पहुँचे और हमें चंगुल में पकड़ कर एक और को ले उड़े।

मार्ग में, जो भारण्ड पक्षी मुझे लिये जा रहा था, उस पर एक दूसरे भारण्ड ने आक्रमण कर दिया। शायद वह भूखा था इसलिए उस भारण्ड से वह मुझे छीन लेना चाहता था। दोनों की छीना झपटी में मैं छुरी से उस खाल को चीर कर बन्धन मुक्त हुआ और सरोवर में गिर गया फिर उसमें से बाहर निकल कर एक तरफ चल पड़ा।

कुछ दूर आगे बढ़ने पर मुझे एक जंगल मिला। उस जंगल में एक पर्वत था। कौतूहल वश मैं उसके ऊपर चढ़ गया। वहाँ पर कार्योत्सर्ग करते हुए एक मुनिराज मुझे दिखायी दिये। मैं उन्हें वन्दन कर उनके पास बैठ गया। उन्होंने मुझे धर्मोपदेश देने के बाद पूछा—“हे चारुदत्त! आप इस विषय भूमि में किस प्रकार आ पहुँचे? यहाँ देवता और विद्याधरों के सिवा दूसरों के लिए

आना बहुत ही कठिन है।”

मुनिराज के यह वचन सुनकर मैं बड़े आश्चर्य में पड़ गया क्योंकि मैं तो उन्हें पहचानता न था और वे एक परिचित की भांति मुझसे बातें करते थे। यह देख, मैं उनकी और बार-बार देखने लगा। मेरी यह उलझन शीघ्र ही मुनिराज की समझ में आ गयी। उन्होंने कहा—“मेरा नाम अमितगति है। आप ने एक बार मुझे बन्धन मुक्त किया था। आपके पास से रवाना हो अष्टापद पर्वत के पास मैंने अपने उस शत्रु को पकड़ लिया। मुझे देखते ही वह मेरी स्त्री को छोड़कर पर्वत के किसी अगम्य स्थान में भाग गया।

उसके भाग जाने पर मैं अपनी स्त्री को लेकर अपने वासस्थान को चला गया। इस घटना के कुछ दिन बाद मेरे पिता ने मुझे अपना राज्य भार सौंप, हिरण्यकुंभ और सुवर्णकुम्भ नामक मुनियों के निकट दीक्षा ले ली। अब मेरे दिन आनन्द में कटने लगे। मैंने दीर्घकाल तक राज्य शासन किया। इस बीच में मेरी मनोरमा नामक स्त्री ने सिंहयशां और वराहग्रीव नामक दो पुत्रों को जन्म दिया, जो मेरे ही समान पराक्रमी और गुणवान-हैं। दूसरी स्त्री विजयसेना ने गन्धर्व सेना नामक एक पुत्री को जन्म दिया, जो गायन वादन और संगीत की कला में परम निपुण है। पुत्र पुत्रियों का सब सुख देखने के बाद अन्त में मैंने अपना राज्य अपने दोनों पुत्रों को सौंपकर पिताजी के निकट दीक्षा ले ली। तब से मैं यहीं रहता हूँ और धर्माराधन में अपना समय व्यतीत करता हूँ। यह द्वीप कुंभकंठ के नाम से प्रसिद्ध है और लवण समुद्र में अवस्थित है। इस पर्वत को कर्कोटक कहते हैं। आशा है कि मेरे इस परिचय से आप की उलझन दूर हो गयी होगी। अब आपका यहां आना किस प्रकार हुआ सो बतालाइए।”

मुनिराज का यह पक्ष सुनकर मैंने अपना सब हाल उन्हें कह सुनाया। इतने ही में उन्हीं के समान दो विद्याधर वहां आ पहुँचे और मुनिराज को प्रणाम कर उनके पास बैठ गये। उनकी मुखाकृति और आकार प्रकार देखकर मैं तुरन्त समझ गया कि यह दोनों मुनिराज के पुत्र होंगे। मेरा यह अनुमान ठीक भी निकला। मुनिराज के परिचय कराने पर उन दोनों ने मुझे भी बड़े प्रेम से प्रणाम किया। इसी समय वहां पर आकाश से एक विमान उतरा। उसमें से एक देव ने उतरकर सबसे पहले तीन बार प्रदक्षिणा कर मुझे प्रणाम किया, और मेरे बाद

मुनिराज की वन्दना की। यह वन्दन विपर्यय देखकर उन दोनों विद्याधरों ने उस देव से इसका कारण पूछा। उत्तर में उसने कहा कि यह चारुदत्त मेरे धर्माचार्य हैं। विद्याधरों ने चकित होकर पूछा—“क्या ? यह आप के धर्माचार्य हैं ? यह कैसे हुआ ?”

उस देव ने कहा—“काशी नगरी में वेद को जानने वाली सुभद्र और सुलसा नामक दो बहिने रहती थी। वे परिव्राजिकाएं थी और उन्होंने शास्त्रार्थ में अनेक विद्वानों पर विजय प्राप्त की थी। एक दिन याज्ञवल्क्य नामक एक परम विद्वान तपस्वी उनके वासस्थान में आ पहुँचे। सुभद्र और सुलसा ने उनमें भी शास्त्रार्थ किया, किन्तु उसमें उन दोनों की पराजय हुई, इसलिए अपनी प्रतिज्ञानुसार वे दोनों उनकी दासी बन गयीं। इनमें से सुलसा अभी युवती थी। उधर याज्ञवल्क्य भी युवक थे। इसलिए नित्य के समागम से उन दोनों के हृदय में विकार उत्पन्न हो गया और वे पति पत्नि की भांति दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने लगे। इससे सुलसा शीघ्र ही गर्भवती हो गयी। गर्भकाल पूर्ण होने पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया।”

संसार में पाप करना जितना सहज होता है, उतना उसे छिपाना सहज नहीं होता। बच्चा हो जाने पर सुलसा और याज्ञवल्क्य लोकनिन्दा के भय से कांप उठे। उन्हें जल्दी में कुछ भी सूझ न पड़ा, इसलिए वे उस बालक को एक पीपल के नीचे छोड़कर भाग गये। इधर कुछ ही समय के बाद सुलसा की बड़ी बहिन सुभद्रा ने उस बालक को पीपल के नीचे देखा। देखते ही वह उसे अपने वासस्थान में उठा लायी और पुत्रवत् उसका लालन पालन कर से वेदादिक पढ़ाने लगी। जिस समय सुभद्रा उस बालक को उठा रही थी, उस समय वह बालक अपने मुँह में गिरा हुआ पीपल का एक फल खा रहा था। इसीलिये सुभद्रा ने उसका नाम पिप्पलाद रक्खा।

पिप्पलाद जब बड़ा हुआ, तो वह परम बुद्धिमान और बड़ा ही विद्वान निकला। उस की कीर्ति सुनकर सुलसा और याज्ञवल्क्य उसे देखने आये। पिप्पलाद ने उनसे शास्त्रार्थ कर उसे पराजित कर दिया। पश्चात् सुभद्रा द्वारा जब उसे मालूम हुआ, कि यही मेरे असली माता पिता है और उन्होंने जन्मते ही मुझे त्याग दिया था, तब उसे उन पर बड़ा ही क्रोध आया। उसने मातृमेघ

और पितृमेघ आदि यज्ञों का अनुष्ठानकर उन दोनों को मार डाला। मैं उस जन्म में पिप्पलाद का शिष्य था और मेरा नाम वाग्बली था। मैंने भी यत्र तत्र पशु मेघादि यज्ञों का अनुष्ठान कराया था, इसलिए मृत्यु के बाद मैं घोर नरक का अधिकार हुआ।

नरक से उद्धार पाने पर मैं पांचबार पशु हुआ और क्रूर ब्राह्मणों द्वारा प्रत्येक बार यज्ञ में मेरा वध किया गया। अन्तिम बार टंकण प्रदेश में मैंने बकरे के रूप में जन्म लिया और वहां पर रुद्र द्वारा मेरा वध हुआ। वध के समय चारुदत्त ने मुझे धर्मोपदेश दिया, इसलिए मुझे सौधर्म देवलोक की प्राप्ति हुई इसीलिए चारुदत्त को मैं अपने धर्माचार्य मानता हूँ और यही कारण है, कि मैंने उन्हें सबसे पहले प्रणाम किया है। ऐसा करना मेरे लिये उचित भी था।”

उस देव की यह बातें सुनकर दोनों विद्याधरों को परम सन्तोष और आनन्द हुआ। उन्होंने कहा—“चारुदत्त ने जिस प्रकार आप पर यह उपकार किया है, उसी प्रकार एक समय इन्होंने हमारे पिताजी को भी जीवन दान दिया था। वास्तव में यह बड़े सज्जन और परोपकारी जीव है।”

इसके बाद उस देव ने मुझे से कहा—“हे गुरुदेव! कहिये अब मैं आप की क्या सेवा करूँ? आप जो आज्ञा दें, वह मैं शिरोधार्य करने को तैयार हूँ।”

मैंने कहा—“इस समय मुझे कुछ भी नहीं कहना है। जब मुझे आवश्यकता होगी, मैं तुम्हें याद करूँगा। उस समय तुम मुझे यथेष्ट सहायता कर सकते हो।

मेरी यह बात सुनकर वह देव तो अपने वासस्थान को चला गया। इधर वे दोनों विद्याधर मुझे अपने नगर (शिवमन्दिर) में ले गये। वहां पर उन विद्याधरों ने उनकी माता ने उनके बन्धुओं ने तथा अन्यान्य विद्याधरों ने, मेरा बड़ा ही सम्मान किया। जब मैं वहां से चलने को तैयार हुआ, तब उन्होंने मुझे गन्धर्वसेना को दिखाकर कहा—“हमारे पिताजी ने दीक्षा लेते समय हमसे कहा था, कि एक ज्ञानी के कथानानुसार गन्धर्वसेना को वसुदेव कुमार संगीत कला में पराजित करेंगे, और उन्हीं के साथ इसका विवाह होगा। वसुदेव कुमार भूमिचर हैं, इसलिए मेरे परम बन्धु चारुदत्त के यहां तुम इस कन्या को

भेज देना। ऐसा करने से इसका विवाह आसानी से हो जायगा और तुम्हें किसी कठिनाई का सामना न करना पड़ेगा।” इसलिए अब आप इसे अपने साथ लेते जाइए। यथा समय इसे अपनी ही कन्या समझकर आप इसके ब्याह का प्रबन्ध कर दीजिएगा।”

विद्याधरों की यह प्रार्थना सुन, मैं उस कन्या के साथ अपने नगर आने को तैयार हुआ। इसी समय वह देव भी वहां आ पहुँचा। उसने हम दोनों को एक विमान में बैठाकर, हमारे नगर में पहुँचा दिया। उसने मुझे बहुतसा सुवर्ण और मणिमुक्तादिक अनेक रत्न भी भेंट दिये। इस धनराशि से मेरा दरिद्र सदा के लिए दूर हो गया और मेरी गणना नगर के धनीमानी व्यापारियों में होने लगी। सुबह मैं अपने मामा सर्वार्थ और उनकी स्त्री रत्नवती से मिला। वे मेरी सम्पन्नावस्था देखकर परम प्रसन्न हुए। तबसे मैं आनन्दपूर्वक यहीं अपने दिन व्यतीत करता हूँ। इस प्रकार हे वसुदेव! यह गन्धर्वसेना मेरी नहीं, किन्तु एक विद्याधर की कन्या है। इसे वणिक पुत्री समझकर आप इसकी अवज्ञा न कीजिएगा।”

चारुदत्त के मुख से गन्धर्वसेना का ग्रह वृत्तान्त सुनकर वसुदेव को बड़ा ही आनन्द हुआ और वे पहले की अपेक्षा अब उससे अधिक प्रेम करने लगे।

एक दिन चैत मास में वसुदेव और गन्धर्वसेना रथ में बैठकर उद्यान की सैर करने जा रहे थे उस समय मार्ग में उन्हें मातंग लोगों का एक दल मिला। उनके साथ परम रूपवती एक मातंग कन्या भी थी। उसकी और वसुदेव की चार आँखे होते ही दोनों के मन में कुछ विकार उत्पन्न हो गया। चतुर गन्धर्वसेना से यह बात छिपी न रह सकी। उसने सारथी को शीघ्रतापूर्वक रथ हांकने की आज्ञा दी, फलतः रथ आगे बढ़ गया और वह मामला जहां का तहां रह गया। वसुदेव और गन्धर्वसेना उपवन में पहुँचे और वहां जल क्रीडादिक कर वे दोनों चम्पापुरी लौट आये।

घर आने पर एक मातंगनी वसुदेव के पास आयी और उन्हें आशीश दें, उनके पास बैठ गयी। उसने कहा—“हे वसुदेव कुमार! मैं तुम्हें एक लम्बी और बहुत पुरानी कहानी सुनाने आयी हूँ, वह सुनिये। पूर्वकाल में जिस समय श्रीऋषभदेव अपना राज्य अपने पुत्रों में बाँटा उस समय दैवयोग से उनके नमि

और विनमि नामक दो पुत्र वहां उपस्थित न थे। फलतः वह दोनों राज्य से वंचित रह गये। बाद में वह राज्य प्राप्त करने के लिए संयमी प्रभु की सेवा करने लगे। उनकी सेवा से सन्तुष्ट हो धरणेन्द्र ने वैताढय पर्वत की दो श्रोणियों का राज्य उन्हें प्रदान किया। दीर्घकाल तक इस राज्य का सुख उपभोग कर, उन दोनों ने अपने अपने पुत्रों को राज्य दे, प्रभु के निकट दीक्षा ले ली और कालान्तर में मोक्ष के अधिकारी हुए।

उनके बाद नमि सुत ने मातंग दीक्षा ग्रहण की और इस प्रकार वे भी स्वर्ग के अधिकारी हुए। उसका वंशधर इस समय प्रहसित नामक एक विद्याधर पति है। मैं उसी की स्त्री हूँ। और मेरा नाम हिरण्यवती है। मेरे पुत्र का नाम सिंहदंष्ट्र है। सिंहदंष्ट्र के एक पुत्री है, जिसका नाम नीलयशा है। उसीको आपने उस दिन उद्यान जाते समय देखा था। वह तनमन से आप पर अनुरक्त है और मन ही मन अपना हृदय आप को अर्पण कर चुकी है। आज विवाह का मुहुर्त बहुत ही अच्छा है। आप इसी समय मेरे साथ चलिये, और उसका पाणिग्रहण कर उसकी मनोकामना पूरी कीजिए।”

बुढ़िया का यह प्रस्ताव सुनकर वसुदेव चिन्ता में पड़ गये। उन्होंने कुछ अनिच्छापूर्वक कहा—“इस समय तो मैं तुम्हारी बात का कोई उत्तर नहीं दे सकता। सुबह तुम मेरे पास आना, उस समय मैं, तुम्हें अपना निश्चय सूचित करूँगा।”

वसुदेव के इस उत्तर से वह बुढ़िया तुरन्त समझ गयी, कि वे इस प्रसंग को टालना चाहते हैं। परन्तु वह आसानी से उनका पीछा छोड़ना न चाहती थी। उसने कुछ रोषपूर्वक कहा—“अच्छी बात है, मैं जाती हूँ। अब या तो मैं ही आप के पास आऊँगी या आप ही मेरे पास आयेंगे।”

इतना कह वह बुढ़िया वहां से चली गयी। वसुदेव ने भी बुढ़िया की उपेक्षा कर उसकी बात को अपने मस्तिष्क से निकाल दिया। किन्तु कुछ दिनों के बाद ग्रीष्म ऋतु में, जब एक दिन वसुदेव जल क्रीड़ा कर गन्धर्वसेना के साथ एक लताकुञ्ज में सो रहे थे, तब एक भूत उन्हें एक चिता के पास उठा ले गया। वहां पर आंख खोलते ही वसुदेव ने देखा कि एक भयंकर चिता धधक रही है और वह बुढ़िया भयानक रूप बनाये सामने खड़ी है। वह भूत

वसुदेव को उसके हाथों में सौंपकर अन्तर्धान हो गया। इसके बाद बुढ़िया ने विलक्षण हँसी करते हुए कहा—“हे कुमार! तुम ने फिर क्या विचार किया? अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है। मैं चाहती हूँ कि तुम सहर्ष मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लो, जिससे मुझे किसी दूसरे उपाय से काम न लेना पड़े।”

इसी समय अपनी सखियों के साथ वहाँ नीलयशा भी आ पहुँची। उसे देखकर बुढ़िया ने कहा—“हे नीलयशा! यही तेरा भावी पति वसुदेव कुमार है!” यह सुनते ही नीलयशा वसुदेव को लेकर आकाश मार्ग में चली गयी।

दूसरे दिन सुबह बुढ़िया ने वसुदेव के पास पहुँच कर कहा—“हे कुमार! मेघप्रभ वन से घिरा हुआ यह हीमान पर्वत है। इस पर्वत पर ज्वलन का पुत्र अंगारक, जो चारण्यमुनिओं का आश्रम रूप है, वह अपनी विद्याओं को फिरसे सिद्ध कर रहा है। उसे अभी इस कार्य में बहुत समय लगेगा, किन्तु यदि आप उसे दर्शन दें, तो उसका यह कार्य शीघ्र सिद्ध हो जाने की संभावना है। क्या आप उस पर इतना उपकार न करेंगे?

वसुदेव ने कहा—“नहीं, उसके पास जाने की मेरी इच्छा नहीं है।”

इसके बाद वह बुढ़िया उन्हें वैताढ्य पर्वत पर शिवमन्दिर नामक नगर में ले गयी। वहाँ पर सिंहदंष्ट्र राजा ने सन्मानपूर्वक उन्हें अपने महल में ले जाकर उनके साथ अपनी कन्या नीलयशा का विवाह कर दिया।

इसी समय नगर में घोर कोलाहल मचा। यह देख वसुदेव ने द्वारपाल से पूछा, क्या मामला है? द्वारपाल ने कहा—“महाराज! शकटमुख नामक एक नगर है, वहाँ के राजा का नाम नीलवान और रानी का नाम नीलवती था। उनके नीलाञ्जना नामक एक कन्या और नील नामक एक पुत्र था। उन दोनों ने बाल्यावस्था में स्थिर किया था, कि यदि हमसे से किसी एक के पुत्री और दूसरे के पुत्र होगा, तो उन दोनों को ब्याह आपस में ही कर देंगे।

इसके बाद नीलाञ्जना का ब्याह हमारे राजा के साथ हुआ और उसके उदर से नीलयशा नामक पुत्री हुई, जिसका विवाह आपके साथ किया गया है। ऐसा करने का कारण यह था कि हमारे महाराज को एक बार वृहस्पति नामक मुनि ने बतलाया था कि नीलयशा का विवाह अर्ध भरत के स्वामी, विष्णु के पिता, यदुकुलोत्पन्न परम रूपवान वसुदेव कुमार के साथ होगा। इसीलिए

महाराज ने विद्या के बल आप को यहां बुलाकर आपके साथ उसका विवाह कर दिया है। उधर नीलकुमार के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम उसने नीलकण्ठ रखवा। नील ने उसके लिये नीलयशा की मंगनी की, किन्तु उसका विवाह आपके साथ हो जाने के कारण उसे निराश होना पड़ा। आज उसीने नीलकण्ठ के साथ यहां आकर बड़ा उत्पात मचाया है, किन्तु महाराज की आज्ञा से वह बाहर निकाल दिया गया है। यह कोलाहल इसीलिए मचा हुआ है, किन्तु अब डर की कोई बात नहीं है।”

वसुदेव यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और अपनी नव विवाहिता पत्नी के साथ आनन्दपूर्वक अपने दिन बिताने लगे। एक दिन शरद ऋतु में अनेक विद्याधर औषधियां लेने और विद्या की साधना करने के लिये हीमान पर्वत की ओर जा रहे थे। उन्हें देखकर वसुदेव ने नीलयशा से कहा—“मैं भी विद्याधरों की कुछ विद्याएं सीखना चाहता हूँ। क्या तुम इस विषय में मुझे अपना शिष्य बनाकर कुछ सिखा सकती हो?”

नीलयशा ने कहा—“क्यों नहीं? चलो, हम लोग इसी समय हीमान पर्वत पर चलें। मैं वहां तुम्हें बहुत सी बातें बतलाऊंगी।”

इतना कह वह वसुदेव को अपने साथ हीमान पर्वत पर ले गयी। किन्तु वहां का रमणीय दृश्य देखकर वसुदेव का चित्त चञ्चल हो उठा। उनकी यह अवस्था देखकर नीलयशा ने एक कदली वृक्ष उत्पन्न किया और उसी की शीतल छाया में वे दोनों क्रीड़ा करने लगे। इसी समय वहां एक माया मयूर आ पहुंचा। उसका सुन्दर रूप देखकर नीलयशा उस पर मुग्ध हो गयी और उसको पकड़ने की चेष्टा करने लगी। माया मयूर कभी नजदीक आता और कभी दूर भाग जाता, कभी झाड़ियों में छिप जाता और कभी मैदान में निकल जाता। नीलयशा उसको पकड़ने की इच्छा से कुछ दूर निकल गयी और अन्त में जब वह उसके पास पहुंची, तब उस मयूर ने अपने कन्धे पर नीलयशा को बैठा लिया। इसके बाद वह मयूर आकाशमार्ग द्वारा न जाने कहाँ चला गया।

वसुदेव उस मयूर की यह लीला देखकर पहले तो दंग रह गये, किन्तु बाद में वे भी उस के पीछे दौड़े। उन्होंने बहुत दूर तक उसका पीछा किया और बड़ा होहल्ला मचाया, किन्तु जब वह आंखों से ओझल हो गया, तब वे

लाचार होकर वहीं खड़े हो गये। उस समय शाम हो चली थी, इसलिये अब कहीं ठहरने का प्रबन्ध करना आवश्यक था। इसलिए वसुदेव ने इधर उधर देखा, तो उन्हें मालूम हुआ कि वे एक ब्रज (गायों को बन्द करने का स्थान) के निकट आ पहुँचे हैं। वहां जाने पर गोपियों ने उनका बड़ा ही सत्कार किया और उनके सोने के लिये शैय्यादिक का प्रबन्ध कर दिया। वसुदेव ने वह रात वहीं व्यतीत की। सुबह सूर्योदय के पहले ही वे उठ बैठे हाथ मुंह धो, दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े।

कुछ दूर आगे बढ़ने पर उन्हें गिरिवट नामक एक गाँव मिला उसमें जोरों के साथ वेदध्वनि हो रही थी। एक ब्राह्मण से इस का कारण पूछने पर उसने कहा—“हे कुमार! राजा रावण के समय में दिवाकर नामक एक विद्याधर ने अपनी पुत्री का विवाह नारद ऋषि के साथ किया था! उन्हीं के वंश का सुरदेव नामक एक ब्राह्मण इस समय इस गाँव का स्वामी है। उसकी क्षत्रिया नामक पत्नी से उसे सोमश्री एक कन्या उत्पन्न हुई है, जो वेदों की अच्छी जानकार मानी जाती है। इसके व्याह के सम्बन्ध में कराल नामक एक ज्ञानी से प्रश्न करने पर उसने बतलाया, कि जो वेदपाठ में इसे जीतेगा, उसी से इसका विवाह होगा। उनका यह वचन सुनकर सुरदेव ने इसी आशय की घोषणा कर दी है। इसीलिए अनेक युवक, जो उससे व्याह करने के लिये लालायित हैं, रात दिन वेद का अभ्यास करते रहते हैं। और ब्रह्मदेव नामक एक उपाध्याय उन्हें नियमित रूप से वेदों की शिक्षा देते हैं।

वसुदेव कुमार कौतुहल प्रेमी तो थे ही, इसलिए ब्राह्मण के यह वचन सुनकर पहले की भाँति यहां भी उन्हें दिह्लगी सूझी। वे तुरन्त एक ब्राह्मण का वेश धारण कर ब्रह्मदत्त के पास पहुँचे और उससे कहने लगे कि मैं गौतम गोत्रीय स्कन्दिल नामक ब्राह्मण हूँ और आप के निकट वेद पढ़ने आया हूँ। ब्रह्मदत्त ने इसके लिए सहर्ष अनुमति दे दी। बस, फिर क्या था, बात की बात में उन्होंने उनके समस्त शिष्यों से बाजी मार ली और अन्त में सोमश्री को पराजितकर उससे व्याह कर लिया।

वसुदेव कुमार अपनी इस ससुराल में भी बहुत दिनों तक आनन्द करते रहे। अन्त में एक दिन उद्यान में इन्द्रशर्मा नामक ऐन्द्रजालिक से उनकी भेंट हो

गयी। उसने उनकी इन्द्रजाल के अनेक अद्भुत चमत्कार कर दिखलाये। देखकर वसुदेव को भी वह विद्या सीखने की इच्छा हुई। इसलिए उन्होंने इन्द्रशर्मा से कहा—“यदि यह विद्या मुझे भी सिखायेंगे तो बड़ी कृपा होगी।”

इन्द्रशर्मा ने कहा—“बेशक, यह विद्या सीखने योग्य है। इसे सीखने में अधिक परिश्रम भी नहीं पड़ता। शाम से इसकी साधना आरम्भ की जाय, तो सुबह सूर्योदय के पहले ही पहले यह विद्या सिद्ध हो जाती है। परन्तु साधना के समय इसमें अनेक प्रकार के विघ्न और बाधाएँ आ पड़ती हैं। कभी कोई डराता है, कभी मारता है, कभी हँसता है और कभी ऐसा मालूम होता है, मानो हम किसी सवारी में बैठे हुए, कहीं चले जा रहे हैं। इसलिए इसकी साधना के समय एक सहायक की जरूरत रहती है।”

वसुदेव ने निराश होकर कहा—“यहां पर विदेश में मेरे पास सहायक कहां? क्या मैं अकेला इसे सिद्ध न कर सकूंगा?”

इन्द्रशर्मा ने कहा—“कोई चिन्ता की बात नहीं आप अकेले ही सिद्ध करिए। मैं आप की सहायता के लिए हर वक्त यहां पर मौजूद रहूंगा। काम पड़ने पर मेरी यह स्त्री-वनमाला भी हमें सहायता कर सकती है।”

इन्द्रशर्मा के यह वचन सुनकर वसुदेव यथाविधि उस विद्या की साधना करने लगे। रात के समय जब वह उस कपटी के आदेशानुसार जप तप में लीन हो गये, तब वह उन्हें एक पालकी में बैठाकर वहां से भाग चला। उसने वसुदेव को पहले ही समझा दिया था, कि साधना के समय इस तरह का भ्रम हो रहा है। इस प्रकार इन्द्रशर्मा रात भर में उन्हें गिरितट से बहुत दूर उड़ा ले गया। सुबह सूर्योदय होने पर वसुदेव विशेषरूप से सजग हुए यह बात उनकी समझ में आ गयी कि उन्हें वह कपटी विद्याधर पालकी में बैठाकर कहीं उड़ाये जा रहा है।

अब और अधिक समय उस पालकी में बैठना वसुदेव के लिए कठिन हो गया। वे तुरन्त उस पालकी से कूदकर एक और को भागे। यह देख, इन्द्रशर्मा ने उनका पीछा किया। वे जहाँ जाते, वहीं पर वह जा पहुँचा। दिन भर यह दौड़ होती रही। न तो वसुदेव ने ही हिमत छोड़ी न इन्द्रशर्मा ने ही उनका पीछा छोड़ा। अन्त में शाम के समय न जाने किस तरह उसे धोखा

देकर वसुदेव तृणशोषक नामक एक गांव में घुस गये और वहां के देवकुल में जाकर चुपचाप सो गये।

परन्तु बुरे समय में दीन दुःखी को कहीं भी शान्ति नहीं मिलती। उस देवकुल में भी रात के समय एक राक्षस ने आकर वसुदेव पर आक्रमण कर दिया। लाचार, वसुदेव को उससे भी युद्ध करना पड़ा। राक्षस बड़ा ही बलवान था इसलिए उसने वसुदेव को कई बार धर पटका किन्तु अन्त में वसुदेव ने मौका पाकर उसके हाथ पैर बांध दिये और जिस तरह धोबी शिला पर कपड़े पटकता है, उसी तरह उसे जमीन पर पटक कर मार डाला।

सुबह जब गांव के लोगों ने देखा कि वह राक्षस, जो नित्य उन्हें सताया करता था। देवकुल के पास मरा पड़ा है, तब उनके आनन्द का वारापार न रहा। उन्होंने वसुदेव को एक स्थल में बैठाकर सारे गांव में घुमाया और इस उपकार के बदले उनसे अपनी पांच सौ कन्याओं का विवाह कर देने की इच्छा प्रकट की। इस पर वसुदेव ने कहा—“पहले मुझसे इस राक्षस का हाल कह सुनाइए, फिर मैं तुम्हारे इस प्रस्ताव पर विचार करूंगा।”

वसुदेव का यह प्रश्न सुनकर एक बूढ़े आदमी ने कहा—“हे कुमार! कलिदेश में कांचनपुर नामक एक नगर है। वहां पर जितशत्रु नामक राजा राज्य करता है। उसी का यह सोदास नामक पुत्र है। यह बचपन से ही मांस का लोलुप था, किन्तु राजा ने समस्त जीवों को अभयदान दे रक्खा था। इसीलिए एक दिन इसने अपने पिता से कहा—“भुझे प्रतिदिन एक मयूर का मांस अवश्य मिलना चाहिए।” पिता को यह बात बिलकुल पसन्द न थी, फिर भी पुत्र स्नेह के कारण उसने उसकी बात मान ली। उसी दिन से उसका रसोइया मंशगिरि से प्रतिदिन एक मयूर ले आने लगा। एक दिन मारे हुए मयूर को बिल्ली उठा ले गयी, इससे रसोइये ने एक मरे हुए बालक का मांस पकाकर उसे खाने को दे दिया। उस मांस को खाते समय सोदास ने पूछा—“आज यह मांस अधिक स्वादिष्ट क्यों है?”

यह सुनते ही रसोइया पहले तो डर गया, किन्तु बाद में उसने सारा हाल उससे कह सुनाया। सुनकर सोदास ने आज्ञा दी मनुष्य का ही मांस पकाया जाय। परन्तु रसोइए के लिए प्रतिदिन मनुष्य का मांस लाना संभव न था,

इसलिए सोदास ने स्वयं इसका भार उठा लिया। वह रोज नगर से एक बालक मारकर उठा लाता था और रसोइया उसी का मांस उसे पका देता था। परन्तु इससे शीघ्र ही नगर में हाहाकार मच गया। जब यह बात उसके पिता को मालूम हुई तो उन्होंने उसकी बड़ी फजीहत की और उसे सदा के लिए अपने देश से निकाल दिया। उसी दिन से यह सोदास यहां पर चला आया था, और हमेशा कसी न किसी को मारकर खा जाता था। आज इसके मर जाने से हमलोग सदा के लिए निश्चिन्त हो गये। इस कार्य के लिए हम लोग आप को जितना धन्यवाद दें उतना ही कम है।”

वसुदेव यह वृत्तान्त सुनकर परम आनन्दित हुए और उन समस्त कन्याओं से उन्होंने सहर्ष ब्याह कर लिया। पश्चात् एक रात्रि वहां पर रहने के बाद वह दूसरे दिन सुबह अचल नामक गांव में चले गये। वहां पर एक सार्थवाह की मित्रश्री नामक पुत्री से उन्होंने ब्याह किया। किसी ज्ञानी ने पहले से ही उस सार्थवाह को बतलाया था कि मित्रश्री का विवाह वसुदेव के साथ होगा। उसका वह वचन आज सत्य प्रमाणित हुआ।

वहां से वेदसाम नगर की ओर जाने पर इन्द्रशर्मा की पत्नी वनमाला से उनकी भेंट हो गयी। वसुदेव उसे देखते ही चौकन्ने हो गये, किन्तु उसने उन्हें “देवर” शब्द से सम्बोधित कर उन्हें मीठी मीठी बातों से बड़ी सान्त्वना दी और उन्हें समझा बुझाकर अपने घर लेकर गयी। वहां पर उसने अपने पिता से उनका परिचय कराया। उसने वसुदेव से कहा—“हे कुमार! इस नगर के राजा का नाम कपिल है। उनके कपिला नामक एक कन्या है। कुछ दिन पहले उसके विवाह के सम्बन्ध में पूछताछ करने पर एक ज्ञानी ने बतलाया था कि “इसका विवाह वसुदेव कुमार के साथ होगा जो इस समय गिरितट नामक नगर में रहते हैं वे यहां आने पर स्फुल्लि वदन नामक अश्व का दमन करेंगे। यही उनकी पहचान होगी।” तब से हे कुमार! राजा तुम्हारी खोज में रहते हैं। बीच में उन्होंने मेरे जामाता इन्द्रशर्मा को तुम्हें ले आने के लिये भेजा था, किन्तु तुम कहीं बीच ही से गायब हो गये। अब संयोगवश यदि तुम यहां आ गये हो, तो उस अश्व को दमनकर कपिला से विवाह कर लो। यह तुम्हारे ही हित की बात है।”

वनमाला के पिता की यह सलाह वसुदेव ने सहर्ष मान ली। उन्होंने उस

अश्व का दमन कर कपिला से विवाह कर लिया। इसके बाद वे अपने श्वसुर और अपने साले अंशुमान के आग्रह से कुछ दिन वहां ठहर गये और उनका आतिथ्य ग्रहण करते रहे। इस बीच कपिला से उन्हें एक पुत्र हुआ जिसका नाम उन्होंने कपिल रक्खा।

एक दिन वसुदेव कुमार अपने श्वसुर की गजशाला में गये। वहां पर कौतूहल वश वे एक हाथी की पीठ पर चढ़ बैठे। किन्तु वह हाथी जमीन पर चलने के बदले उन्हें आकाशमार्ग में ले उड़ा। उसकी यह कपट लीला देख वसुदेव ने उसे एक मुक्का जमाया। मुक्का लगते ही वह एक सरोवर के तट पर जा गिरा और नीलकंठ नामक विद्याधर बन गया। यह वही विद्याधर था जो नीलयशा के विवाह के समय युद्ध करने आया था।

यहां से वसुदेव कुमार सालगुह नामक नगर में गये। वहाँ पर उन्होंने राजा भाग्यसेन को धनुर्वेद की शिक्षा दी। एक दिन भाग्यसेन के साथ युद्ध करने के लिये उसका बड़ा भाई मेघसेन नगर पर चढ़ आया, किन्तु वसुदेव कुमार ने उसे बुरी तरह मार भगाया, इस युद्ध में वसुदेव का पराक्रम देखकर दोनों राजा प्रसन्न हो उठे, भाग्यसेन ने प्रसन्न हो अपनी पुत्री पद्मावती से और मेघसेन ने अपनी पुत्री अश्वसेना से वसुदेव का विवाह कर दिया। कुछ दिनों तक उन दोनों के साथ दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर कुमार ने वहाँ से भी विदा ग्रहण की।

आगे बढ़ने पर वसुदेव की भदिलपुर नामक नगर मिला। वहां के राजा पुंढराज की मृत्यु हो गयी थी। पुंढराज के एक कन्या थी, किन्तु पुत्र एक भी न था। उस कन्या का नाम पूंढा था। वह औषधियों के प्रयोग से पुरुष का रूप धारण कर पिता का राज्य चलाती थी। वसुदेव ने बुद्धिबल से तुरन्त जान लिया कि यह पुरुष नहीं, बल्कि स्त्री है। वसुदेव को देखकर पूंढा के हृदय में भी अनुराग उत्पन्न हो गया था, इसलिये उसने वसुदेव के साथ ब्याह कर लिया। पश्चात् उसके उदर से पुंढ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो आगे चल कर उसी राज्य का अधिकारी हुआ।

एक दिन रात्रि के समय हंस का रूप धारण कर अंगारक विद्याधर ने कपट पूर्वक वसुदेव को गंगा नदी में फेंक दिया, किन्तु वसुदेव किसी तरह

तैरकर उससे बाहर निकल आये। वहां से वे इलावर्धन नामक नगर में गये। वहां पर वे एक सार्थवाह की दुकान पर बैठकर विश्राम करने लगे। इतने में कुमार के प्रभाव से उस दिन दुकानदार को लाख रुपये का मुनाफा हुआ। इससे वह दुकानदार उन्हें सोने के रथ में बैठाकर अत्यन्त सम्मानपूर्वक अपने घर ले गया। वहां उसने अपनी रत्नवती नामक कन्या से उनका विवाह कर दिया। तदनन्तर वसुदेव अपने इस श्वसुर के आग्रह से कुछ दिनों के लिए वहीं ठहर गये।

एक दिन महापुर नामक नगर में इन्द्रमहोत्सव था, इसलिए वसुदेव अपने श्वसुर के साथ एक दिव्य रथपर बैठ कर उसे देखने गये। वहां पर नगर के बाहर एक समान नये मकानों को देखकर वसुदेव ने पूछा—“यहां पर सब नये ही नये मकान क्यों दिखायी देते हैं?”

सार्थवाह ने कहा—“यहां के राजा वसुदेव के सोमश्री नामक एक कन्या है। उसके स्वयंवर के लिये यह सब मकान बनाये गये थे। स्वयंवर में अनेक राजा आये थे, परन्तु उनमें कोई विशेष चतुर न होने के कारण वे सब ज्यों के त्यों लौटा दिये गये। सोमश्री अब तक अविवाहिता ही है।”

इस तरह की बातचीत करते हुए वे दोनों जन शक्रस्तम्भ के पास पहुंचे और उसे वन्दन कर एक और खड़े हो गये। उसी समय राजपरिवार की महिलाएँ भी रथ में बैठकर वहां आयीं और शक्रस्तम्भ को वन्दनकर महल की ओर लौट पड़ी। इतने ही में एक मदोन्मत्त हाथी जंजीर को तोड़कर वहां आ पहुंचा और भीड़ में इधर उधर चक्कर काटने लगा। यह देखते ही चारों ओर भगदड़ मच गयी। किसी को वह सूंड में लपेटकर इधर उधर फेंक देता और किसी को पैर के नीचे कुचल डालता। अचानक एक बार वह राजकुमारी के रथ के पास जा पहुँचा और उसे उसने रथ से गिरा दिया। सब लोगों को तो उस समय अपने अपने प्राणों की पड़ी थी, इसलिए किसी का भी ध्यान उसकी ओर आकर्षित न हुआ। बेचारी राजकुमारी को असहाय और संकटावस्था में देखकर वसुदेव वहां दौड़ आये और उस हाथी को वहां से खदेड़ने लगे। वह हाथी इससे और भी उत्तेजित हो उठा और राजकुमारी को छोड़कर वसुदेव की ही ओर झपट पड़ा। वसुदेव ने युक्ति से काम लेकर उस हाथी को तुरन्त अपने

वश में कर लिया। पश्चात् हाथी से अलग होने पर वसुदेव कुमार ने राजकुमारी को उठा लिया और उपचार करने के लिए उसे पास के एक मकान में रख दिया। उस समय वह भय और आघात से मूर्च्छित हो गयी थी। पर जब उसे होश आया और वह स्वस्थ हुई तब उसकी दासियाँ उसे वासस्थान को ले गयी।

इसी नगर में रत्नवती की एक बहिन कुबेर सार्थवाह को व्याही गयी थी। उससे भेंट हो जाने पर वह वसुदेव को एवं उसके श्वसुर बड़े सम्मान पूर्वक अपने मकान पर ले गया। वहां पर उसने भोजनादिक द्वारा उनका बड़ा ही सत्कार किया। पश्चात् भोजनादिक से निवृत्त हो ज्यों ही एक कमरे में बैठे त्यों ही सोमदत्त राजा का मन्त्री वहां आ पहुंचा। उसने वसुदेव को प्रणाम कर नम्रता पूर्वक कहा—“हे कुमार! यह तो आप जानते ही होंगे, कि हमारे राजा के सोमश्री नामक एक कन्या है। पहले उसने स्वयंवर द्वारा अपना विवाह करना स्थिर किया था। परन्तु बीच में सर्वाण साधु के केवलज्ञान महोत्सव में पधारे हुए देवताओं को देखकर उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया और तब से अपना वह विचार छोड़कर उसने मौनावलम्बन कर लिया हैं।

उसकी यह अवस्था देखकर हमारे महाराज बहुत चिन्तित हो उठे, किन्तु मैं उन्हें सान्त्वना दे, एक दिन राजकुमारी से एकान्त में मिला। राजकुमारी मुझे पिता के समान ही आदर की दृष्टि से देखती है। उसने मुझसे बतलाया कि—“पूर्वजन्म में मेरा पति एक देव था। और देवलोक में हम दोनों के दिन बड़े आनन्द में कटते थे। एक दिन हम लोग अरिहन्त का जन्म महोत्सव देखने के लिये नन्दीश्वरादिक की यात्रा करने गये। वहां से वापस आने पर मेरा वह पति देवलोक से च्युत हो गया। इससे मैं शोकविह्वल हो, उसे खोजती हुई भरतक्षेत्र के कुरुदेश में जा पहुंची। वहां पर दो केवलियों से मेरी भेंट हो गयी। मैंने उनसे पूछा—“हे भगवन् । क्या आप बतला सकते हैं कि मेरा पति स्वर्ग से च्युत होकर कहाँ उत्पन्न हुआ है?”

केवली ने कहा—“तुम्हारे पति ने हरिवंश के राजा के यहाँ जन्म लिया है। तुम भी देवलोक से च्युत होकर एक राजपुत्री के रूप में जन्म लोगी। तुम्हारे नगर में एक बार इन्द्र महोत्सव होगा, उसमें हाथी के आक्रमण से तुम्हें

बचाकर फिर वही तुम्हारा पाणिग्रहण करेगा।”

केवली के यह वचन सुनकर मैं आनन्दपूर्वक उन्हें वन्दन कर अपने वासस्थान को चली गयी। इसके बाद स्वर्ग से च्युत होकर मैं सोमदत्त राजा के यहां पुत्री रूप में उत्पन्न हुई हूँ। पहले यह सब बातें मुझे मालूम न थी, किन्तु सर्वाण साधु के केवल महोत्सव में देवताओं को देखकर मुझे जाति स्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ और यह सब बातें मुझे ज्ञात हो गयी। यही कारण है कि मैंने अब स्वयंवर का विचार छोड़कर विवाह के सम्बन्ध में मौनावलम्बन कर लिया है।”

यह सब वृत्तान्त वसुदेव को सुनाकर सोमदत्त के मन्त्री ने उनसे कहा—
“हे वसुदेव कुमार! यह सब बातें मैंने महाराज से बतला दी थी और उस दिन से वे शान्त हो गये थे। आज राजकुमारी को आपने हाथी से बचाया है, इसलिए राजकुमारी और महाराज आदि आप को पहचान गये हैं। उन्हीं के आदेश से मैं आप को बुलाने आया हूँ। कृपा कर आप मेरे साथ चलिये और राजकन्या का पाणिग्रहण कर उसका जीवन सार्थक कीजिए।” मन्त्री की यह प्रार्थना सुनकर, वसुदेवकुमार उसके साथ राजा सोमदत्त के पास गये और वहां पर राजकुमारी का पाणिग्रहण कर वे उसका आतिथ्य ग्रहण करने लगे।

एक दिन रात्रि के समय वसुदेव ने देखा, कि शैय्या पर उनकी पत्नी का पता नहीं है। इससे वे बहुत ही दुःखित हो गये और उसकी खोज करने लगे। तीसरे दिन एक उपवन में उसे देखा तो उन्होंने कहा—“प्रिये! मुझसे ऐसा कौनसा अपराध हुआ है, जिसके कारण तुम इस तरह रूष्ट होकर मुझे परेशान कर रही हो।”

कुमारी ने कहा—“हे प्राणेश! आपके कल्याणार्थ मैंने एक व्रत लिया था। जिसमें तीन दिन तक मौन रहकर वह व्रत पूर्ण किया है। अब उसकी पूर्णाहुति में केवल एक ही बात की कसर है। वह यह कि, आपको देवी का पूजन कर मुझसे पुनः पाणिग्रहण करना पड़ेगा। ऐसा करने से हम लोगों का जीवन और भी प्रेममय बन जायगा।”

उसकी यह बात सुनकर वसुदेव बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने उसके कथनानुसार फिर से उसका पाणिग्रहण भी किया। यह सब काम निपटने के

बाद उसने देवी का प्रसाद कहकर वसुदेव को मदिरा भी पिला दी। इससे वसुदेव ने उन्मत्त हो वह रात आनन्दपूर्वक व्यतीत की। सुबह नींद खुलने पर वसुदेव ने देखा, कि सोमश्री के बदले उनकी शैथ्यापर कोई दूसरी ही सुन्दरी! तुम कौन हो? तुम कौन हो? मेरी सोमश्री कहाँ है?"

उस सुन्दरी ने मुस्कुरा कर कहा—“प्राणनाथ! दक्षिण श्रेणी में सुवर्णाभ नामक एक नगर है। वहाँ के राजा का नाम चित्र और रानी का नाम अंगारवती है। उन्हींकी मैं कन्या हूँ। मेरा नाम वेगवती है। मेरे एक भाई भी है। जिसका नाम मानसवेग है। मानसवेग को राज्यभार सौंपकर मेरे पिता ने दीक्षा ले ली है। मेरा भाई दुराचारी है और उसीने आपकी स्त्री का हरण किया है। उसने मेरे द्वारा उसे फुसलाने की बड़ी चेष्टा की, किन्तु उसने एक न सुनी। उलटे उसी ने मुझको अपनी सखी बनाकर आपको लाने के लिए यहाँ पर भेजा। तदनुसार मैं यहाँ आयी, किन्तु आपको देखकर मैं आप पर मुग्ध हो गयी, इसलिए मैंने सोमश्री का सन्देश आपसे न कहकर, उसका रूप धारणकर छलपूर्वक आप से व्याह कर लिया है। हे नाथ! यही सच्च वृत्तान्त है। मुझे आशा है कि आप मेरी यह धृष्टता क्षमा करेंगे।”

वसुदेव ने अब ओर कोई उपाय न देख, उसका अपराध क्षमा कर दिया। सुबह वेगवती को देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वसुदेव की आज्ञा से उसने सोमश्री के हरण का समाचार लोगों को कह सुनाया।

एक दिन वसुदेव जब अपनी इस पत्नी के साथ थे, तब उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानो मानसवेग खेचर उन्हें उठाये लिये जा रहा है। शीघ्र ही उन्होंने सावधान होकर उसके एक ऐसा मुक्का जमाया, कि वह उसकी चोट से तिलमिला उठा और वसुदेव को उसने गंगा की धारा में फेंक दिया। संयोगवश वसुदेव चण्डवेग नामक एक विद्याधर के कन्धे पर जा गिरे। उस समय वह विद्याधर गंगा में खड़ा-खड़ा कोई विद्या सिद्ध कर रहा था। वसुदेव ज्यों ही उसके कन्धे पर गिरे त्योंही वह विद्या सिद्ध हो गयी। यह देखकर उस विद्याधर ने कहा—“हे महात्मन्! आप मेरी विद्यासिद्धि में कारणरूप हुए हैं, इसलिए कहिए, मैं अब आपकी क्या सेवा करूँ? आपको क्या दूँ?”

कुमार ने कहा—“हे विद्याधर! यदि तुम वास्तव में प्रसन्न हो और मुझे

कुछ देना ही चाहते हो तो, मुझे आकाश गामिनी विद्या दो। उसकी मुझे बड़ी जरूरत है।

विद्याधर “तथास्तु” कह, अपने वासस्थान को चला गया। पश्चात् वसुदेव कनखलपुर के द्वार के निकट साधना कर उस विद्या को सिद्ध करने लगे। उसी समय कहीं से राजा विद्युद्वेग की मदनवेगा नामक पुत्री वहां पर आ पहुंची। वह वसुदेव को देखते ही उन पर अनुरक्त हो गयी और उन्हें वैताढ्य पर्वत पर उठा ले गयी। वहां पर उन्हें पुष्पायन नामक उद्यान में छोड़कर स्वयं अमृतधारा नामक नगर में चली गयी। दूसरे दिन, सुबह दधिवेग, दण्डवेग और चण्डवेग (जिस ने वसुदेव को आकाशगामिनी विद्या दी थी) नामक उसके तीनों भाई वसुदेव के पास आये और उन्हें सम्मान पूर्वक अपने नगर में ले जाकर मदनवेगा के साथ उनका विवाह कर दिया। इसके बाद वसुदेव बहुत दिनों तक उसके साथ मौज करते रहे। इसी बीच में वसुदेव को प्रसन्न कर मदनवेगा ने एक वर मांगा जो उन्होंने उसे देना स्वीकार कर लिया।

एक दिन दधिमुख ने वसुदेव के पास आकर कहा—दिवस्तिलक नामक नगर में त्रिशिखर नामक राजा राज्य करता है। उसके सुर्पक नामक एक पुत्र है। उसके साथ ब्याह करने के लिये उसने हमारे पिता के निकट मदनवेगा की मंगनी की, परन्तु हमारे पिताजी ने इसके लिए इन्कार कर दिया। ऐसा करने का कारण यह था कि मदनवेगा के ब्याह के सम्बन्ध में एक चारणमुनि ने पिताजी को बतलाया था कि मदनवेगा का विवाह हरिवंशोत्पन्न वसुदेव कुमार के साथ होगा। वे विद्या की साधना करते हुए चण्डवेग के कन्धे पर रात्रि के समय गिरेंगे और उनके गिरते ही चण्डवेग की विद्या सिद्ध हो जायगी। इसलिए पिताजी ने त्रिशिखर राजा के पुत्र सुर्पक से मेरी मंगनी की बात स्वीकार नहीं की। किन्तु इससे त्रिशिखर राजा रुष्ट हो गया और हमारे नगर पर आक्रमण कर हमारे पिताजी को कैद कर ले गया है। अतएव निवेदन है, कि आप ने हमारी बहिन मदनवेगा को जो वर देना स्वीकार किया है। उसके अनुसार आप हमारे पिताजी को छुड़ाने में सहायता कीजिए इससे हम लोग सदा के लिए आप के ऋणी बने रहेंगे।

इतना कह, दधिमुख ने कई दिव्य शस्त्र वसुदेव के सामने रखते हुए

कहा—“हमारे वंश के मूल पुरुष नमि थे। उनके पुत्र पुलस्त्य और पुलस्त्य के वंश में मेघनाद उत्पन्न हुए। मेघनाद पर प्रसन्न हो सुभुम चक्रवर्ती ने उन्हें दो श्रेणियां और ब्राह्म तथा आग्नेयादिक शस्त्र प्रदान किये थे। इसी वंश में रावण और विभीषण भी उत्पन्न हुए। मेरे पिता विद्युद्वेग विभीषण के ही वंशज है। इसलिए ये सब शस्त्र उसी समय से हम लोग अपने काम में लाते चले आ रहे हैं। अब मैं इन्हें आपको अर्पण करता हूँ। आशा है ये आपको बड़े काम देंगे। हमारे जैसे मन्द भाग्यों के लिए ये बेकार हैं।

वसुदेव ने वे सब शस्त्र सहर्ष स्वीकार कर लिये। किन्तु सिद्ध किये बिना वे सब व्यर्थ थे, इसलिए वसुदेव ने साधना कर शीघ्र ही उन्हें सिद्ध कर लिया।

उधर त्रिशिखर को ज्योंही यह मालूम हुआ, कि मदनवेगा का विवाह एक भूचर (मनुष्य) से कर दिया गया है, त्योंही वह आग बबूला हो अमृतधारा नगर पर आक्रमण करने के लिए आ धमका। उधर वसुदेव तो उससे युद्ध करने के लिए पहले से ही तैयार थे, इसलिए तुण्ड विद्याधर के दिये हुए मायामय सुवर्ण रथ पर बैठ, दधिमुखादिक के साथ ले, वे उसके सामने जा डटे और वीरता पूर्वक उससे युद्ध करने लगे। थोड़ी ही देर में उन्होंने इन्द्रास्त्र द्वारा उसका शिर धड़ से अलग कर दिया। इसके बाद दिवस्तिलक नगर में जाकर उन्होंने अपने श्वसुर को बन्धन मुक्त किया। वहां पर और भी कई दिनों तक उन्होंने निवास किया। इस बीच मदनवेगा ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम अनाधृष्टि रक्खा गया।

वसुदेव के रूप और गुणों पर समस्त विद्याधर और विद्याधरियाँ मुग्ध रहा करती थी। वे जिधर निकलते लोगों की आंखे उन पर गड़ जाया करती थी। एक बार उन्होंने सिद्धायतन की यात्रा की, वहां से वापस आने पर उन्होंने एक दिन मदनवेगा को अपने पास बुलाया, किन्तु भूल से मदनवेगा के बदले उनके मुख से कहीं वेगवती का नाम निकल गया इससे मदनवेगा रुष्ट होकर अपने शयनागार में चली गयी, क्योंकि स्त्रियां स्वभाव से ही सौत का नाम सुनना पसन्द नहीं करती। खैर, वसुदेव ने इस पर कोई ध्यान भी न दिया।

परन्तु त्रिशिखर की पत्नी सुर्पणखा वसुदेव से अपने पति का बदला

चुकाने के लिये व्याकुल हो रही थी। इसलिए वह इसी समय मदनवेगा का रूप धारण कर वहां आ पहुंची और मन्त्रबल से मकान में आग लगा कर वसुदेव को हरण कर ले गयी। उसने उन्हें मार डालने की इच्छा से आकाश में खूब ऊँचे ले जाकर वहां से उन्हें छोड़ दिया, किन्तु जिस पर भगवान की दया होती है, उसे कौन मार सकता है? वसुदेव राजगृह के निकट घास की एक ढेरी पर आ गिरे, जिससे उनका बाल भी बांका न हुआ।

आस पास के लोगों के मुंह से जरासन्ध का नाम सुनकर वसुदेव समझ गये कि यह राजगृह है। वे वहां से उठकर जुवारियों के एक अड्डे में गये और वहां बात की बात में एक करोड़ रुपये जीतकर, उन्होंने वह धन याचकों को दान दे दिया। उनका यह कार्य देखकर राजकर्मचारियों ने उन्हें बन्दी बनाकर, राजा के पास ले जाने की तैयारी की। यह देख, वसुदेव ने कहा—“भाई! मैंने तो कोई अपराध किया ही नहीं है, फिर तुम लोग मुझे क्यों कैद कर रहे हो?”

राजकर्मचारियों ने कहा—“एक ज्ञानी ने हमारे राजा जरासन्ध को बतलाया है कि प्रातःकाल में करोड़ रुपये जीतकर जो याचकों को दान देगा, उसीके पुत्र द्वारा तुम्हारी मृत्यु होगी। इसी से हम लोगों ने आपको कैद किया है। अब राजा के आदेशानुसार आपको प्राणदण्ड दिया जायगा।”

इतना कह वे लोग वसुदेव को चमड़े के एक थैले में बन्दकर एक पर्वत पर ले गये और वहां से उन्होंने उन्हें नीचे ढकेल दिया। किन्तु वेगवती की धात्री ने उन्हें बीच ही में गोंच कर उन के प्राण बचा लिये। इसके बाद वह उन्हें वेगवती के पास ले जाने लगी। किन्तु वसुदेव तो चमड़े के थैले में बन्द थे, इसलिये उन्हें यह न मालूम हो सका कि मुझे कौन लिये जा रहा है। वे अपने मन में कहने लगे कि शायद चारुदत्त की तरह मुझे भी भारण्ड ने पकड़ लिया है और वहीं मुझे कहीं लिये जा रहा है।

थोड़ी ही देर में वह धात्री पर्वत पर जा पहुंची और वहां पर उसने वसुदेव को जमीन पर रख दिया। इतने ही में वसुदेव ने थैले के एक छिद्र से देखा तो उन्हें वेगवती के पैर दिखायी दिये। वह छूरी से थैले को काट रही थी। थैला काटते ही वसुदेव उसमें से बाहर निकल आये और वेगवती—“हे

नाथ! हे नाथ! कहती हुई लता की भांति उनके कंठ में लिपट आयी। वसुदेव भी उसे आलिंगन कर नाना प्रकार के मधुर वचनों द्वारा उसे सान्त्वना देने लगे। जब वह शान्त हुई तब उन्होंने उससे पूछा—“प्रिये! तुम्हें मेरा पता किस प्रकार मिला?” तुमने मुझे कैसे खोज निकाला?”

वेगवती ने कहा—“हे नाथ! शय्या से उठने पर जब मैंने आपको न देखा तब मैं व्याकुल हो उठी और आपके वियोग से दुःखित हो, करुण क्रन्दन करने लगी। इतने में प्रज्ञप्ति विद्या ने मुझ से आपके हरण और पतन का हाल बतलाया। इसके बाद आप का क्या हुआ, या आप कहाँ गये—यह मुझे किसी तरह मालूम न हो सका। मैंने सोचा कि शायद आप किसी ऋषि के पास गये होंगे और उसी के प्रभाव से प्रज्ञप्ति विद्या आपका हाल बतलाने में असमर्थ है।

इसके बाद मैं बहुत दिनों तक आपकी राह देखती रही किन्तु जब आप वापस न आये, तब मैं राजा की आज्ञा लेकर आपको खोजने के लिए निकल पड़ी। थोड़े ही दिनों के अन्दर मैं ने न जाने कहाँ कहां की खाक छान डाली। अन्त में मदनवेगा के साथ सिद्धायतन की यात्रा करते हुए मैंने आपको देखा। और उसी समय से अदृश्य रहकर मैंने आपका पीछा किया। सिद्धायतन से लौटने पर जिस समय आप के मुख से मेरा नाम निकला, उस समय भी मैं वहीं उपस्थित थी। उस समय आप का प्रेम देखकर आप के मुख से अपना नाम सुनकर मेरा कलेजा बल्लियों उछलने लगा। मैं उस समय अपने आपको भूल गयी। मैं उसी समय अपने को प्रकट भी कर देती, किन्तु इसी समय सूर्पणखा ने मकान में आग लगाकर आप का हरण कर लिया।

अब उसका पीछा करने के सिवा मेरे लिये और कोई चारा न था। मैंने मानसवेग का रूप धारण कर उसका पीछा किया, किन्तु वह विद्या और औषधियों में मुझ से चढ़ी बढ़ी थी, इसलिए मुझे देख, उसने अपने पीछे न आने का संकेत किया। अपनी निर्बलता के कारण उसके मुकाबले में मुझे जब दब जाना पड़ा। मैं घबड़ा कर वहां से एक चैत्य की ओर भागी और असावधानी के कारण एक साधु को लांघ गयी। इस पातक से मेरी विद्याएँ भी नष्ट हो गयी और मैं बहुत निराश हो गयी। इतने ही में मुझे मेरी धाय माता

मिल गयी। मैंने उसे आप की खोज करने का काम सौंपा और वही आप को पर्वत से गिरते समय गोंचकर मेरे पास ले आयी है। हे नाथ! इस समय जहां हम लोग खड़े हैं और जहां हम लोगों का यह पुनर्मिलन हुआ है, वह स्थान पद्मनन्द हीमन्त तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है। इसका नाम तो आप ने पहले भी सुना होगा।”

वेगवती की यह बातें सुनकर वसुदेव को परम सन्तोष हुआ। उन्होंने वेगवती को बार-बार गले लगाकर अपने आन्तरिक प्रेम का परिचय दिया। इसके बाद वे दोनों जन एक तापस के आश्रम में गये और उसकी आज्ञा प्राप्त कर वहीं पर निवास करने लगे।

एक दिन वसुदेव और वेगवती नदी के तटपर बैठे हुए प्रकृति के अपूर्व दृश्यों का रसास्वादन कर रहे थे। उसी समय उन्हें नदी में एक कन्या दिखायी दी, जो नागपास से बँधी हुई थी और उन्हीं की ओर बहती हुई चली आ रही थी। यह देख, वेगवती ने वसुदेव से उसे बचाने की प्रार्थना की, अतः वे उसे बाहर निकाल आये और बन्धनमुक्त कर उसकी मूर्च्छा दूर की। स्वस्थ होने पर कन्या ने तीन प्रदक्षिणाएँ देकर वसुदेव से कहा—“हे महापुरुष! आपके प्रभाव से मेरी विद्याएं सिद्ध हुई हैं, इसलिए मैं आपको अनेकानेक धन्यवाद देती हूँ। शायद आप मेरा परिचय जानने लिये उत्सुक होंगे, इसलिए मैं आप को अपना वृत्तान्त सुनाती हूँ, सुनिए—

वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में गगनवल्लभपुर नामक एक नगर था। उसमें नमिर्वंशोत्पन्न विद्युतदंष्ट्र नामक एक राजा राज्य करता था। एक बार वह पश्चिम महाविदेह में गया। वहां पर एक प्रतिमाधारी मुनि को देखकर उसने अपने विद्याधरों से कहा—“यह मुनि तो बड़ा ही उपद्रवी मालूम होता है, इसलिए इसे वरुण पर्वत पर ले जाकर मार डालो। उसकी यह बात सुनकर विद्याधरों ने उसे बहुत मारा किन्तु शुक्लध्यान के योग से उस मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। फलतः केवलज्ञान की महिमा करने के लिए धरणेन्द्र वहां पर उपस्थित हुए। उन्होंने मुनि के विरोधियों पर क्रोध कर उन्हें विद्याभ्रष्ट बना दिया।

अपनी यह अवस्था देखकर सब विद्याधर गिड़गिड़ाने लगे। उन्होंने

दीनता पूर्वक कहा—“हे स्वामिन्! हम नहीं जानते कि यह कौन हैं? हमने इन पर जो कुछ अत्याचार किया है, वह विद्युतदंष्ट्र के आदेश से ही किया है। आप हमारा यह अपराध क्षमा कीजिए।

धरणेन्द्र ने कहा—“मैं इन मुनिराज के केवलज्ञान का महोत्सव करने आया हूँ। तुम लोगों ने बड़ा ही बुरा काम किया है। वास्तव में तुम बड़े पापी हो-बड़े अज्ञानी हो। मैंने तुम्हें जो दण्ड दिया है, वह सर्वथा उचित ही है, किन्तु तुम्हारी विनय अनुनय सुनकर मुझे फिर तुम पर दया आती है। खैर, तुम्हारी विद्याएँ फिर सिद्ध हो सकेगी, किन्तु इसके लिए तुम्हें बड़ी चेष्टा करनी पड़ेगी। साथ ही यदि तुम लोग भूलकर भी कभी तीर्थकर, साधु और श्रावकों से द्वेष करोगे, तो क्षणमात्र में तुम्हारी विद्याएँ नष्ट हो जायगी। पापी विद्युतदंष्ट्र का अपराध तो बड़ा ही भयंकर और अक्षम्य है। उसे रोहिणी आदि विद्याएँ किसी भी अवस्था में सिद्ध न होगी। उसके वंशवालों को भी इन विद्याओं से वंचित रहना पड़ेगा। हां, यदि उन्हें किसी साधु या महापुरुष के दर्शन हो जायेंगे, तो उसके प्रभाव से यह अभिशाप नष्ट हो जायगा और उस अवस्था में वे इन विद्याओं को प्राप्त कर सकेंगे।”

इतना कह धरणेन्द्र अपने वासस्थान को चले गये। विद्युतदंष्ट्र के वंश में आगे चलकर केतुमती नामक एक कन्या उत्पन्न हुई, जिसका ब्याह पुंडरीक वसुदेव के साथ हुआ। उसने विद्याएँ सिद्ध करने के लिए बड़ी चेष्टा की, किन्तु धरणेन्द्र के अभिशाप से कोई फल न हुआ। उसी वंश में मेरा जन्म हुआ और मैंने भी विद्याएँ सिद्ध करने के लिए बड़ा उद्योग किया। किन्तु यदि सौभाग्यवश आपका दर्शन न होता तो मेरा भी वह उद्योग कदापि सफल न होता। मेरा नाम बालचन्द्रा है। आपकी ही कृपा से मेरी विद्याएँ सिद्ध हुई हैं, इसलिए मैं आपसे ब्याह कर सदा के लिए आपकी दासी बनना चाहती हूँ। इसके अलावा आप मुझसे जो मागें, वह भी मैं देने के लिए तैयार हूँ।

यह सुनकर वसुदेव ने कहा—“हे सुन्दरी! क्या तुम वेगवती को विद्या दे सकती हो? मुझे उसकी आवश्यकता है।”

बालचन्द्रा ने सहर्ष विद्या वेदवेती को दे दी। इसके बाद वह गगनवल्लभपुर को चली गयी और वसुदेव अपने वासस्थान-तापस आश्रम को लौट आये।

वहां आने पर वसुदेव ने दो राजाओं को देखा, जिन्होंने उसी समय व्रत ग्रहण किया था और जो अपने पौरुष की निन्दा कर रहे थे। उनसे उद्वेग का कारण पूछने पर उन्होंने वसुदेव से कहा—

श्रावस्ती नगरी में एणीपुत्र नामक एक राजा है, जो बहुत ही पवित्रात्मा है। उसने अपनी पुत्री प्रियंगुमञ्जरी के स्वयंवर के लिए अनेक राजाओं को निमन्त्रित किया था, परन्तु उसकी पुत्री ने उनमें से किसी को भी पसन्द न किया। इससे उन राजाओं ने रुष्ट होकर युद्ध करना आरम्भ किया परन्तु प्रियंगुमञ्जरी के पिता एणीपुत्र ने अकेले ही सबको पराजित कर दिया। उनके भय से न जाने कितने राजा भाग गये, न जाने कितने पर्वतों में जा छिपे और न जाने कितने जल में समा गये। हम दोनों भी वहां से भागकर यहां चले आये और अपना प्राण बचाने के लिए हमने यह तापस वेश धारण कर लिया है। हे महापुरुष! हमें अपनी इस कायरता के लिए बड़ा ही अफसोस ही रहा है।”

यह सुनकर वसुदेव ने पहले तो उन्हें सान्त्वना दी और बाद में जब वे शान्त हुए तब उन्हें जैन धर्म का उपदेश दिया। इससे उन्होंने जैन धर्म की दीक्षा ले ली। इसके बाद वसुदेव श्रावस्ती नगर में गये। वहां पर एक उद्यान में उन्होंने एक ऐसा देवमन्दिर देखा, जिसके तीन दरवाजे थे, मुख्य द्वार में बत्तीस ताले थे, इसलिये वे दूसरे द्वार से प्रवेश कर उसके अन्दर पहुँचे। वहां पर देवगृह में उन्होंने तीन मूर्तियां देखी, जिनमें से एक किसी ऋषि की, एक किसी गृहस्थ की और एक तीन पैर के भैंसे की थी। इन मूर्तियों को देखकर उन्होंने एक ब्राह्मण से इसके सम्बन्ध में पूछताछ की।

उसने कहा—यहां पर जितशत्रु नामक एक राजा थे, जिनके मृगध्वज नामक एक पुत्र था। उन्हीं के जमाने में यहां पर कामदेव नामक एक वणिक् भी रहता था। वह एक बार अपनी पशुशाला में गया। वहां पर दण्डक नामक गोपाल ने एक भैंस को दिखलाते हुए उससे कहा—“अब तक इस भैंस के पांच बच्चों को मैं मार चुका हूं। यह इसका छठा बच्चा है। यह देखने में बहुत ही मनोहर है। यह जन्मते ही भय से कांपने लगा और दीनतापूर्वक मेरे पैरों पर गिर पड़ा। इससे मुझे इस पर दया आ गयी और मैंने इसे जीता छोड़ दिया। अब आप भी इसे अभयदान दीजिए। मालूम होता है कि यह कोई जातिस्मरण ज्ञान वाला जीव है।”

यह सुनकर कामदेव उस महिष को श्रावस्ती में ले गया और वहां पर राजा से भी प्रार्थना कर उसने उसे अभयदान दिलाया। तब से वह महिष निर्भय होकर नगर में विचरण करने लगा। एक दिन राजकुमार मृगध्वज ने उसका एक पैर काट डाला। राजा को यह हाल मालूम होने पर वह सख्त नाराज हुए और उन्होंने कुमार को बहुत कुछ भला बुरा कहा। इससे कुमार को वैराग्य सा आ गया और उसने उसी दिन दीक्षा ले ली। इसके अठारहवें दिन उस महिष की मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् बाइसवें दिन मृगध्वज को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इस अवसर पर अनेक सुर, असुर, विद्याधर और राजाओं ने उनकी सेवा में उपस्थित हो उन्हें वन्दन किया और उन्होंने सब को धर्मोपदेश दिया। उपदेश समाप्त होने पर राजा जितशत्रु ने पूछा—“हे प्रभो! उस महिष के साथ आप का कौन ऐसा वैर था, जिससे आपने उसका पैर काट डाला था?”

केवली ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—“एक समय इस देश में अश्वग्रीव नामक एक अर्ध चक्रवर्ती राजा था। उसके मन्त्री का नाम हरिश्मश्रु था। वह नास्तिक था, इसलिए सदा धर्म की निन्दा किया करता था और राजा आस्तिक था, इसलिए वह सदा धार्मिक कार्यों का आयोजन किया करता था। इस प्रकार के विरोधी कार्यों से उन दोनों का विरोध उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। अन्त में वह दोनों त्रिपृष्ठ और अचल द्वारा मारे गये और सातवें नरक के अधिकारी हुए। वहां से निकलकर वे दोनों न जाने कितनी योनियों में भटकते रहे। अन्त में अश्वग्रीव का जीव मैं तुम्हारा पुत्र हुआ और हरिशम्भु का जीव भैंसे के रूप में उत्पन्न हुआ। पूर्व जन्म के वैर के कारण मैंने उसका पैर काट डाला। मृत्यु के बाद वही लोहिताक्ष नामक असुर हुआ है, जो इस समय मुझे वन्दन करने आया है। इस प्रकार हे राजन्! यह संसार बहुत ही विचित्र है। यहां पर कोई भी काम बिना कारण के नहीं होता। मनुष्य अज्ञान के कारण इन बातों को समझ नहीं सकता, इसलिए वह कुछ का कुछ मान बैठता है।”

उसके बाद लोहिताक्ष नामक उस असुर ने मुनि को वन्दन कर मृगध्वज ऋषि, कामदेव श्रेष्ठी और तीन पैर वाले महीष की रत्नमय मूर्तियाँ बनवायी है। उस कामदेव सेठ के वंश में इस समय कामदत्त नामक एक सेठ है और उसके बन्धुमती नामक पुत्री है। किसी ज्ञानी ने कामदत्त को बतलाया है, कि इस

मन्दिर का मुख्य द्वार जो खोलेगा, वही बन्धुमती का पति होगा। इसलिए बन्धुमती अब तक कुमारी ही बैठी है।”

ब्राह्मण के मुख से इस मन्दिर और उससे सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों का वृत्तान्त सुनकर वसुदेव ने सन्तोष प्रकट किया। इसके बाद उन्होंने उस मन्दिर के मुख्य द्वार को जाकर देखा और उसे बिना किसी परिश्रम के ही खोल डाला। यह समाचार सुनकर कामदत्त ने उनके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया।

विवाह के समय वर को देखने के लिए राजपुत्री प्रियंगुमञ्जरी भी अपने पिता के साथ वहाँ आयी। उसने वसुदेव को देखा और देखते ही वह उन पर मुग्ध हो गयी। उसने गुप्तरूप से एक द्वारपाल को वसुदेव के पास भेजा और उन्हें पिछली रात में अपने मकान पर आने के लिए निमन्त्रित किया। वसुदेव शायद उसका अनुरोध मान लेते, किन्तु उन्होंने नाटक देखते हुए उसी समय सुना कि,—“नमिपुत्र वासव विद्याधर था। उसके वंश में और भी वासव हुए, जिन में एक पुरूहुत भी था। एक दिन वह हाथी पर चढ़कर सैर करने निकला और गौतम ऋषि के आश्रम में जा पहुँचा। वहाँ पर गौतम पत्नी अहिल्या को देखकर वह कामान्ध हो गया और उसके साथ उसने छलपूर्वक विहार किया। विद्याहीन पुरूहुत का यह कार्य देखकर गौतम ऋषि आगबबूला हो उठे और उन्होंने उसे नपुंसक बना दिया। यह वृत्तान्त सुनकर वसुदेव सम्हल गये और उन्होंने प्रियंगुमञ्जरी के यहाँ जाने का विचार छोड़ दिया।

इसके बाद रात्रि के समय जिस समय वे बन्धुमती के साथ शयन गृह में सो रहे थे, उस समय अर्ध निद्रित अवस्था में उन्होंने एक देवी को अपने सामने खड़ी देखा। देखते ही चौककर उठ बैठे और वे अपने मन में कहने लगे कि मैं यह सत्य देख रहा हूँ या स्वप्न? इतने ही में उस देवी ने कहा—“हे वत्स! तू क्या देख रहा है?”

वसुदेव इसके उत्तर में कुछ कहने ही वाले थे, कि वह उनका हाथ पकड़ कर उन्हें अशोक वाटिका में लिवा गयी। वहाँ पर उसने कहा—“इस भरतक्षेत्र के चन्दनपुर नामक नगर में अमोघरेतस नामक एक राजा राज्य करता था। उसके चारुमती नामक एक रानी और चारुचन्द्र नामक एक पुत्र था उसी

नगर में अनंगसेना नामक एक वेश्या और कामपताका नामक उसकी एक पुत्री भी रहती थी। एक बार राजा ने यज्ञ किया। उसमें अनेक तापसों को निमन्त्रित किया था, जिनमें कौशिक और तृण बिन्दु नामक दो उपाध्याय भी थे। उन दोनों ने राजा को कुछ फल दिये। उन फलों को देखकर राजा ने पूछा—“यह सुन्दर फल आप कहां से लाये है?”

इस प्रश्न के उत्तर में उपाध्यायों ने हरिवंश की उत्पत्ति से लेकर कल्पवृक्ष ले आने तक की कथा उन्हें कह सुनायी। उसी समय कामपताका को छूरी पर नृत्य करते देखकर कुमार चारुचन्द्र और कौशिक मुनि उस पर मुग्ध हो गये। यज्ञ समाप्त होने पर एक और तो चारुचन्द्र ने उसे अधिकार में कर लिया, दूसरी और कौशिक मुनि ने राजा से उसकी याचना की। राजा ने कहा—“हे मुनिराज! कुमार ने उसे स्वीकार कर लिया है। साथ ही वह श्राविका धर्म पालन करती है, इसलिये एक पति को स्वीकार करने के बाद वह अब दूसरा पति स्वीकार न करेगी।”

राजा का यह उत्तर सुनकर कौशिक मुनि क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने चारुचन्द्र को शाप देते हुए कहा—“हे चारुचन्द्र! तू इस रमणी से ज्यों ही भोग करेगा, त्योंही तेरी मृत्यु हो जायगी।”

इस घटना के कुछ ही दिन बाद राजा अपना समूचा राज्य चारुचन्द्र को देकर जंगल में चले गये और वहां पर एक तापस की भाँति जीवन व्यतीत करने लगे। उनकी रानी उस समय गर्भवती थी किन्तु यह बात राजा को मालूम न थी। एक दिन जब रानी अपने पति के साथ उपवन में गयी तब वहां पर उसने राजा से अपने गर्भ की बात कह सुनाई। तदनन्तर गर्भकाल पूर्ण होने पर उसने एक पुत्री को जन्म दिया और उसका नाम ऋषिदत्ता रक्खा।

ऋषिदत्ता जब बड़ी हुई, तब वह चारण श्रमण के पास श्राविका बन गयी। धीरे धीरे वह युवती हुई, किन्तु उसे किसी का सहारा न रहा। क्योंकि उसकी माता और धाय पहले ही मर चुकी थी। एक दिन राजा शिलायुध शिकार की खोज में वहां पर आ पहुँचे। उस समय ऋषिदत्ता का रूप देखकर वे उस पर मुग्ध हो गये। ऋषिदत्ता ने अतिथि समझकर उनका स्वागत सत्कार किया किन्तु उनका ध्यान तो दूसरी ओर ही था, अतः उन्होंने उसे एकान्त में

बुलाकर उससे क्रीड़ा का प्रस्ताव किया। ऋषिदत्ता इसके लिए राजी हो गयी, फलतः शिलायुध ने उसके साथ भोगकर अपनी कामपिपासा तृप्त की।

ऋषिदत्ता को यह कार्य करवाते समय पहले तो कोई विचार न आया, किन्तु बाद में वह इस चिन्ता से व्याकुल हो उठी, कि कहीं मेरे गर्भ न रह जाय। इसलिए उसने राजा शिलायुध से कहा—“राजन्! मैं ऋतुस्नाता हूँ, यदि मुझे गर्भ रह जायगा तो मेरी क्या अवस्था होगी? यह तो आप जानते ही हैं कि मैं अभी अविवाहिता हूँ!”

शिलायुध ने कहा—“यदि तुम्हें गर्भ रह जाय और पुत्र उत्पन्न हो, तो तुम उसे मेरे पास ले आना। मैं इक्ष्वाकु वंश के शतायुध राजा का पुत्र शिलायुध हूँ। श्रावस्ती नगरी में मेरी राजधानी है। मैं वचन देता हूँ कि यदि तुम अपने पुत्र को मेरे पास लाओगी तो मैं उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाऊँगा।”

उन दोनों में इस तरह की बातचीत हो ही रही थी, कि इतने ही में शिलायुध की बिछुड़ी हुई सेना वहाँ आ पहुँची। इसलिए शिलायुध ऋषिदत्ता से विदा ग्रहण कर, घोड़े पर सवार हो, अपनी राजधानी में लौट आये।

शिलायुध के चले जाने पर ऋषिदत्ता ने सासु हाल अपने पिता से कह सुनाया, सुनकर वे चुप हो गये। न तो उन्होंने कुछ भला ही कहा, न बुरा ही। ऋषिदत्ता ने यथासमय एक पुत्र को जन्म दिया। किन्तु इस बालक के भाग्य में माता की प्रेममयी गोद में खेलना बदा न था। अत एव प्रसूती रोग से ऋषिदत्ता की शीघ्र ही मृत्यु के बाद ऋषिदत्ता एक देवी के रूप में उत्पन्न हुई और ज्वलन प्रभ नामक नागकुमार की पटरानी हुई। हे वसुदेव कुमार! मैं वही देवी हूँ और आज एक खास कार्य के लिये तुम्हारे पास आयी हूँ।”

इतना कहने के बाद उस देवी ने फिर वही कथा कहनी आरम्भ की। उसने कहा—ऋषिदत्ता की मृत्यु के बाद उसके पिता अमोघरेतस उस बालक को लेकर साधारण मनुष्य की भाँति विलाप करने लगे। वात्सल्य भाव के कारण मैं भी अधिक समय तक उससे दूर न रह सकी और ज्वलनप्रभ की भार्या होने पर भी एक हरिणी का रूप धारण कर मैं उसका लालन पालन करने लगी। इसी कारण से उस बालक का नाम एणी पुत्र पड़ा।

उधर कौशिक की मृत्यु होने पर वह मेरे पिता के आश्रम में दृष्टि विषसर्प

हुआ। उसने एक बार मेरे पिता को डस लिया, किन्तु मैंने वह विष हरण कर उनके प्राण बचा दिये। इसके बाद उस सर्प को प्रति बोध की प्राप्ति हुई, फलतः मृत्यु के बाद वह बल नामक देव हुआ।

एक बार ऋषिदत्ता का रूप धारण कर मैं श्रावस्ती नगरी में गयी और वहां पर मैंने उस बालक को राजा के सामने उपस्थित किया, किन्तु वे उस बात को भूल गये थे, इसलिए उन्होंने उसको लेने से इन्कार कर दिया।

अब मैं चिन्ता में पड़ गयी। कोई दूसरा उपाय न देखकर मैंने उस बालक को वहीं राजा के पास छोड़ दिया। इसके बाद आकाश में जाकर मैंने कहा—
“हे राजन् ! मैं वही ऋषिदत्ता हूं जिसके साथ आपने तपोवन में भोग किया था। यह बालक आप ही का पुत्र है। इसका जन्म होते ही मेरी मृत्यु हो गयी थी। मृत्यु के बाद मैं देवी हुई। मोह के कारण उस अवस्था में भी हरिणी बनकर मैंने इसका लालन पालन किया है। इसीलिये इसका नाम एणी पुत्र पड़ा है। हे राजन् ! इसे आप स्वीकार कीजिए और अपने वचनानुसार अपना उत्तराधिकारी बनाइए।”

मेरी यह आकाशवाणी सुनकर राजा शिलायुध ने उस बालक को अपने पास रख लिया और कुछ दिनों के बाद उसे अपना राज्य देकर उन्होंने दीक्षा ले ली। इसके बाद एक दिन एणी पुत्र ने सन्तान के निमित्त अष्टमतप कर मेरी आराधना की, फलतः मैंने उसे एक पुत्री दी। उसी का नाम प्रियंगुमंजरी रखवा गया है।

प्रियंगुमंजरी के स्वयंवर में एणी पुत्र ने अनेक राजाओं को निमन्त्रित किया, परन्तु प्रियंगुमंजरी ने उनमें से एक को भी पसन्द न किया। इससे वे सब असन्तुष्ट हो, युद्ध करने पर उतारू हुए किन्तु मेरी सहायता से अकेले एणी पुत्र ने ही उन सबों को मार भगाया। अब मुझे मालूम हुआ है कि प्रियंगुमंजरी तुम्हारे साथ ब्याह करना चाहती है। उसने इसके लिए अष्टमतप कर मेरी आराधना की थी। कल उसकी ओर से जो द्वारपाल तुम्हें बुलाने आया था, वह मेरी ही सलाह से आया था, किन्तु अज्ञानता के कारण तुमने उसकी उपेक्षा की। अब मेरे हुक्म से वह द्वारपाल पुनः तुम्हारे पास आये, तो प्रियंगुमंजरी के पास जाने में तुम किसी प्रकार का संकोच मत करना और उससे

ब्याह कर लेना। अब तुम अपनी इच्छानुसार मुझ से भी एक वर मांग सकते हो।”

देवी के यह वचन सुनकर वसुदेव ने कहा—“माताजी! अच्छी बात है, मैं अब आपके आदेशानुसार ही कार्य करूंगा और प्रियंगुमंजरी के ब्याह भी कर लूंगा। रह गयी वरदान की बात, सो मैं आपसे यही वर मांगता हूँ कि मैं आपको जब और जहां स्मरण करूँ, वहीं पर आप मेरी सहायता करें। बस, इतना ही मेरे लिये काफी है।

देवी ने कहा—“तथास्तु।” इसके बाद वह कुमार को बन्धुमति के घर पहुँचा कर अपने वासस्थान को चली गयी। दूसरे दिन वह द्वारपाल फिर वसुदेव को बुलाने आया। आज वसुदेव ने उसके साथ जाने में कोई-आपत्ति न की। इधर प्रियंगुमंजरी अपने मन्दिर में बैठी हुई पहले ही से उनकी बात जोह रही थी। इसलिए वसुदेव ने आते ही उसकी इच्छानुसार उसके साथ गन्धर्व विवाह कर लिया। अठाहरवे दिन उसी द्वारपाल ने राजा को इस विवाह का समाचार दिया। साथ ही उसने कहा कि यह सब कार्य देवी के ही आदेश और संकेत से हुए हैं। यह सुनकर राजा परम प्रसन्न हुए और वसुदेव का समुचित आतिथ्य करने के लिये उन्हें सम्मान पूर्वक अपने घर ले गये।

उधर वैताढ्य पर्वत पर गन्ध समृद्धि नामक एक नगर था। वहां पर गंधार पिङ्गल नामक एक राजा राज्य करते थे। उनके प्रभावती नामक एक पुत्री थी। वह एक बार घूमती घूमती सुवर्णाभिपुर नगर में जा पहुँची। वहां पर सोमश्री से भेंट होने पर वह उसकी सखी बन गयी। कुछ दिनों के बाद प्रभावती को मालूम हुआ कि सोमश्री पतिविरह से सदा दुःखित रहती है। इसलिए उसने उससे कहा—“हे सखी! तुम खेद मत करो। मैं जैसे भी होगा, तुम्हारे पति को तुम्हारे पास ले आऊंगी।”

सोमश्री निश्वास छोड़ते हुए बोली—“जैसे वेगवती लेकर आयी वैसे तू भी अदृश्य सौभाग्यवाले पति को ले आयगी।”

प्रभावती ने मुस्कुराकर कहा—“विश्वास रखें, मैं वेगवती की तरह तुम्हें धोखा न दूंगी।”

इतना कह प्रभावती वसुदेव की खोज में निकल पड़ी और अपनी अद्भुत विद्याओं के प्रभाव से श्रावस्ती में जाकर वहां से तुरन्त वसुदेव को सोमश्री के पास ले आयी। सोमश्री उन्हें पाकर उसी तरह प्रसन्न हो उठी, जिस प्रकार कंजूस खोया हुआ धन या अन्धा आंखे पाकर प्रसन्न होता है। वसुदेव को भी कम आनन्द न हुआ, किन्तु यहां रहने में मानसवेग के उपद्रव का भय था, इसलिये वे गुप्त रूप से वहां पर रहने लगे।

परन्तु यह समाचार अधिक दिनों तक छिपा न रह सका। मानसवेग को इसका पता चलते ही उसने वहां आकर वसुदेव को गिरफ्तार कर लिया। इससे बड़ा ही कोलाहल मचा। चारों ओर से अनेक विद्याधर दौड़ आये और उन्होंने वसुदेव को छुड़ा दिया। किन्तु मानसवेग ने इतने से ही वसुदेव का पीछा न छोड़ा। वह उनसे झगड़ा करने लगा। अन्त में वह विवाद यहां तक बढ़ गया, कि उसका निराकरण कराने के लिए उन दोनों को वैजयन्ती नगरी के राजा बलसिंह के पास जाना पड़ा। उस समय कुमार के शत्रु सूर्पकादिक भी वहां आ पहुँचे थे। मानसवेग ने कहा—“पहले मेरा विवाह सोमश्री से होना स्थिर हुआ था, किन्तु इसने छलपूर्वक उससे व्याह कर लिया, इसीलिए मैं उसे हरण कर लाया था। अब यह फिर गुप्तरूप से उसके पास आकर रहता है। ऐसा न होना चाहिए और सोमश्री मेरे ही अधिकार में रहनी चाहिए। वेगवती का विवाह मैंने खुशी से इसके साथ कर दिया है, इसलिए उस विषय में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।”

वसुदेव ने कहा—“मानसवेग की बातें बिलकुल झूठी हैं। सोमश्री का विवाह उसके पिता ने स्वेच्छापूर्वक मेरे साथ किया है, मैंने उसमें किसी प्रकार का छल नहीं किया। उसका हरण कर इसी ने अन्याय किया है। वेगवती का विवाह भी इसकी इच्छा या अनुमति से नहीं हुआ। उसने स्वयं छलपूर्वक मुझसे विवाह किया था। यह सब बातें अनेक लोगों को मालूम है और इनके समर्थन में यथेष्ट प्रमाण भी दिये जा सकते हैं।”

वसुदेव की इन बातों से मानसवेग की असत्यता स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो गयी। उस ने जब देखा कि इस प्रकार मैं वसुदेव को नीचा न दिखा सकूंगा, तब वह नीलकंठ और सूर्पकादिक खेचरों को अपने साथ ले, उनसे युद्ध करने

को तैयार हुआ। उसका यह अन्याय देखकर वेगवती की माता अंगारवती ने वसुदेव को एक दिव्य धनुष और दो भाले दिये, साथ ही प्रभावती ने उन्हें प्रज्ञप्ति विद्या दी। इस प्रकार विद्या और दिव्य शस्त्रों को पाकर वसुदेव परम आनन्दित हो उठे और उन्होंने थोड़ी ही देर में अपने शत्रुओं को पराजित कर दिया। मानसवेग को जीता ही बांधकर वे सोमश्री के पास ले आये। वहां पर उसकी माता अंगारवती ने दयाकर उसे छोड़ा दिया। मानसवेग तथा उसके संगी साथियों ने अब दीनतापूर्वक उनकी दासता स्वीकार कर ली पश्चात् वसुदेव सोमश्री के साथ विमान में बैठकर वहां से महापुर चले आये और वहां पर आनन्दपूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगे।

इस प्रकार मानसवेग के दांत तो खट्टे हो गये, किन्तु कपटी सूर्यक का हौंसला अभी पस्त न हुआ था। वह एक दिन चुपचाप महापुर में आया और अश्व का रूप धारणकर वसुदेव कुमार को उठा ले चला। वसुदेव को यह बात मालूम होते ही उन्होंने उस के शिरपर एक ऐसा मुक्का मारा कि उसने तुरन्त उन्हें छोड़ दिया। इससे वसुदेव गंगा नदी की धारा में जा गिरे। किसी तरह वहां से निकलकर वे एक तपस्वी के आश्रम में जा पहुंचे। वहां पर एक कन्या खड़ी थी, जिसके गले में हड्डियों को माला पड़ी हुई थी। उसे देख, वसुदेव ने तपस्वी से पूछा—“महाराज! यह कन्या किसकी है। और यह ऐसी अवस्था में क्यों खड़ी है।”

तपस्वी ने कहा—“हे कुमार! यह राजा जितशत्रु की पत्नी और जरासन्ध की नन्दिषेणा नामक पुत्री है। इसे एक परिव्राजक ने वश में कर लिया था, इसलिये राजा ने उसे मरवा डाला। किन्तु उसके वशीकरण का प्रभाव इस पर इतना अधिक पड़ा कि यह अब तक उसकी हड्डियाँ धारण किये रहती है।”

यह सुनकर वसुदेव ने अपने मन्त्रबल से उसके वशीकरण का प्रभाव नष्ट कर दिया। इससे वह फिर अपने पति राजा जितशत्रु के पास चली गयी। राजा जितशत्रु ने इस उपकार के बदले में वसुदेव के साथ अपनी केतुमती नामक बहिन का विवाह कर दिया। वसुदेव वहीं ठहर गये और उसका आतिथ्य ग्रहण करने लगे।

धीरे धीरे यह समाचार राजा जरासन्ध के कानों तक जा पहुँचा। उसने डिम्भ नामक द्वारपाल को राजा जितशत्रु के पास भेजकर वसुदेव को बुला भेजा। डिम्भ सवारी के लिये एक रथ भी लाया था। वसुदेव उसी में बैठ उसके साथ राजगृह नगर में गये। परन्तु वहाँ पहुंचते ही राजकर्मचारियों ने उन्हें कैद कर लिया इस अकारण दण्ड का कारण पूछने पर उन्होंने बतलाया के एक ज्ञानी ने जरासन्ध से कहा है कि जो नन्दिषेणा को वशीकरण के प्रभाव से मुक्त करेगा, उसी के पुत्र द्वारा जरासन्ध की मृत्यु होगी। इसलिए हम लोगों ने आप को कैद किया है।”

इतना कह वे लोग वसुदेव को वधस्थान में ले गये। वहाँ पर वधिक पहले से ही तैयार बैठे थे। ज्योंही वे उन्हें मारने को उठे त्योंही भगीरथी नामक एक धात्री वहाँ आयी और वसुदेव को उनके हाथों से छीनकर आकाशमार्ग द्वारा उन्हें गन्ध समृद्धपुर नामक नगर में उठा ले गयी। बात यह हुई कि वहाँ के राजा गन्धारपिङ्गल के प्रभावती नामक एक कन्या थी। किसी ज्ञानी से पूछने पर उसे मालूम हुआ कि उसका विवाह वसुदेव के साथ होगा। इसीलिए उन्होंने भगीरथी को उन्हें ले आने के लिये भेजा था। वह ठीक उसी समय राजगृह में पहुँची, जिस समय वधिक गण वसुदेव को मारने की तैयार कर रहे थे। वसुदेव को उनके हाथों से छीन लेने पर वे सब अवाक् बन गये और अपना सा मुँह लेकर अपने अपने घर चले गये। उधर गन्धारपिङ्गल ने वसुदेव के साथ प्रभावती का विवाह कर दिया, इसलिए वे वहीं सुखपूर्वक दिन बिताने लगे।

इस प्रकार अनेक विद्याधर और भूचर राजाओं की कन्याओं से विवाह कर वसुदेव सुकोशला नगर में जाकर सुकोशला कन्या से विवाह कर अब सुकोशला के घर में रहने लगे और वहीं पर आनन्दपूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगे।



सातवाँ परिच्छेद कनकवती से वसुदेव का ब्याह



इस भरतक्षेत्र में विद्याधरों के भी नगरों को लज्जित करने वाला पैदालपुर नामक एक नगर था। वहां पर महाऋद्धिवान और ऐश्वर्य में इन्द्र के समान हरिश्चन्द्र नामक राजा राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम लक्ष्मीवती था। वह जैसी गुणवती थी, वैसी ही रूपवती और पति-परायणा भी थी। राजा हरिश्चन्द्र को वह प्राण के समान प्रिय थी।

कुछ दिनों के बाद रानी ने एक सुन्दर पुत्री को जन्म दिया। वह रूप में साक्षात् लक्ष्मी के समान थी, इसलिए उसके माता पिता उसे देखकर बहुत ही आनन्दित हुए। उसके पूर्व जन्म के पति कुबेर ने उस समय प्रसन्नतापूर्वक सुवर्ण की वृष्टि की, इसलिए उसका नाम कनकवती रक्खा गया। उसके लालन पालन के लिए कई धात्रियाँ नियुक्त कर दी गयीं। जब कनकवती धीरे-धीरे बड़ी हुई तब राजा ने शीघ्र ही उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। उसकी बुद्धि बहुत ही तीव्र थी, इसलिए उसने थोड़े ही दिनों में अनेक विद्याकला तथा व्याकरण, न्याय, छन्द, अलंकार और काव्यादिक शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर ली। वाणी में तो वह मानो साक्षात् सरस्वती ही थी। गायन वादन तथा अन्यान्य कलाओं में भी वह अपनी सानी रखती थी। कनकवती ने क्रमशः किशोरावस्था अतिक्रमण कर युवावस्था में पदार्पण किया। राजा हरिश्चन्द्र को अब उसके ब्याह की फिक्र हुई। इसलिए उन्होंने उसके अनुरूप वर की बहुत खोज की, किन्तु वे जैसा चाहते थे, वैसा वर कहीं भी दिखायी न दिया। अन्त में उन्होंने स्वयंवर करने का निश्चय किया। उनके आदेश से शीघ्र ही एक

सुशोभित और विशाल सभामण्डप तैयार किया गया और स्वयंवर में भाग लेने के लिये भिन्न भिन्न देश के राजाओं को निमन्त्रण पत्र भी दे दिये गये।

एक दिन कनकवती अपने कमरे में आराम से बैठी हुई थी। इतने ही में कहीं से एक राजहंस आकर उसकी खिड़की में बैठ गया। उसका वर्ण कपूर के समान उज्वल और चंचु चरण तथा लोचन अशोक वृक्ष के नूतन पत्रों की भांति अरुण थे। विधाता ने मानो श्वेत परमाणुओं का सार संग्रह कर उसके पंखों की रचना की थी। उसके कंठ में सोने के घुंघरू बंधे हुए थे और उसका स्वर बहुत ही मधुर था। वह जिस समय ठुमक ठुमक कर चलता था, उस समय ऐसा मालूम होता था। मानो वह नृत्य कर रहा है।

राजकुमारी कनकवती इस मनोहर हंस को देखकर अपने मन में कहने लगी—“मालूम होता है कि यह किसी का पलाऊ हंस है। यदि ऐसा न होता तो इसके कंठ में यह घुंघरू क्यों बंधे होते? आह कितना सुन्दर पक्षी है! मुझे तो यह बहुत ही प्यारा मालूम होता है। मैं इसे पकड़े बिना न रहूँगी। यह चाहे जिसका हो, किन्तु मैं अब इसे अपने ही पास रखूँगी।”

इस प्रकार विचारकर उस हंस गामिनी कन्या ने गवाक्ष में बैठे हुए उस हंस को पकड़ लिया। इसके बाद वह अपना कमल समान कोमल हाथ उसके बदन पर फिरा-फिराकर उसे बड़े प्रेम से दुलारने लगी। इतने ही में उसकी एक सखी आ पहुंची। उसने उससे कहा—“देखो सखी! मैंने यह कैसा बढ़िया हंस पकड़ा है! तुम शीघ्र ही इसके लिए सोने का एक पींजड़ा ले आओ। मैं उसमें इसे बन्द कर दूंगी, वरना यह जैसे दूसरे स्थान से उड़कर यहां आया है, वैसे ही यहाँ से किसी दूसरे स्थान को उड़ जायगा।”

कनकवती की यह बात सुनकर उसकी सखी पींजड़ा लेने चली गयी। इधर उस हंस ने मनुष्य की भाषा में बोलते हुए राजकुमारी से कहा—“हे राजपुत्री! तुम बड़ी समझदार हो, इसलिए मैं तुम से तुम्हारे हित की एक बात कहने आया हूँ। मुझे पींजड़े में बन्द करने की जरूरत नहीं। तुम भी मुझे छोड़ दो। मैं तुम से बातचीत किये बिना यहां से कदापि न जाऊँगा।”

हंस की यह बातें सुनकर कनकवती चकित हो गयी। उसने कभी भी किसी पक्षी को इस तरह मनुष्य की बोली में बातें करते देखा सुना न था।

इसलिए उसने उसे छोड़ते हुए कहा—“हे हंस ! तुम वास्तव में एक रत्न हो। लो, मैं छोड़े देती हूँ। तुम्हें जो कहना हो, वह सहर्ष कहो !”

हंस ने कहा—“हे राजकुमानी ! सुनो, वैताढ्य पर्वत पर कोशल नामक एक नगरी है। उसमें कोशल नामक एक विद्याधर राज करता है। उसके देवी समान सुकोशला नामक एक पुत्री है। उसका पति परम गुणवान और युवा है। रूप में तो मानो उसके जोड़े का दूसरा पुरुष विधाता ने बनाया ही नहीं। पुरुषों में जिस प्रकार वह सुन्दर है, उसी प्रकार तुम स्त्रियों में सुन्दरी हो। तुम दोनों को देखकर मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानो एक सूत्र में बांधने के लिए ही विधाता ने इस जोड़ी की सृष्टि की है। मैंने यह सोचकर कि तुम दोनों का विवाह मणिकाञ्चन का योग हो सकता है इसीलिए यह चेष्टा आरम्भ की है। आशा है कि इससे तुम अप्रसन्न न होगी।

तुम्हें देखने के बाद कुमार के सामने मैंने तुम्हारे रूप का वर्णन किया था। इससे उनके हृदय में भी तुम्हारे प्रति प्रेमभाव उत्पन्न हो गया है। वे तुम्हारे स्वयंवर में अवश्य ही पधारेंगे। आकाश में अगणित नक्षत्र होने पर भी जिस प्रकार चन्द्र को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती, उसी प्रकार उनको पहचानने में भी तुम्हें कोई कठिनाई न पड़ेगी। अपने रूप, यौवन और अपनी तेजस्विता के कारण, हजार राजकुमारों के बीच में होने पर भी वे सब से पहले तुम्हारा ध्यान आकर्षित कर लेंगे। हे राजकुमारी ! यदि तुम उनसे विवाह करोगी अपनी जयमाल उनके गले में डालोगी, तो अवश्य ही तुम्हारा जीवन सुखमय बन जायगा। तुम अपने को धन्य समझने लगोगी।”

इतना कह उस हंस ने राजकुमारी से बिदा मांगी। किन्तु राजकुमारी उसकी बातें सुनकर मन्त्र मुग्ध की भांति एक दृष्टि से उसकी और देख रही थी। उसे मानो अपने तनमन की भी सुधि न थी। जब हंस वहां से उड़ने लगा, तब उसे होश आया। वह अपने दोनों हाथ फैलाकर उसकी और इस प्रकार देखने लगी, मानों उसे बुला रही हो। हंस ने आकाश से उसके उन फैलाये हुए हाथों में एक चित्र डालते हुए कहा—“हे भद्रे ! यह उसी युवक का चित्र है, जिस के रूप का वर्णन मैंने तुम्हारे सामने किया है। चित्र चित्र ही है। यह मेरी कृति है। इसमें दोष सकता है, किन्तु कुमार में कोई दोष नहीं है। इस चित्र को तुम

अपने पास रखना। इससे स्वयंवर के समय कुमार को पहचानने में तुम्हें कठिनाई न होगी।”

राजकुमारी उस चित्र को देखकर प्रसन्न हो उठी। उसने हंस की ओर पुकार कर कहा—“हे भद्र! क्या तुम यह न बतलाओगे कि वास्तव में तुम कौन हो? मुझे तो तुम्हारा यह रूप कृत्रिम मालूम पड़ता है।”

कुमारी की यह बात सुनकर हंस रूपधारी उस विद्याधर ने अपना असली रूप प्रकट करते हुए कहा—“हे कुमारी! मैं चन्द्रातप नामक विद्याधर हूँ। तुम्हारी और तुम्हारे भावी पति की सेवा करने के लिये ही मैंने यह रूप धारण किया था। हाँ, तुम से मैं एक बात और बतला देना चाहता हूँ कि स्वयंवर के दिन तुम्हारे पतिदेव शायद दूसरे के दूत बनकर यहाँ आयेंगे। इसलिए तुम उन्हें पहचानने में भूल न करना।”

इतना कह, कनकवती को आशीर्वाद दे, वह विद्याधर वहाँ से चला गया। उसके चले जाने पर कनकवती उस चित्र को बार बार देखने लगी। वह अपने मन में कहने लगी—“जिस का चित्र इतना सुन्दर है तो वह पुरुष न जाने कितना सुन्दर होगा।” वह तनमन से उस पर अनुरक्त हो उसे कभी कंठ, कभी शिर और कभी हृदय से लगाने लगी, उसके नेत्र मानो उसके दर्शन से तृप्त ही न होते थे। वह मन ही मन उसी को पतिरूप में पाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने लगी।

उधर चन्द्रातप विद्याधर को यह धुन लगी थी, कि कनकवती का विवाह वसुदेव के ही साथ होना चाहिए। इसलिए वह कनकवती के हृदय में वसुदेव के प्रति अनुराग उत्पन्न कर, उसी समय कोशला नगरी में गया। उस समय रात्रि का समय था और वसुदेव अपनी प्रियतमा के साथ अपने शयनगृह में सो रहे थे। फिर भी चन्द्रातप अपनी विद्याओं के बल से वहाँ जा पहुँचा। उसने वसुदेव की चरण सेवाकर उनको जगा दिया। वसुदेव तुरन्त उठ बैठे।

वसुदेव की आँख ज्योंही खुली, त्योंही उनकी दृष्टि चन्द्रातप पर जा पड़ी। किन्तु अपने शयनगृह में रात्रि के समय किसी अपरिचित पुरुष को देखकर वे न तो भयभीत हुए, न उन्हें क्रोध ही आया। वे अपने मन में कहने लगे—“क्या यह पुरुष मेरा शत्रु होगा? नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।

यदि शत्रु होता तो मेरी चरण सेवा क्यों करता ? या तो यह कोई शरणार्थी होगा या मेरा कोई शुभचिन्तक होगा और किसी आवश्यक कार्य से यहां आया होगा। किन्तु मैं अब इस से बातचीत किस प्रकार करूं ? यदि मैं बोलूंगा तो प्रिया की निद्रा में व्याधात होगा और यदि नहीं बोलूंगा, तो इस पुरुष का जी दुःखी हो जायगा। ऐसी अवस्था में मुझे क्या करना चाहिए ?”

अन्त में कुछ सोचकर वसुदेव धीरे धीरे इस प्रकार उठ खड़े हुए, कि जिसमें उनकी प्रिया की निद्रा भंग न हो। जब वे पलंग से उतर कर उससे कुछ दूरी पर पहुँचे, तब चन्द्रातप ने भी उनके पास जाकर उनकी प्रणाम किया। वसुदेव ने अब उसे अच्छी तरह देखा। देखते ही वे पहचान गये, कि यह तो वही विद्याधर है, जिसने कनकवती का परिचय दिया था। उन्होंने उसका स्वागत कर उसके आगमन का कारण पूछा। चन्द्रातप ने चन्द्र समान शीतल वाणी से कहा—“हे वसुदेव कुमार ! मैंने जिस प्रकार आपको कनकवती का परिचय दिया था, उसी प्रकार मैं कनकवती को अब आपका परिचय देकर आया हूँ। साथ ही अपनी विद्या के बल से आपका एक चित्र भी अंकित कर मैं उसे दे आया हूँ। आप का वह मनोहर चित्र देखकर उसका चेहरा आनन्द से खिल उठा है और उसे उसने अपने हृदय से लगा लिया है। अतएव अब मैं कह सकता हूँ कि स्वयंवर में वह आपके सिवाय और किसी को वरण न करेगी। उसकी बातों और भावभंगी से भी यही प्रकट होता था, इसलिये हे प्रभो ! अब आप स्वयंवर के लिए प्रस्थान कीजिए ! स्वयंवर में अब केवल दस ही दिन की देरी है। यदि आप समय पर न पहुँचेंगे, तो वह निराश हो जायगी और आपके वियोग में शायद प्राण तक दे देगी।”

वसुदेव ने चन्द्रातप को धन्यवाद देकर कहा—“अच्छी बात है। मैं सुबह स्वजनों की अनुमति लेकर यहां से प्रस्थान करूंगा, तुम प्रमोदवन में मेरी राह देखना। वही मैं तुमसे आ मिलूंगा। तुम्हें अपनी चेष्टा में कहां तक सफलता मिली है, यह तो तुम्हें स्वयंवर से ही मालूम हो सकेगा।”

वसुदेव की यह बात सुनकर वह विद्याधर अदृष्य हो गया और वसुदेव फिर अपनी हृदयेश्वरी के पास जाकर सो गये। सुबह स्वजनों की अनुमति और स्त्रियों की सम्मति ले, वसुदेव पेढालपुर में जा पहुँचे। वहां पर राजा हरिश्चन्द्र

ने उनका स्वागत कर, उन्हें लक्ष्मीरमण नामक उद्यान में ठहराया। वह उद्यान बहुत ही बड़ा था और तरह तरह के वृक्ष, लता, पुष्प तथा महलों से सुशोभित हो रहा था। इसके नाम के सम्बन्ध में किसी ने वसुदेव से बतलाया कि प्राचीनकाल में श्रीनेमिनाथ भगवान का समवसरण इस उद्यान में हुआ था। उस समय देवाङ्गनाओं के साथ स्वयं लक्ष्मीजी ने श्रीनेमिनाथ भगवान के सामने रास क्रीड़ा की थी। उसी समय से यह उद्यान लक्ष्मीरमण कहलाने लगा।

उसी उद्यान में एक चैत्य भी था। वसुदेव ने वहां जाकर दिव्य उपहार द्वारा जिन प्रतिमाओं की पूजा कर उन्हें वन्दन किया। इसी समय कुमार ने देखा कि लाखों ध्वजा पताकाओं से युक्त, जंगम मेरु पर्वत की भांति आकाश से एक विमान उतर रहा है। उसमें मंगल बाजे बज रहे थे और बन्दीजन कोलाहल कर रहे थे। वसुदेव ने उसका अद्भुत ठाट बाठ देखकर एक देव से, जो उस विमान के आगे आगे चल रहा था, पूछा—“इन्द्र के समान यह विमान किस देवता का है?”

यह सुनकर उसने उत्तर दिया कि—“हे महापुरुष! यह विमान कुबेर का है। किसी विशेष कारणवश से इस पर बैठकर इस धराधाम पर अवतीर्ण हो रहे हैं। वे इस चैत्य में जिन प्रतिमाओं का पूजन कर सबसे पहले कनकवती का स्वयंवर देखने जायेंगे।”

वसुदेव ने अपने मन में कहा—“अहो! धन्य है कनकवती को, जिसके स्वयंवर में देवता भी पधार रहे हैं!”

थोड़ी ही देर में कुबेर विमान से उतर कर जिन चैत्य में गये और वहां पर प्रतिमाओं के समक्ष पूजन, वन्दन और संगीत करने लगे। यह देख, वसुदेव अपने मन में कहने लगे—

“अहो! यह देव तो परम श्रावक मालूम होता है। तभी तो पुण्यकार्य में तत्पर रहता है। किन्तु यह सब जिन शासन का ही प्रभाव है, इसलिए वही सराहनीय है। आज यह आश्चर्य देखकर मैं भी धन्य हो गया हूँ।”

पूजन से निवृत्त हो, कुबेर ज्योंही चैत्य से बाहर निकले, त्योंही उनकी दृष्टि उस दिव्य रूपधारी वसुदेवकुमार पर जा पड़ी। वे उनका अद्भुत रूप देखकर मन ही मन उसकी सराहना करने लगे। वे अपने मन में कहने लगे कि

धन्य है इस पुरुष को, जैसे विधाता ने ऐसा रूप दिया है, जो सुर असुर और विद्याधरों को भी नसीब नहीं है। इसी तरह का विचार करते हुए वे अपने विमान में जा बैठे, किन्तु इसी समय उनके मस्तिष्क में एक और विचार आया, जिससे वे वहीं उठर गये। पश्चात् उन्होंने अंगुली से इशारा कर वसुदेव को अपने पास बुलाया। वसुदेव भी निर्भीकता पूर्वक उनके पास जा खड़े हुए। कुबेर ने आदरपूर्वक उन्हें अपने पास बैठाकर उनका बड़ा ही सत्कार किया। अब वे मित्र की भांति प्रेमपूर्वक उनसे बातें करने लगे।

वसुदेव विनयी तो थे ही, कुबेर का यह आदर सत्कार देखकर वे और भी पानी पानी हो गये। उन्होंने हाथ जोड़कर कुबेर से कहा—“मैं आपका दास हूँ। मेरे योग्य जो कार्य सेवा हो, वह सहर्ष सूचित कीजिए।”

कुबेर ने नम्रतापूर्वक कहा—“क्या सचमुच आप हमारा कोई कार्य करना चाहते हैं? यदि ऐसा ही है, तो आप मेरे लिये दूत का कार्य कीजिए। यह आपके लिए बांये हाथ का खेल है। शतयुद्ध आप जानते होंगे कि राजा हरिश्चन्द्र के कनकवती नामक एक कन्या है। इस समय उसके स्वयंवर की तैयारी हो रही है। इसलिए आप उससे जाकर कहिए कि इन्द्र का उत्तर दिक्पाल कुबेर तुम्हारे साथ व्याह करना चाहता है। उनसे व्याह करने से तुम मानुषी होने पर भी देवी कहलाओगी। आज तक ऐसा सौभाग्य किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ है।”

यह सुनकर वसुदेव के कहा—“भगवन्! आप का कार्य करने के लिए मैं तैयार हूँ, किन्तु आप ने इस बात पर भी विचार किया है, कि कनकवती के निकट मेरा पहुँचना कितना कठिन है? मैं तो इसे कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव मानता हूँ।”

कुबेर ने कहा—“आप का कहना ठीक है। साधारण अवस्था में आपको इस कठिनाई के सामना अवश्य करना पड़ता, किन्तु मेरे आशीर्वाद के प्रभाव से अब तुम्हें इसमें कोई भी कठिनाई न होगी। आप वायु की भांति बिना किसी विघ्न बाधा के कनकवती के पास पहुँच जायेंगे।”

यह सुनकर वसुदेव अपने वासस्थान को लौट आये। वहाँ पर उन्होंने अपने दिव्य वस्त्रालंकार उतार डाले और उनके बदले में सेवक के समान

मलीन वस्त्र पहन लिये। उन्हें इस वेश में कनकवती के पास जाते देखकर कुबेर ने कहा—“हे कुमार! आपने उत्तम वेश क्यों त्याग दिया? संसार में तो सर्वत्र आडम्बर की ही पूजा होती है।”

कुमार ने हँसकर कहा—“मलीन व उज्ज्वल वेश से क्या होता है? वाणी ही दूत का भूषण है और वह तो मेरे पास है ही।”

कुबेर ने कहा—“अच्छा जाइए, आप का कल्याण हो।”

तदनुसार वसुदेव कुमार राजा हरिश्चन्द्र के राज भवन में जा पहुँचे। वहां पर हाथी, घोड़े, रथ और सुभटादिक के कारण कहीं पैर रखने की भी जगह नहीं थी, परन्तु कुबेर के आशीर्वाद से वे अदृश्य भाव से बिना किसी विघ्न बाधा के इस तरह आगे बढ़ते गये, मानों वहां कोई है ही नहीं। धीरे धीरे वे राजमन्दिर के पहले दरवाजे पर पहुँचे। यहां पर पहरेदारों का कड़ा पहरा था, इसलिए वे इधर उधर झाँक ताक में ही उन्होंने अन्तपुर के प्रथम कमरे में प्रवेश किया वहाँ उन्हें सुन्दर और समान उग्रवाली स्त्रियों का एक दल तथा इन्द्र नीलमणि द्वारा निर्मित एक ऐसा स्थान दिखायी दिया, जिसे देखकर वे आश्चर्य चकित हो गये।

इस स्थान से आगे बढ़ने पर वसुदेव राजमन्दिर के दूसरे दरवाजे पर पहुँचे। यहां पर ध्वजदण्ड युक्त सोने का एक ऐसा स्तम्भ था, जिस पर रत्ननिर्मित पुतलियां फुदक रही थी। यहां से आगे बढ़ने पर वसुदेव राजमन्दिर के तीसरे दरवाजे पर पहुँचे। यहां पर दिव्य वस्त्राभूषणों से विभूषित अप्सरा के समान स्त्रियाँ उन्हें दिखायी दी। उन्हें देखकर ऐसा ज्ञान होता था, मानों स्थानाभाव से स्वर्ग की सुरसुन्दरियाँ यहां चली आयी हो। यहां से चौथे दरवाजे में पहुँचने पर वसुदेव को ऐसी भूमि दिखायी दी, जिसे देखने से वहां पर जल का भ्रम होता था। वह स्थान तरंगों से चंचल और राजहंस तथा सारसादिक से सेवित मालूम होता था। यहां की दीवारों में इतनी चमक थी, कि ललनाओं को शृंगार करते समय दर्पण की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। यहां पर सुचतुर दासियों का एक दल भी उन्हें दिखायी दिया, जो गायन वादन तथा नृत्यादिक कलाओं में पूर्णरूप से निपुण था।

पाँचवें द्वार की भूमि मरकत मणिमय बनी हुई थी। यहां पर मूंगा और

मोतियों से सजे हुए चमर काम में लाये जाते थे। और दासियों के हाथ में सोने चाँदी के बने हुए रत्न जड़ित पात्र दिखायी देते थे। यहां की दासियाँ भी अन्य द्वारों की अपेक्षा अधिक सुन्दर और सुशील प्रतीत होती थी। यहां से आगे बढ़ने पर वसुदेव छोटे द्वार में पहुँचे। यहां पर उन्होंने दिव्य सरोवर की भांति चारों ओर से पद्म विभूषित पद्मभूमि देखी। यहां की रमणियाँ कृमि रंग के वस्त्रों से सज्जित साक्षात् देव सुन्दरी सी प्रतीत होती थी।

आगे बढ़ने पर वसुदेव कुमार सातवें द्वार पर पहुँचे। यहां पर दासियों का ही पहरा था, किन्तु वह इतना कड़ा था, कि उनकी नजर बचाकर निकलना किसी के लिए भी सम्भव न था।

यहां का ठाट बाठ देखकर कुमार अपने मन में कहने लगे—“यही रानियों का रनवास मालूम होता है। किन्तु यहां तो कनकवती दिखायी नहीं देती। अब मैं उसे कहाँ खोजूँ?”

जिस समय वसुदेव कुमार इस प्रकार की चिन्ता कर रहे थे, उसी समय पास के एक द्वार से एक सुन्दरी रमणी निकलकर वहाँ आ पहुँची। वह प्रधान दासी थी। उसे देखते ही अन्य दासियों ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—“बहिन जी! कुमारी कनकवती इस समय कहां है और क्या कर रही है?”

उस रमणी ने उत्तर दिया—“वे दिव्यवेश धारणकर प्रमोदवन के राजमन्दिर में अकेली बैठी हुई हैं। उन्हें इस समय किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है।”

उसके यह वचन सुनते ही वसुदेव उस द्वार से निकल कर प्रमोदवन में जा पहुँचे। वहां पर उन्होंने उसमें प्रवेश कर कनकवती को खोजना आरम्भ किया। खोजते खोजते जब महल के सातवें खण्ड पर पहुँचे, तब एक भद्रासन पर बैठी हुई, दिव्य वस्त्रालङ्कारों से युक्त, साक्षात् वनलक्ष्मी के समान पुष्पाभरणों से सुशोभित कनकवती उन्हें दिखायी दी। उसे देखते ही वे पहचान गये। वह उन्हीं का चित्र हाथ में लिये बैठी थी। उसे स्थिर दृष्टि से देखना और देखने के बाद हृदय से लगा लेना—यही उसका काम हो रहा था।

दूसरे ही क्षण कनकवती की दृष्टि वसुदेव पर जा पड़ी। उनको देखते ही उसका मुख कमल आनन्द से प्रफुल्लित हो उठा। वह तुरन्त अपने आसन से

उठकर खड़ी हो गयी और हाथ जोड़कर वसुदेव से कहने लगी—“हे सुभग! हे रूपमन्मथ! मेरे ही पुण्य से आज आप का यहां आगमन हुआ है। हे सुन्दर! मैं आपकी दासी हूँ।”

इतना कह वह कुमार के सामने झुककर उन्हें प्रणाम करने लगी किन्तु वसुदेव ने उसके इस कार्य में बाधा देते हुए कहा—“हे सुन्दरि! मुझे प्रणाम करने की आवश्यकता नहीं। मैं तो किसी का दास हूँ। जो पुरुष तुम्हारे निकट वन्दनीय हो, उसी को तुम्हें प्रणाम करना चाहिए।”

कनकवती ने कहा—“हे कुमार! मैं किसी प्रकार की भूल नहीं कर रही हूँ। आपको मैं भली-भांति पहचानती हूँ। उस विद्याधर ने मुझे न केवल आपका परिचय ही दिया था, बल्कि आपका एक चित्र भी दिया था। मैं उसी को देखकर अब तक जीवित रही हूँ। अब आप मुझे भ्रम में डालने की चेष्टा न कीजिए। आप ही मेरे जीवनधन हैं, आप ही मेरे प्राणनाथ है।”

वसुदेव ने कहा—“हे भद्रे! तुम वास्तव में भूलकर रही हो। विद्याधर ने तुम्हें जिनका परिचय दिया था, उनका नाम कुबेर है। मैं उन्हीं का नौकर हूँ और उन्हीं की और से तुम्हारी याचना करने आया हूँ। वे तुमसे विवाह कर अपने को धन्य समझेंगे और तुम्हें अपनी पटरानी बनायेंगे। उस अवस्था में देवियाँ तुम्हारी सेवा करेंगी और तुम्हारी गणना देवियों में होने लगेगी। हे सुन्दर। क्या तुमने कुबेर का नाम नहीं सुना है? क्या उनके ऐश्वर्य और अतुल धनभण्डार की बात तुम से छिपी हुई है?”

कनकवती ने उपेक्षापूर्वक कहा—“हे सुन्दर! मैं कुबेर को जानती हूँ। संसार में उन्हें कौन नहीं जानता? मैं उन्हें हाथ जोड़कर हजारों बार प्रणाम करती हूँ किन्तु मेरा और उनका ब्याह कैसा? वे ठहरे इन्द्र के दिक्पाल और मैं ठहरी मानुषी कीटिका! उन्होंने मुझे जो सन्देश भेजा है, वह केवल क्रीड़ा है, उपहास है, साथ ही सर्वथा अनुचित है। मनुष्य और देवताओं का वैवाहिक सम्बन्ध न कभी हुआ है, न भविष्य में ही होना सम्भव है।”

वसुदेव ने कहा—“परन्तु हे सुन्दरि! तुम्हें यह भी न भूलना चाहिए कि देवताओं की बात न मानने से दमयन्ती को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा था।”

कनकवती ने कहा—“कुबेर का नाम सुनते ही पूर्वजन्म के किसी सम्बन्ध के कारण मेरा चित्त बहुत ही उत्कंठित और आनन्दित होता है, परन्तु हम लोगों का विवाह सम्बन्ध ठीक नहीं। जिनेश्वर भगवान का भी कथन है कि दुर्गन्धयुक्त औदारिक शरीर की गन्ध सहन करने में सुंघाहारी देव असमर्थ होते हैं। मैं तो आपही को अपना पति मानती हूँ। आप कुबेर से जाकर कह दीजिए कि मैं उनका दर्शन करने योग्य भी नहीं हूँ, क्यों कि मैं एक साधारण स्त्री, मानुषी मात्र हूँ।

इस प्रकार वसुदेव ने कनकवती को बहुत ही समझाया, किन्तु जब वह टस से मस न हुई और उन्हीं पर अपना अनुराग प्रकट करती रही, तब वे प्रसन्न हो उठे। वे जिस प्रकार गुप्तरूप से यहां आये थे उसी प्रकार कुबेर के पास वापस लौट गये। वहां पर उन्होंने कुबेर से ज्यों ही यह सब हाल निवेदन करने की इच्छा की, त्योंही कुबेर ने उनको रोक कर कहा—“मुझसे वह सब बातें बतलाने की आवश्यकता नहीं। देवताओं को सब बातें अपने आप मालूम हो जाया करती है।”

इतना कह कर कुबेर ने समस्त देवताओं के समक्ष वसुदेव के निर्विकार आचरण की बड़ी प्रशंसा की। इसके बाद उन्होंने वसुदेव को दो देवदूष्य वस्त्र तथा उत्तमोत्तम आभूषण भी प्रदान किये। इससे वसुदेव साक्षात् कुबेर के समान बन गये। उस समय वहां पर वसुदेव के साथ आये हुए उनके साले आदि उपस्थित थे, वे भी वसुदेव का यह सम्मान देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

उधर कनकवती पिता राजा हरिश्चन्द्र को जब मालूम हुआ, कि राजकुमारी का स्वयंवर देखने के लिये साक्षात् कुबेर पधारे हुए हैं, तब उन्होंने सभामण्डप को विविध रूप से सजा कर उनके लिये एक खास आसन बनवा दिया। इसके बाद वे कुबेर के पास गे और मधुर वचनों द्वारा उनका स्वागत कर, उन्हें स्वयंवर देखने के लिए लेकर आये। जिस समय कुबेर मण्डप की ओर आ रहे थे, उस समय उनकी शोभा दर्शनीय हो रही थी। एक और दिव्य वस्त्राभूषणों से विभूषित देवाङ्गनाएं दोनों ओर से उनपर चमर ढाल रही थी, दूसरी ओर बन्दीजनों का दल उनका गुणकीर्तन करता हुआ उनके आगे आगे चल रहा था। कुबेर हंस पर सवार थे और उनके पीछे पीछे अन्यान्य देवताओं का दल चलता था।

जिस समय कुबेर अपने दलबल के साथ सभा मण्डप में पहुँचे, उस समय सारा मण्डप जग मगा उठा। देव और देवङ्गनाओं से घिरे हुए कुबेर की उपस्थिति के कारण वहाँ पर साक्षात् स्वर्ग का दृश्य उपस्थित हो गया।

कुबेर और वसुदेव के आसन ग्रहण करने पर अन्यान्य राजा तथा विद्याधरों ने भी अपना अपना आसन ग्रहण किया। इसी समय कुबेर ने वसुदेव को कुबेर—कान्ता नामक एक अंगूठी पहनने को दी। वह अंगूठी अर्जुन सुवर्ण की बनी हुई थी और उस पर कुबेर का नाम लिखा हुआ था। उसे कनिष्ठिका उंगली में पहनते ही वसुदेव भी कुबेर के समान दिखायी देने लगे। यह एक बड़े ही आश्चर्य का विषय बन गया। सब लोग कहने लगे—“अहो कुबेर यहाँ पर दो रूप धारण कर पधारे हैं।” चारों ओर बड़ी देर तक इसी की चर्चा होती रही।

यथासमय दिव्य वस्त्रालङ्कारों से सज्जित, हाथ में पुष्पों की जयमाला लिये हुए सखियों से घिरी हुई कनकवती ने राजहंसिनी की भाँति मन्दगति से स्वयंवर के मण्डप में पदार्पण किया। पदार्पण करते ही चारों ओर से सौ दृष्टियाँ एक साथ ही उस पर जा पड़ी। एक बार कनकवती ने भी आंख उठाकर चारों ओर देखा। उसकी दृष्टि उन राजा महाराजा और राजकुमारों के समूह में वसुदेवकुमार की खोज रही थी। उसने उन्हें चित्र और दूत के वेश में देखा था, इसलिये वह उन्हें भली भाँती पहचानती थी, किन्तु आज स्वयंवर मण्डप में वे उसे दिखायी न देते थे। अतः उसने चञ्चल नेत्रों द्वारा वह स्थान दो तीन बार देख डाला, किन्तु कहीं भी उनका पता न चला। इससे उसका मुख कमल मुरझा गया और उसके चेहरे पर विषाद की श्याम छाया स्पष्ट रूप से दिखायी देने लगी। वह इस प्रकार उदास हो गयी, मानों किसी ने उसका स्वस्व छीन लिया हो। मण्डप में अन्यान्य राजे महाराजे पर्याप्त संख्या में उपस्थित थे, किन्तु उसने उनकी ओर आंख उठाकर देखा भी नहीं। इससे उन्हें चिन्ता उत्पन्न हो गयी, कि उनके वेशविन्यास में कहीं कोई त्रुटि तो नहीं है, फलतः वे वारंवार अपने वस्त्राभूषणों की ओर देखने लगे, किन्तु कनकवती उस से मस न हुई। उसकी यह अवस्था देखकर एक सखी ने कहा—“हे सुन्दरी! यही उपयुक्त समय है। इन राजाओं में से जिसे तुम पसन्द करती हो, उसे अब जयमाला पहनाने में विलम्ब मत करो!”

कनकवती ने कुण्ठित होकर कहा—“हे सखी! मैं जयमाला किसे पहनाऊँ? मैंने जिसे पसन्द किया था, अपना हृदय हार बनाना स्थिर किया था, वह खोजने पर भी इस समय कहीं दिखलायी नहीं देता।”

यह कहते कहते कनकवती की आंखों में आंसू भर आये। वह अपने मन में कहने लगी—“हाँ दैव! अब मैं क्या करूँ और कहां जाऊँ? यदि मुझे वसुदेवकुमार न मिलेंगे, तो मेरी क्या अवस्था होगी? हा दैव! वे कहां चले गये?”

इसी समय कनकवती की दृष्टि कुबेर पर जा पड़ी। वे उसे देखकर मुस्कुराने लगे। उनकी उस मुस्कुराहट में व्यंग छिपा हुआ था। इसलिए चतुरा कनकवती तुरन्त समझ गयी कि उसकी इस विडम्बना में अवश्य कुबेर का कुछ हाथ है। इसलिए वह उनके सामने जा खड़ी हुई और हीथ जोड़कर दीनतापूर्वक कहने लगी—“हे देव! पूर्व जन्म की पत्नी समझ कर आप मुझसे दिल्गी न कीजिए। मुझे सन्देह होता है कि मेरे प्राणनाथ को आप ही कहीं छिपा दिया है। हे भगवन्! क्या आप मेरा यह सन्देह दूर न करेंगे?”

कनकवती की यह प्रार्थना सुनकर कुबेर हँस पड़े। उन्होंने वसुदेव की ओर देखकर कहा—“हे महाभाग! मेरी दी हुई उस अंगुठी को अब अपनी अंगुली से निकाल दीजिए!”

कुबेर की यह आज्ञा सुनकर वसुदेव ने अंगुली से वह अंगुठी निकाल दी। निकालते ही वे पुनः अपने स्वाभाविक रूप में दिखायी देने लगे। कनकवती उन्हें देखते ही आनन्द से पुलकित हो उठी। उसने तुरन्त अपनी वरमाला उनके गले में डाल दी। कुबेर भी इस मणिकश्चन योग से प्रसन्न हो उठे। उनकी आज्ञा से देवताओं ने आकाश में दुंदुभिनाद और अप्सराओं ने मंगल गान किया। चारों ओर से यही आवाज सुनायी देने लगी कि धन्य है राजा हरिश्चन्द्र को कि जिनकी पुत्री को ऐसा श्रेष्ठ वर प्राप्त हुआ। तदनन्तर राजा हरिश्चन्द्र ने शीघ्र ही बड़ी धूम धाम के साथ उन दोनों का विवाह कर दिया। कुबेर तथा अन्यान्य राजाओं ने भी इस उत्सव में भाग लेते हुए कई दिन तक राजा हरिश्चन्द्र का आतिथ्य ग्रहण किया।

विवाह कार्य से निवृत्त होने पर एक दिन वसुदेव कुमार ने कुबेर को

प्रणाम कर नम्रता से पूछा—“हे देव ! मुझे यह जानने की बड़ी इच्छा है कि आपने यहां आने का कष्ट क्यों उठाया था ?”

यह सुनकर कुबेर ने कहा—“कनकवती के पूर्वभव।”

“इसी भरत क्षेत्र में अष्टापद के पास संगर नामक एक नगर है। वहां पर मम्मन नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम वीरमती था। एक दिन वह राजा अपनी रानी के साथ शिकार खेलने निकला। संयोगवश उसी समय एक मलीन वेशधारी साधु अपने समुदाय के साथ सामने से आते हुए उसे दिखायी दिये। राजा के विचार बहुत ही नीच थे, इसलिए उसने समझा कि यह बहुत ही बुरा अपशकुन हुआ और इसके कारण अवश्य ही मेरे शिकार में बाधा पड़ेगी।”

यह सोचकर राजा ने मुनिराज को समुदाय से अलग कर लिया और उन्हें अपने साथ लेकर वह अपने राजमन्दिर को लौट आया। वहां पर उसने तथा उसकी रानी ने बारह घण्टे तक उस साधु को नाना प्रकार के कष्ट दिये। इसके बाद कुछ दया आ गयी-इसलिए उन्होंने मुनिराज से पूछा—“तुम कहां से आ रहे थे और कहां जा रहे थे?”

यह सुनकर मुनिराज ने कहा—“हे भद्र ! मैं जिन प्रतिमाओं की वन्दना करने के लिए अपने समुदाय के साथ रोहतकपुर से अष्टापद की ओर जा रहा था। आपने मुझे उन लोगों से अलग कर लिया, फलतः धर्मकर्म के बँधे हुए अन्तराय के कारण मैं अष्टापद पर न जा सका !”

राजा और रानी लघुकर्मी थे, इसलिए मुनि से बातचीत करने पर दुःस्वप्न की भाँति वे क्रोध को भूल गये। मुनिराज तो स्वभाव से ही परोपकारी थे, इसलिए उन्होंने जब देखा कि इनका हृदय कोमल है, तब उन्होंने उन्हें जीवदया प्रधान जिनधर्म कह सुनाया। इससे उन दोनों को धर्म पर कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई तथा भोजनादिक द्वारा मुनिराज का आतिथ्य-सत्कार किया। तदनन्तर वे दोनों श्रावक व्रत ग्रहण कर जिस प्रकार कृपण धन की रक्षा करता है, उसी प्रकार दोनों जन व्रतादिक का पालन करने लगे।

संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो धर्मनिष्ठ मनुष्यों को धर्म द्वारा प्राप्त न होती हो एक दिन धर्मभाव स्थिर करने के लिए शासनदेवी वीरमती को

अष्टापद पर्वत पर ले गयी। वहां पर सुरासुर द्वारा पूजित जिन प्रतिमाओं को देखकर उसे बड़ा ही आनन्द हुआ। वह चौबीस जिन प्रतिमाओं को भक्ति पूर्वक वन्दन कर दैवी शक्ति से अपने नगर को लौट आयी।

इस तीर्थयात्रा से उसकी बुद्धि धर्म में स्थिर हो गयी। कुछ दिनों के बाद उसने प्रत्येक तीर्थंकर को उद्देश्य कर बीस-बीस आयम्बिल किये। साथ ही उसने भक्ति पूर्वक चौबीस जिनों के लिए सुवर्ण के रत्नजड़ित तिलक भी कराये। इसके बाद उसने सपरिवार अष्टापद पर जाकर विधि पूर्वक चौबीसों जिन की पूजा की और सभी प्रतिमाओं के ललाट पर तिलक स्थापित किये। साथ ही चारणश्रमण प्रभृति वहां पर जितने महामुनि थे, उन्हें यथोचित दान दे, उसने अपनी तपश्चर्या के उपलक्ष में उत्सव मनाया। इन कार्यों से उसका मन प्रफुल्लित हो उठा। वह अपने को कृत कृत्य मानती हुई अपने नगर को लौट आयी।

अब राजा और रानी के शरीर भिन्न होने पर भी उनके मन अभिन्न बन गये थे। अपना अधिकांश समय वे धर्म कार्य में व्यतीत करते थे। कुछ दिनों के बाद आयु पूर्ण होने पर समाधि द्वारा उन दोनों ने अपने मानुषी शरीर त्याग दिये। इसके बाद वे देवलोक में देव और देवी के रूप में दम्पति हुए। वहां से च्युत होने पर मम्मन का जीव बहली देश के पोतनपुर में धम्मिल नामक एक गोपाल के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। वहां पर उसका नाम धन्य रक्खा गया।

उधर वीरमती का जीव देवलोक से च्युत होकर एक कन्या के रूप में उत्पन्न हुआ और उसका नाम धुसरी पड़ा। यही धुसरी यथा समय धन्य की पत्नी हुई। धन्य जंगल में भैंसें चराया करता था, क्योंकि वह गोपालों का प्रथम कुलकार्य है। एक बार वर्षा के दिन थे और रिमझिम रिमझिम पानी बरस रहा था। जमीन पर कीचड़ हो रहा था और आकाश में बिजली चमक रही थी। घर से निकलने लायक दिन न था, फिर भी धन्य वर्षा से बचने के लिये एक बड़ा सा छाता लेकर, भैंसों को चराने के लिए निकल पड़ा।

जंगल में भैंसें चराते समय धन्य ने एक पैर से खड़े हुए प्रतिमाधारी एक साधु को देखा। तपस्या के कारण उनका शरीर बहुत कृश हो गया था और

इस समय वर्षा के कारण कांप रहा था। मुनिराज की यह कठिन तपस्या देखकर धन्य का हृदय द्रवित हो उठा। उसने अपना छाता मुनिराज के शिर पर लगा दिया, फलतः मुनिराज को बड़ा ही आराम मिला। इस प्रकार जब तक पानी बरसता रहा, तब तक वह बराबर उनके शिरपर छाता लगाये रहा। इधर मुनिराज ने वर्षा होने तक ध्यान का अभिग्रह किया था, इसलिए जब वर्षा बन्द हुई, तब वे भी ध्यान से निवृत्त हुए। इसके बाद धन्य ने उनकी चरण सेवा कर नम्रता पूर्वक पूछा—“हे मुनिराज! आज बड़ा ही दुर्दिन है। चारों ओर जल और कीचड़ ही कीचड़ नजर आता है। ऐसे विषम समय में आपका आगमन यहां पर कैसे हुआ?”

मुनिराज ने उत्तर दिया—“हे भाई! मैं पाण्डु देश से आ रहा हूँ। मुझे लंका नगरी जाना है, क्योंकि वह गुरुचरण से पावन हो चुकी है। परन्तु वर्षा के कारण मेरी इस यात्रा में बाधा पड़ गयी क्योंकि वर्षा में साधु के लिए मार्ग में चलना मना है। उसी कारण से मैं वृष्टि का अभिग्रह लेकर यहां रह गया। आज सातवें दिन वृष्टि बन्द होने पर मेरा वह अभिग्रह पूर्ण हुआ है। अब मैं यहां से किसी बस्ती में चला जाऊँगा।”

धन्य ने हाथ जोड़कर कहा—“हे प्रभो! रास्ते में बड़ा ही कीचड़ है। आप मेरे भैसे पर बैठ जाइये। ऐसा करने पर आप आसानी से पास की बस्ती में पहुँच जायँगे।”

मुनिराज ने उत्तर दिया—हे गोपाल! साधु किसी जीव पर सवारी नहीं करते। वे ऐसा कोई भी काम नहीं कर सकते, जिससे दूसरों को पीड़ा या कष्ट हो। साधु तो सदा पैदल ही चलते हैं।

धन्य ने कहा—“अच्छा, महाराज! आप मेरे साथ चलिए। क्या आप मेरे नगर को पवित्र न करेंगे?”

मुनिराज धन्य का अनुरोध मानकर उसके साथ चल पड़े। धन्य बड़े प्रेम से उनको अपने घर पर ले गया। वहां पर उसने मुनिराज को बन्दन कर के कहा—“हे भगवान्! आप जरासी देर यहां ठहरिए। मैं भैसों को दोह कर अभी आपके पास आता हूँ।”

मुनिराज ठहर गये। धन्य भैसों दोह कर सारा दूध मुनिराज के पास ले आया और अपने आत्मा को धन्य मान कर उसी दूध से मुनिराज को पारणा कराया। इसके बाद मुनिराज सारी रात्रि वहीं पर बिताकर दूसरे दिन वहां से अपने इष्ट स्थान को चले गये।

मुनिराज के संसर्ग से धन्य ने अपनी स्त्री के साथ सम्यक्त्व धारण कर दीर्घकाल तक श्रावक धर्म का पालन किया। इसके बाद यथासमय उन्होंने दीक्षा ले ली और सात वर्ष तक दीक्षा पालन कर समाधि द्वारा दोनों ने अपने शरीर त्याग दिये। क्षीरदान द्वारा उपार्जित पुण्य के कारण वे दोनों हैमवन्त क्षेत्र में युगलिए हुए और वहां से मृत्यु होने पर वे क्षीरडिंडीरा के नाम से देव और देवी के रूप में दम्पति हुए।



आठवाँ परिच्छेद नल-दमयन्ती-चरित्र



देवलोक से च्युत होने पर वह देव कोशलदेश की अयोध्या नामक नगरी में इक्ष्वाकु वंशोत्पन्न राजा निषधराज की सुन्दरा नामक रानी के उदर से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ और उसका नाम नल पड़ा। दूसरी और विदर्भ देश के कुंडिनपुर नामक नगर में भीमरथ नामक राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम पुष्पदन्ती था। देवलोक से च्युत होने पर क्षीरडिंडीरा देवी ने उसी के उदर से पुत्री रूप में जन्म लिया।

क्षीरडिंडीरा का जन्म होने के पहले एक विचित्र घटना इस प्रकार घटित हुई कि—रानी पुष्पदन्ती को एक दिन प्रातःकाल के स्वप्न में ऐसा मालूम हुआ मानो दावाग्नि से भय भीत होकर एक सफेद हाथी उनके राजभवन में घुस आया है। रानी ने सुबह इस स्वप्न का हाल अपने पति से कहा। राजा भीमरथ अनेक शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता थे। इसलिए उन्होंने कहा—“हे सुन्दरि! इस स्वप्न का फल बहुत ही अच्छा है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि कोई पुण्यवान जीव आज तुम्हारे गर्भ में आया है।”

राजा रानी इस तरह की बातें कर ही रहे थे, कि इतने में सचमुच, एक विशाल हाथी वहां आ पहुँचा। राजा और रानी ज्योंही कौतूहलवश उसके पास गये, त्योंही उसने उन दोनों को अपने कन्धे पर बैठा लिया। इसके बाद उन्हें लिये ही लिये वह समूचे नगर में भ्रमण करने लगा। वह जिधर जाता, उधर ही लोग उसका पूजन कर उसे पुष्पामालाएं पहनाते। समूचा नगर घूमने के बाद वह राज भवन के वापस लौट आया और वहां पर उसने राजा रानी को अपने

कन्धे से नीचे उतार दिया। देवताओं ने भी इस समय उन दोनों पर पुष्प वृष्टि की। राजा भीमरथ इस घटना से बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने उस हाथी के मस्तक पर सुगन्धित लेप लगा, उसकी पूजा और आरती की। इसके बाद उन्होंने उसे गजशाला में भेज दिया।

गर्भ काल पूर्ण होने पर रानी ने शुभ मुहूर्त में एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया। उसके ललाट पर सूर्य के समान एक स्वाभाविक तिलक था, इससे वह और भी सुन्दर मालूम होने लगी। उसका जन्म होने के बाद राजा भीमरथ का प्रताप अधिक बढ़ गया और बड़े राजा भी उसकी आज्ञा मानने लगे। गर्भ धारण के समय रानी ने दावानल से पीड़ित हाथी को अपने महल की ओर आते देखा था, इसलिए एक मास पूर्ण होने पर राजा ने उसका नाम दवदन्ती (दमयन्ती) रक्खा।

राजा रानी और दास दासियों के लालन पालन से दवदन्ती कुछ बड़ी होकर ठुमुक ठुमुक कर अपने पैरों से चलने लगी। जिस समय वह राजमहल के आंगन में खेलती, उस समय ऐसा मालूम होता, मानो साक्षात् लक्ष्मी खेल रही है। उसके प्रभाव से राज्य की आमदनी बढ़ गयी और राजा का खजाना भी सदा भरापूरा रहने लगा।

अब आठ वर्ष की होने पर राजा ने दमयन्ती को कलाचार्यों के पास अध्ययन के लिए भेजा। कलाचार्य तो उसके साक्षी मात्र बनें। सभी कलाएँ दर्पण में प्रतिबिम्ब के सदृश उसमें संक्रमित हो गयीं। वह 34 कलाओं में प्रवीण बन गयी।

दमयन्ती ने कर्म प्रकृति आदि का भी भलीभांति अध्ययन किया। उस समय किसी भी विद्वान में क्षमता न थी, जो उसके सामने स्याद्वाद मत का खण्डन कर सके। इस प्रकार दमयन्ती ने जब समस्त कलाओं में पारदर्शिता प्राप्त कर ली, तब उसके आचार्य उसे राजा भीमरथ के पास ले गये। राजा ने उसकी परीक्षा ली, तो वह समस्त विद्या और कलाओं में अद्वितीय प्रमाणित हुई। अन्त में राजा ने धार्मिक शास्त्रार्थ का आयोजन किया। उसमें भी उसी की विजय हुई। अनन्तर उसने अपनी चतुराई से ऐसी बातें सिद्ध कर दिखायीं, जिससे सम्यक्त्वधारी मनुष्यों में उसके पिता दृष्टान्त स्वरूप माने जाने लगे।

दमयन्ती की यह निपुणता देखकर राजा भीमरथ प्रसन्न हो उठे। उन्होंने आचार्यों को एक लाख स्वर्ण मुद्राएं दक्षिणा स्वरूप देकर सम्मानित किया। दमयन्ती की शिक्षा पूर्ण हो गयी।

इसके कुछ ही दिन बाद दमयन्ती के पुण्य प्रभाव के कारण शासन देवी ने प्रकट हो उसे सोने की चमकती हुई एक जिन प्रतिमा दी और कहा—“हे पुत्रि! यह प्रतिमा शान्तिनाथ भगवान की है। यदि तू नियमित रूप से इसकी नित्य पूजा करेगी, तो तेरा कल्याण हो जायगा।” इतना कह शासन देवी अन्तर्धान हो गयी और वह नियमित रूप से श्रद्धा पूर्वक उस प्रतिमा की पूजा करने लगी।

कुछ दिनों के बाद उसने युवावस्था में पदार्पण किया। वह सुन्दर तो थी ही, युवावस्था के कारण अब और भी सुन्दर दिखायी देने लगी। राजारानी को उसका विवाहोत्सव देखने का बड़ा हौंसला था, किन्तु उसके उपयुक्त वर खोज निकालना कोई सहज काम न था। राजा ने सोचा—“अब इसकी अवस्था बड़ी हो गयी है। यह भला बुरा समझ सकती है। इसलिए अब इसका स्वयंवर करना अनुचित न होगा।” मन्त्रियों की सम्मति लेने के बाद अन्त में उन्होंने यही करना स्थिर किया।

राजा की आज्ञा से शीघ्र ही स्वयंवर की तैयारी होने लगी। भिन्न भिन्न देश के राजाओं को निमन्त्रित करने के लिए निमन्त्रण पत्र देकर दूत विदा किये गये। लाखों रुपये खर्च कर स्वयंवर के लिए एक दर्शनीय मण्डप तैयार किया गया। धीरे धीरे जब स्वयंवर का समय करीब आ पहुँचा, तब भिन्न भिन्न देश के राजा और राजकुमार कुंडिनपुर में आकर एकत्र होने लगे। राजा भीमरथ ने उनको ठहराने के लिए नगर के बाहर रम्य राजमन्दिर बनवाये थे, उन्हीं में वे सब ठहराये गये। उस समय उन सब राजाओं के हाथियों की भीड़ से वह स्थान विन्ध्याचल पर्वत के समान प्रतीत होने लगा।

स्वयंवर में भाग लेने के लिए नल और कुबेर नामक अपने दोनों पुत्रों के साथ निषध राजा भी कुंडिनपुर पधारे थे। राजा भीमरथ उनके सामने जाकर उन्हें सम्मान पूर्वक अपने नगर में लिवा आये थे। उनके ठहरने के लिए भी उन्होंने दूसरे राजाओं की अपेक्षा अधिक सुन्दर और सुविधाजनक स्थान प्रदान किया था।

स्वयंवर के दिन अपने राज कुमारों के साथ दिव्य वस्त्राभूषण धारण कर राजाओं ने मंडप के स्वर्ण सिंहासनों पर स्थान ग्रहण किया उस समय उनकी शोभा देखते ही बनती थी। कोई कौशल पूर्वक सोने का कमल घुमा रहा था, कोई भ्रमर की भांति सुगन्धित पुष्पों की गन्ध ले रहा था, तो कोई फूलों का गेंद उछाल रहा था। सभी अपने अपने वेशपर मुग्ध हो रहे थे। सभी अपने मन में समझते थे कि मैं दूसरों की अपेक्षा अधिक सुन्दर हूँ, इसलिए राजकुमारी मुझे ही वरण करेगी।

यथासमय सखियों से घिरी हुई दमयन्ती ने रम्भा की भांति स्वयंवर मण्डप में प्रवेश किया उसे देखकर नृपतिगण अपना चातुर्य विशेष रूप से प्रकट करने लगे। सबके नेत्र उधर ही जाकर अटक गये। अनेक राजा सफल मनोरथ होने के लिए अपनी कुलदेवी का स्मरण करने लगे। सभी उसकी गतिविधि, उसका वर निर्वाचन देखने के लिए अधीर हो उठे।

अन्त में राजा का संकेत होते ही दमयन्ती की प्रधान परिचारिका उसे भिन्न भिन्न राजाओं को दिखाकर उनका परिचय प्रदान करने लगे। उसने कहा—“हे स्वामिनी! यह शिशुमारपुर के स्वामी राजा जितशत्रु के पुत्र राजा ऋतुपर्ण हैं। यह इक्ष्वाकु वंश के तिलक समान श्रीचन्द्र राजा के पुत्र चन्द्रराज हैं। क्या इन्हें वरण करने की तुम्हारी इच्छा है? यह चम्पा नगरी के स्वामी भोगवंशोत्पन्न धरणेन्द्र राजा के पुत्र सुबाहु राजा है। इनसे विवाह करने पर गंगा के सुगन्धित जलकणों से युक्त वायु तुम्हारी सेवा करेगी। यह रोहितकपुर के स्वामी पवन के पुत्र राजा चन्द्रशेखर हैं। इनके अधिकार में बत्तीस लाख ग्राम हैं। क्या तुम इन्हें पसन्द करती हो? यह केसरी राजा के पुत्र मन्मथरूप शशलक्ष्मा को देखो। यह सूर्य वंश के मुकुट समान भृगुकच्छ के स्वामी जन्हुराजा के पुत्र यज्ञदेव हैं। हे सुन्दरि! क्या तुम इन्हें जयमाल पहनाओगी? यह भरतचक्रवर्ती के कुलतिलक राजा मानवर्धन हैं। इनकी कीर्ति सारे संसार में फैली हुई है। यह कुसुमायुध के पुत्र मुकुटेश्वर हैं। इनसे विवाह करने पर चन्द्र और रोहिणी की भांति तुम दोनों शोभा पा सकते हो। यह कौशलाधिपति निषध नामक राजा है जो ऋषभस्वामी के कुल में उत्पन्न हुए हैं। यह तीनों भवन में विद्युत् हैं और यह दोनों कुमार इन्हीं के महाबलवान पुत्र हैं। इनके

नाम नल और कुबेर हैं। इनमें से जिसे तुम पसन्द करती हो, उसे जयमाल पहना सकती हो।”

नल को देखते ही उनके रूप और जन्मान्तर के स्नेह के कारण दमयन्ती उन पर मोहित हो गयी। उसने साक्षात् लक्ष्मी की भांति नलकुमार के कंठ में वरमाल पहना दी। गुरुजनों ने उसकी यह पसंदगी देखकर आनन्द प्रकट किया। आकाश से देव और विद्याधरों ने भी जयजयकार की ध्वनि की। किन्तु उस मण्डप में ऐसे भी कुछ राजे और राजकुमार उपस्थित थे, जो अपनी निष्फलता के कारण बेतरह बिराड उठे। उन्हीं में एक कृष्णराज भी था। वह शीघ्रता पूर्वक सिंहासन से उठकर खड़ा हो गया और तलवार खींचकर कहने लगा—“हे नल! दमयन्ती ने तुम्हें जयमाल पहना दी है, इससे तुम यह मत समझना कि वह तुम्हारी हो जायगी। मेरे जीते जी किसकी मजाल है जो उससे ब्याह कर ले। तुम उसकी आशा छोड़ दो या शस्त्र लेकर युद्ध करने के लिए तैयार हो जाओ! कृष्णराज को जीते बिना तुम्हारा मनोरथ सफल नहीं हो सकता।”

उसकी यह ललकार सुनते ही नल के बदन में मानों आग सी लग गयी। क्रोध के कारण उनका चेहरा तमतमा उठा और दोनों होंठ फड़क उठे। वे भी अपनी तलवार खींचकर चारों और बिजली की तरह चमकाने लगे। अपने स्वामियों की यह युद्ध तत्परता देखकर दोनों और की सेनाएँ भी तैयार हो गयी। भयंकर मारकाट की तैयारी होने लगी। ऐसा मालूम होने लगा मानों स्वयंवर भूमि समरस्थली के रूप में परिणत हो जायगी और कुछ ही क्षणों में वहां खून की नदी बहने लगेगी। एक तो पहले जिस वायुमण्डल में हंसी खुशी और कोतूहल भरा हुआ था वही अब युद्ध की भावना से गंभीर और भयंकर बन गया!

इस प्रकार रंग में भंग होते देखकर दमयन्ती अपने मन में कहने लगी—
“ओह! क्या मेरे लिये यह प्रलय उपस्थित होगा? क्या मैं पुण्यहीन हूँ? हे शासन देवी! हे माता! यदि मैं वास्तव में श्राविका होऊँ तो नल की विजय और उनके शत्रुओं की पराजय हो! सैनिक तो दोनों और के निर्दोष हैं इसलिए उनका बाल भी बांका न हो!

इतना कह दमयन्ती ने कलश से जल लेकर कृष्णराज पर उसे तीन बार छिड़क दिया। यह छींटे शरीर पर पड़ते ही कृष्णराज बुझे हुए अंगारे की भांति निस्तेज हो गया। साथ ही शासन देवी के प्रभाव से उसके हाथ की तलवार इस प्रकार जमीन पर गिर पड़ी, जिस प्रकार वृक्ष से पका हुआ पत्र गिर पड़ता है। इससे कृष्णराज श्रीहीन हो गया और अपने मन में कहने लगा कि नल कोई साधारण मनुष्य नहीं है, मैंने अज्ञानता के कारण व्यर्थ ही उसे भला बुरा कहा और उसका अपमान किया। मुझे इसके लिए अब क्षमा—प्रार्थना करनी चाहिए।

मन में यह सद्भाव उत्पन्न होते ही कृष्णराज एक नौकर की भांति नल के पैरों पर गिरकर हाथ जोड़कर कहने लगा—“हे स्वामिन्! मैंने अविचार पूर्वक जो बातें कहीं थी, उनके लिए मुझे घोर पश्चात्ताप हो रहा है। मेरा यह अपराध क्षमा कीजिए।

नल बड़े ही सज्जन और उदार पुरुष थे इसलिए उन्होंने कृष्णराज को शरणागत समझकर तुरन्त उसका अपराध क्षमाकर दिया। अपने जामाता के यह गुण देखकर राजा भीमरथ अत्यन्त प्रसन्न हुए और अपनी पुत्री को पुण्यवती मानकर मन ही मन उसकी प्रशंसा करने लगे। इसके बाद उन्होंने समस्त राजाओं के सामने ही शुभ मुहूर्त में नल दमयन्ती का विवाह कर दिया। कन्या दान के समय उन्होंने नल को अनेक हाथी घोड़े तथा रथादिक देकर सम्मानित किया। स्वयंवर में पधारे हुए जो राजा उनके आग्रह से ठहर गये थे, उनका भी आदर सत्कार करने में उन्होंने किसी प्रकार की कोरकसर न रखी।

विवाह कार्य सम्पन्न हो जाने के बाद हाथ में कंकण बांधे हुए ही नल और दमयन्ती ने मंगल गान गाती हुई वृद्धा स्त्रीओं के साथ गृह चैत्य की विधि पूर्वक वन्दना की। इस के बाद राजा भीमरथ तथा निषधराज ने बड़े समारोह के साथ उन दोनों का कंकण मोचन कराया। विवाहोत्सव पूर्ण हो जाने पर भी कई दिन तक निषधराज ने राजा भीमरथ का आतिथ्य ग्रहण किया। इसके बाद उन्होंने भीमरथ से विदा ग्रहण की। भीमरथ उन्हें बहुत दूर तक पहुंचा कर अन्त में अपने नगर को वापस लौट गये।

चलते समय दमयन्ती को उसकी माता पुष्पदन्ती ने शिक्षा दी कि हे

पुत्री! घोर संकट पड़ने पर भी तुम अपने पति से कभी दूर न रहना। जिस प्रकार शरीर के पीछे छाया लगी रहती है, उसी प्रकार स्त्री को सदा अपने पति का अनुसरण करना चाहिए। पतिव्रता स्त्री के लिए पति के चरण ही आश्रयस्थान हुआ करते हैं। पति ही उसका उपास्य देव और पति ही उसका जीवनधन होता है। हे पुत्री! मेरी इन बातों पर ध्यान रखोगी, तो तुम सदा सुखी रहोगी। भगवान सदा तुम्हारा मंगल करेगा।”

इस प्रकार पुत्री को शिक्षा देकर माता ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसे ससुराल के लिए विदा किया। वह भी माता पिता और सखियों के वियोग से खिन्न होती हुई नलकुमार के रथ में बैठ गयी। पुत्र और पुत्रवधू को एक रथ में बैठे देखकर निषधराज का हृदय आनन्द से भर गया। एक विजयी नृपति की भांति अभिमानपूर्वक भूमि को कंपित करते हुए उन्होंने अपने नगर के लिए प्रस्थान किया। उनके हाथी जिधर से निकलते, उधर की जमीन उनके मदजल से तर हो जाती। घोड़े जिधर से निकलते, उधर की जमीन उनके पैरों से दबकर कांसे के बर्तन की तरह बजने लगती। गाड़ियों की गति से रास्ते चित्रित से हो गये। ऊंट और खच्चड़ो ने मार्ग के वृक्षों को पत्र रहित बना दिया। सैनिकों ने कूप, तालाब और नदियों का जल पी पीकर उन्हें खाली कर डाला। सेना के चलने से इतनी धूल उड़ती थी, कि उसके कारण आकाश में दूसरी भूमि सी प्रतीत होने लगती थी। राजा निषध अपने नगर पहुँचने के लिए इतने अधीर हो रहे थे कि वे किसी भी विघ्न बाधा की परवाह न कर तूफान की तरह निश्चित मार्ग पार करने के बाद ही विश्राम का नाम लेते थे।

एक दिन निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के पहले ही मार्ग में सूर्यास्त हो गया। अन्धकार में जल, स्थल, गङ्गा या टीला कुछ भी दिखायी न देता था। ऐसी अवस्था में सेना के लिए आगे बढ़ना बहुत ही कठिन हो गया। आंखे होने पर भी सब लोग अन्धे की तरह इधर उधर भटकने और ठोकरें खाने लगे। सेना की यह अवस्था देखकर नल ने गोद में लेटी हुई दमयन्ती से कहा—“प्रिये! इस समय हमारी सेना अन्धकार के कारण विचलित हो रही है। तुम्हें इस समय अपने तिलक भास्कर को प्रकाशित कर सेना को आगे बढ़ने में सहायता करनी चाहिए।”

पतिदेव के यह वचन सुनकर दमयन्ती ने जल लेकर अपना ललाट धो दिया। फलतः उसका तिलक अन्धकार में सूर्य की भांति प्रकाशित हो उठा और उसी प्रकाश में समस्त सेना उस दिन का रास्ता तय कर निर्दिष्ट स्थान में जा पहुँची।

दूसरे दिन मार्ग में नल को एक प्रतिमाधारी मुनिराज दिखायी दिये। उनके चारों ओर भ्रमर इस तरह चक्कर काट रहे थे। जिस तरह मधुर रस और पराग के फेर में वे कमल के आसपास चक्कर काटा करते हैं। उन्हें देखते ही नलकुमार अपने पिता के पास दौड़ गये और उनसे कहने लगे—“पिताजी! क्या आप ने इन मुनिराज को नहीं देखा? चलिए, इन्हें वन्दन कीजिए और चलते-चलते इनके दर्शन का पुण्य लूटिए। देखिए, यह मुनिराज कायोत्सर्ग कर रहे है। किसी मदोन्मत्त हाथी ने खुजली मिटाने के लिए अपना गण्डस्थल इनके शरीर से रगड़ दिया है। मालूम होता है कि वैसा करते समय उसका मदजल मुनिराज के शरीर में लग गया है और उसीकी सुगन्ध से यह मधु लोलुप भौरों का दल यहां खिंच आया है। इन भौरों ने मुनिराज को न जाने कितना काटा हे, किन्तु फिर भी वे परिसह सहन कर रहे हैं। हाथी द्वारा उत्पीड़ित होने पर भी अपने स्थान या ध्यान से न डिगने वाले मुनिराज का अनायास दर्शन होना वास्तव में बड़े सौभाग्य का विषय है।”

पुत्र के यह वचन सुनकर निषधराज को भी उन मुनिराज पर श्रद्धा उत्पन्न हुई। वे अपने पुत्र और परिवार के साथ उनके पास गये और उनको वन्दन कर कुछ देर तक उनकी सेवा की। इसके बाद उनकी रक्षा का प्रबन्ध कर वे वहां से आगे बढ़े शीघ्र ही कोशला नगरी के समीप आ पहुँचे। नल ने दमयन्ती को उसे दिखाते हुए कहा—“प्रिये! देखो, यही जिन चैत्यों से विभूषित हमारी नगरी है।”

नल के यह कहने पर दमयन्ती ने उन विशाल जिन चैत्यों को देखा। उनके बाह्य दर्शन से ही उसका हृदय मन मयूर की भांति थिरक उठा। उसने उत्साहित होकर कहा—“मैं धन्य हूँ जो मुझे आप जैसे पति मिले, जो इस रमणीय नगरी के स्वामी हैं। मैं इन चैत्यों की नित्य वन्दना किया करूँगी।”

इधर निषधराज के आगमन का समाचार पहले ही नगर में फैल गया

था, इसलिए जनता ने उनके स्वागत की पूरी तैयारी कर रखी थी। नगर के सभी रास्ते ध्वजा और पताकाओं से सजा दिये गये थे। घर घर मंगलाचार हो रहा था। निषधराज ने अच्छा दिन देखकर अपने दोनों पुत्र और पुत्र वधु के साथ नगर प्रवेश किया। निषधराजा ने यहाँ पर भी अपनी ओर से नल का विवाहोत्सव मनाया और दीन तथा आश्रितों को दानादि देकर सन्तुष्ट किया।

इसके बाद नल और दमयन्ती ने बहुत दिनों तक अपना समय आनन्दपूर्वक व्यतीत किया। अन्त में राजा निषधराज को वैराग्य उत्पन्न हुआ, इसलिए उन्होंने नल को अपने सिंहासन पर बैठाकर और कुबेर को युवराज बनाकर दीक्षा ले ली। नलकुमार परम न्यायी और नीतिज्ञ थे, इसलिए उन्होंने इस गुरुतर भार को आसानी से उठा लिया। वे सन्तान की ही भांति प्रजा का पालन करते थे और उनके दुःख से दुःखी तथा सुख से सुखी रहते थे। अपने इस गुण के कारण वे शीघ्र ही जनता के प्रेम भाजन बन गये। बुद्धि पराक्रम और भुजबल में उनका सामना करना सहज काम न था। इसीलिए उनके शत्रुओं ने मन ही मन हार मान ली, जिससे उनका राज्य केवल निष्कण्टक ही बन गया, बल्कि धीरे धीरे उसमें कुछ वृद्धि भी हो गयी।

राज्य मिलने के कई वर्ष बाद एक दिन नल राजा ने अपने पुराने सामन्त और मन्त्रियों से पूछा—“मेरा राज्य इस समय भी क्या उतना ही बड़ा है, जितना पिताजी के सामने था, या उसमें कुछ वृद्धि हुई है?”

मन्त्रियों ने कहा—“आपके पिताजी ने तीन अंश न्यून अर्धभरत पर राज्य किया था, किन्तु आप तो पूरे अर्धभरत पर राज्य करते हैं। पिता की अपेक्षा पुत्र का अधिक होना अच्छा ही है। इसी में उसकी तारीफ है। किन्तु आपकी इस कीर्ति में एक बात कलंक रूप हो रही है।

नल ने आश्चर्य चकित होकर पूछा—“वह कौन सी बात है?”

मन्त्रियों ने कहा—“यहां से दो सौ योजन की दूरी पर तक्षशिला नामक नगरी में कदम्ब नामक राजा राज्य करता है। आपके अर्धभरत में केवल वही एक ऐसा है, जो आप की आज्ञा नहीं मानता। यद्यपि वह बहुत छोटा राजा है और आपने सहीसमझकर उसकी उपेक्षा की है, किन्तु यह ठीक नहीं इससे दिनों दिन उसका हौंसला बढ़ता जा रहा है। यदि यही अवस्था बनी रही तो

फिर उसे वश करना कठिन हो जायगा। अभी जो काम केवल धमकी से हो सकता है, वह फिर युद्ध करने पर भी न हो सकेगा।”

मंत्रियों की बात सुनकर नलराजा ने कदम्ब के यहां एक दूत भेजने का विचार किया। इसके लिए उन्होंने एक महावाचाल दूत को पसन्द किया और उसे सब बातें समझाकर एक बहुत बड़ी सेना के साथ वहां जाने की आज्ञा दी। दूत उसी दिन वहां से प्रस्थान कर शीघ्र ही राजा कदम्ब के यहां पहुँचा। उसने उसकी राज सभा में उपस्थित हो, उसे अपने आगमन का कारण कह सुनाया। साथ ही उसने कहा—“हे राजन्! आपको अपना अभिमान छोड़कर नल राजा की दासता स्वीकार कर लेनी चाहिए। इसी में आप का कल्याण है। यदि आप मेरे इन हितवचनों पर ध्यान न देंगे और राजा नल की अधीनता स्वीकार न करेंगे, तो निःसन्देह आप को बहुत पछताना पड़ेगा।”

दूत के यह वचन सुनते ही कदम्ब का चेहरा लाल हो गया और क्रोध के कारण उसकी आंखों से चिंगारियाँ झरने लगी। वह आप से बाहर होकर कहने लगा—“हे दूत! तुम्हारे स्वामी पागल तो नहीं हो गये? क्या वे मेरी प्रकृति और मेरे भुजबल से अपरिचित हैं? क्या तुम्हारे यहां सामन्त और मन्त्री आदि का भी अभाव है, जो तुम्हारे राजा को सोते हुए सिंह को जगाने से नहीं रोकते? तुम्हारे राजा ने तुम्हें मेरे यहां भेजकर बड़ा ही दुस्साहस किया है। तुम दूत हो, साथ ही निर्दोष हो, इसलिए तुम्हें छोड़ देता हूँ। तुम्हारे हितवचनों में कोई सार नहीं। यदि तुम्हारे राजा को राज्य से नफरत हो गयी हो, तो वे खुशी से युद्ध कर सकते हैं। मैं भी इसके लिए तैयार बैठा हूँ।”

उसके यह धृष्टतापूर्ण वचन सुनकर दूत को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वह चुपचाप वहां से अपने नगर को लौट आया और राजा नल को उसका उत्तर और उसके अहंकार का हाल कह सुनाया। सुनकर राजा नल ने शीघ्र ही अपने मन्त्री और सामन्तों को एकत्रकर उनसे सलाह की, सलाह ने शीघ्र ही उस पर आक्रमण करने का निर्णय हुआ, इसलिए राजा नल ने विशाल सेना लेकर तक्षशिला पर धावा बोल दिया और बड़ी फुर्ती के साथ चारों ओर से उसे घेर लिया। उस समय चारों ओर हाथियों का मजबूत घेरा देखकर ऐसा मालूम होता था, मानो तक्षशिला के आसपास लौह-निर्मित किला खड़ा है। इधर नल

के आक्रमण का समाचार मालूम होते ही कदम्ब भी अपनी सेना के साथ बाहर निकल आया। बस, फिर क्या था, दोनों दलों में घोर युद्ध आरम्भ हो गया। पैदल से पैदल, घोड़े से घोड़े और हाथी से हाथी, भिड़ गये। चारों और खून की प्यासी चमाचम तलवारों चमकने लगी। बाण चलानेवालों ने आकाश में बाणों के मण्डप बना दिये। शस्त्र प्रहारों से आहत हो, दोनों दलों के योद्धा भूमि पर गिर-गिर कर वीरगति को प्राप्त होने लगे। देखते ही देखते वहाँ पर खून की नदी बहने लगी।

दोनों ओर के सैनिक और हाथी घोड़ों का नाश होते देखकर नल ने कदम्ब से कहा—“व्यर्थ ही इन निर्दोष सैनिक और मूक पशुओं का नाश क्यों होना चाहिए? हम दोनों परस्पर युद्ध कर अपने जय पराजय का निर्णय क्यों न कर लें?”

कदम्ब अभिमानी तो था ही, उसने तुरन्त नल की बात मान ली। उनका आदेश मिलते ही दोनों ओर सैनिकों ने युद्ध बन्द कर दिया। अब नल और कदम्ब में विविध आयुधों द्वारा भांति भांति का युद्ध होने लगा। कभी वे तलवार से लड़ते, कभी भाले और कभी कटारी से। एक बार दोनों में भीषण मल्लयुद्ध भी हुआ। कदम्ब ने जिस प्रकार का या जिस जिस शस्त्र द्वारा युद्ध करने की इच्छा प्रकट की अथवा जिस युद्ध के लिए नल को चुनौती दी, उसी युद्ध में नल ने उसे बुरी तरह पराजित किया। किसी युद्ध में भी कदम्ब की विजय न हुई।

अब कदम्ब की आंखे खुली। अब उसे मालूम हुआ कि नल से लोहा लेने में, नल को तुच्छ समझने में उसने भयंकर भूल की थी। किन्तु अब क्या हो सकता था? विजयलक्ष्मी ने जयमाल नल के गले में डाल दी थी। कदम्ब सभी तरह से हारा हुआ था। वह चिन्ता में पड़ गया। प्रायः ऐसे ही समय मनुष्य के हृदय में सदबुद्धि उत्पन्न होती है। उसने सोचा कि राज्य तो हाथ से जाता ही है, अब कीड़ी, मच्छर या कुत्ते की मौत करने की अपेक्षा मैं कोई ऐसा कार्य क्यों न कर लूँ, जिससे मेरा आत्म कल्याण हो जाय?

सौभाग्यवश उसे आत्मकल्याण का एक उपाय भी सुझाई दिया। उसने उसी समय समरभूमि से भाग कर किसी मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ले ली।

यह बात नल को मालूम न हो सकी, इसलिए उन्होंने उसकी खोज करनी शुरू की। उन्होंने सोचा कि उसे इस प्रकार जीता छोड़ देने से वह फिर किसी दिन बगावत का झंडा खड़ा करेगा, इसलिए या तो उसे मार डालना चाहिए या उससे अपनी वश्यता स्वीकार करा लेनी चाहिए। यही सोचकर उन्होंने उसका पीछा न छोड़ा।

कई दिनों के बाद नल ने कदम्ब को पाया, किन्तु उनके लिये उसको पाने की अपेक्षा न पाना ही अच्छा था। कदम्ब उस समय प्रतिमाधारी यति के वेश में था। नल उसका यह वेश देखकर चक्कर में पड़ गये। पहले तो उन्होंने समझा कि उसने प्राणभय से ही यह वेश धारण कर लिया है, इसलिए उन्होंने उसे भला बुरा कहकर युद्ध के लिये ललकारा, किन्तु उनकी बातों का जब उस पर कोई प्रभाव न पड़ा, तब नल को विश्वास हो गया, कि उसने वास्तव में दीक्षा लेकर तप आरम्भ कर दिया है। अपने इस कार्यद्वारा उसने उल्टे नल को जीत लिया। नल ने उसके सामने शिर झुकाकर कहा—“कदम्ब! मैंने अज्ञानतावश तुम्हें भला बुरा कहा है इसके लिए मेरा यह अपराध क्षमा करो।

इधर कदम्ब भी वास्तव में विरक्त हो गया था। उसके निकट अब राजा और प्रजा सभी समान थे। किसी के अपराध से रुष्ट होने या किसी की खुशामद से सन्तुष्ट होने का अब उसे कोई कारण न था, इसलिए उसने नल की इन बातों का कोई उत्तर न दिया। उसकी यह निस्पृहता देखकर नलराज की श्रद्धा सौगुनी बढ़ गयी। वे नाना प्रकार से कदम्ब की स्तुति कर, उसके सत्त्व से शिर धुनाते हुए तक्षशिला को लौट आये। वहां पर उन्होंने उसके पुत्र जयशक्ति को उसके सिंहासन पर बैठाया। उसने नल राजा की अधीनता स्वीकार कर ली। तदनन्तर नल राजा विजय का डंका बजाते हुए अपनी नगरी को लौट आये।

कोशला नगरी में वापस आने पर उनके आदेश से अर्धभरत के समस्त राजा उनकी सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने नल को अर्धभरत का एकछत्र स्वामी मानकर उनका राज्याभिषेक किया। नल ने भी इस समय बड़े समारोह के साथ उत्सव मनाया और अतिथि रूप राजाओं को आदर सत्कार द्वारा सम्मानित किया। यह उत्सव पूर्ण होने पर सभी राजा महाराजा अपने अपने

देश को वापस चले गये और नल दमयन्ती प्रजापालन करते हुए अपने दिन आनन्द पूर्वक व्यतीत करने लगे।

परन्तु नल का छोटा भाई कुबेर, जिसको उसके पिता दीक्षा लेते समय युवराज बना गये थे, वह बड़ा ही नीच प्रकृति का था। उसे यदि कुलाङ्गार कहा जाये, तब भी अनुचित न होगा। उसे अपने युवराज पद से सन्तोष न था। उसे तो राजा बनने की इच्छा थी, इसलिए वह नल के बढ़ते हुए प्रताप को सहन न कर सकता था। वह मन ही मन उनका राज्य हड़पने की कोई तरकीब सोच रहा था।

चन्द्रमा में भी कलंक होता है। रत्न भी सर्वथा निर्दोष नहीं होते। नल में हजार सद्गुण होने पर भी एक बहुत बड़ा दुर्गुण था। वे कुछ-कुछ घूत के व्यसनी थे—सत्यानाशी जुएं के शौकीन थे। कुबेर ने उनकी इसी दुर्बलता का लाभ उठाने का निर्णय किया। वह नित्य नल के साथ जुआं खेलने लगा। आरम्भ में तो वह मनोविनोद की एक सामग्री रही, किन्तु धीरे धीरे उसने भीषण रूप धारण कर लिया। पहले कोई किसी की हार जीत पर ध्यान न देता था, किन्तु अब लम्बी बाजियाँ लगने लगीं। घड़ी दो घड़ी के खेल में लाखों का उलट फेर होने लगा।

नित्य नियमानुसार एक दिन नल जुआं खेलने बैठे। कुबेर तो अपनी घात में था ही, नल को उसकी कुटिलता का खयाल तक न था। आरम्भ में दोनों की हारजीत बराबर होती रही, कभी नल जीतते और कभी कुबेर। परन्तु थोड़ी देर के बाद जब खेल और गहरा होने लगा, तब नल की भाग्यलक्ष्मी उनसे रूठ गयी। रोज जो पासे उनकी इच्छानुसार पड़ते थे, वही आज उलटे पड़ने लगे। धीरे धीरे नल अपना सारा खजाना हार गये।

परन्तु हारा जुआरी दूना खेले इस कहावत के अनुसार नल ने जुएं से मुंह न मोड़ा। आज उनके शिरपर मानो भूत सवार था। उनको हार पसन्द न थी और जीत होती न थी। उन्होंने अपने साम्राज्य का एक एक प्रान्त दांव पर रखना आरम्भ किया। हर दांव में वे समझते थे कि इस बार जरूर जीतूंगा, परन्तु दुर्भाग्यवश वे लगातार हारते ही चले गये। धीरे धीरे वे आधा साम्राज्य हार गये, किन्तु उन्होंने उठने का नाम न लिया।

किसी तरह यह समाचार दमयन्ती ने सुना। वह तुरन्त गिरती पड़ती वहां पर दौड़ आयी। नल की हालत देखकर उसका तो कलेजा ही बैठ गया। वे मानों पागल हो रहे थे। आंख बन्द कर अपना राज्य दांव पर लगाते और बात की बात में हार जाते। दमयन्ती उनके पैरों पर गिर पड़ी और गिड़गिड़ाकर कहने लगी—“हे नाथ! आज आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं? उठिये, इसी समय इस जुएं से मुख मोड़िये, वरना हम लोग पथ के भिखारी बन जायेंगे। हे नाथ! मैं आपको रोज समझाती थी, कि यह बहुत ही बुरा व्यसन है। इससे मनुष्य अन्ध बन जाता है और क्षण मात्र में अपनी सारी सम्पदा खोकर अमीर से फकीर बन बैठता है, किन्तु आपने मेरी बात पर ध्यान न दिया। आप राजीखुशी से कुबेर को सारा राज्य भले ही दे दीजिए। मैं उसमें जरा भी बाधा न दूंगी, परन्तु संसार को यह कहने का अवसर मत दीजिए कि नल ने जुएं में अपना राज्य खो दिया। आपने जिस राज्य को बढ़ाने के लिए बीसों लड़ाईयां लड़ी हैं, अपार धन जन स्वाहा किया है, अपने प्राण तक को खतरे में डाला है, उस राज्य को इस तरह जुएं में न खोइए। मेरा हृदय तो इसके विचार मात्र से-इसकी कल्पना से ही विदीर्ण हुआ जाता है। हे नाथ! मुझ पर दया कीजिए, अपना खयाल कीजिए, जैसे भी हो यहां से उठ चलिए। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। हे नाथ! दासी की बात मानिए!”

दमयन्ती इससे अधिक कुछ न कह सकी। उसके गला भर आया। गरम गरम आंसुओं से उसने नल के दोनों पैर भिगो डाले। वह और कर ही क्या सकती थी? उसका यह कार्य पत्थर को भी पिघलाने के लिए काफी था, परन्तु काल की कुटिलता के कारण नल के कान पर जूं तक न रेंगी। उन्होंने तिरस्कार पूर्वक अपने पैरों से दमयन्ती को धक्का दे दिया। दमयन्ती सिसकती हुई दूर जा गिरी। नल ने आंख उठाकर उसकी ओर देखने का भी कष्ट न उठाया। वे फिर उसी तरह द्यूत क्रीड़ा में लीन हो गये।

यह सुनकर महल में चारों ओर हाहाकार मच गया। दमयन्ती ने लज्जा छोड़कर मन्त्रियों को बुलाया और उनसे सारा हाल कहा। मंत्रियों ने भी नल के पास जाकर उन्हें बहुत समझाया बुझाया। किन्तु जिस प्रकार सन्निपात के रोगी पर कोई दवा असर नहीं करती उसी प्रकार नल पर किसी बात का प्रभाव न

पड़ा। धीरे धीरे वे अपना सारा राज्य हार गये। किन्तु इतने पर भी उन्होंने उठने का नाम न लिया। अब उनके पास और कोई सम्पत्ति न थी। सिर्फ अन्तः पुर बचा हुआ था। एक दांव में उसे और दमयन्ती को भी लगा दिया। भाग्य तो उनके प्रतिकूल था ही, वे उसे भी हार गये।

अब ऐसी कौन सी वस्तु बची हुई थी, जिसे नल दांव पर रखते? उन्होंने एक बार चारों ओर देखा, दूर दूर तक नजर दौड़ाती, किन्तु कोई वस्तु दिखायी न दी। इतने में उनकी दृष्टि अपने शरीर पर पड़ी। भुजाओं में बाजूबन्द, कानों में कुण्डल, गले में मुक्तामाला आदि आभूषण अब भी मौजूद थे। उन्होंने एक एक करके उन्हें भी दांव पर रख दिया। उनकी भी वही गति हुई, जो सब सम्पत्ति की हुई थी। अब उनके पास कोई भी वस्तु बची न थी। सभी कुछ समाप्त हो गया था, इसलिए जुआं भी समाप्त हो गया। नल वहां से उठे, किन्तु दमयन्ती के कथनानुसार पथ के भिखारी बन कर ही उठे।

नल को जाते देख, कुबेर ने विकट हँसी हँस कर कहा—“नल! अब तुम यहां मत रहना। अपने राज्य में मैं तुम्हें कदापि न रहने दूंगा। आज यह नगरी छोड़ दो और जितनी जल्दी हो सके, मेरी सीमा के बाहर निकल जाओ! तुम को पिता ने राज्य दिया था, किन्तु मुझे तो इन पासों ने दिया है!”

नल ने कहा—“भाई, अभिमान मत करो! लक्ष्मी तो समर्थ पुरुषों की दासी है!”

इतना कहकर नल, केवल एक उत्तरीय वस्त्र पहन कर वहां से चल पड़े। दमयन्ती ने भी उनका अनुसरण किया। इस पर कुबेर ने उसका रास्ता रोक कर कहा—“हे सुन्दरी! तुम कहाँ जाती हो? तुम्हें तो नल जुएं में हार चुके हैं। तुम अब मेरे साथ चलो और मेरे अन्तः पुर को पावन करो!”

दमयन्ती ने तो कुबेर के इन वचनों का कोई उत्तर न दिया, किन्तु नल के वयोवृद्ध मन्त्रियों से अब बोले बिना न रहा गया। उन्होंने कहा—“हे कुबेर! अब तक हमारे लिए जैसे नल राजा थे, वैसे ही अब आप हैं। हम आपके सेवक हैं, किन्तु आपके इस अन्यायपूर्ण कार्य का विरोध किये बिना हम कदापि नहीं रह सकते। दमयन्ती महासती है। इसे साधारण स्त्री मत समझना। यह परपुरुष की छाया भी अपने शरीर पर न पड़ने देगी। इसे तुम अपने अन्तः

पुर में नहीं रख सकते। वैसे भी बड़े भाई की लोकरीति को बालक तक जानते हैं, इसलिए आप इस विचार को अपने हृदय से निकाल दीजिए। यदि आप हमारी बातों पर ध्यान न देंगे, और इस मामले में बल से काम लेंगे, तो दमयन्ती आप को भस्म कर देगी, क्योंकि इसके लिए यह असम्भव नहीं है। बल्कि हमारी सलाह तो यह है कि आप ऐसा प्रबन्ध कर दें, जिससे नल के साथ जाने में उसे सुविधा हो। नल को आप ग्राम या नगर भले ही न दें किन्तु कम से कम मार्गव्यय और एक रथ तो दे ही दें। इससे दमयन्ती को भी कष्ट न होगा और वे आसानी से आप की सीमा पार कर सकेंगे। आपको तो खुद सोचकर अपनी ओर से यह सब कर देना चाहिए था, जिससे हमें कहने की जरूरत ही न पड़ती।”

मन्त्रियों की यह फटकार सुनकर कुबेर कुछ लज्जित हुआ और उसने दमयन्ती का रास्ता छोड़ दिया। मन्त्रियों के कथनानुसार उसने खामे पीने के कुछ सामान, एक सारथी और एक रथ भी नल को दे देने की आज्ञा दी। किन्तु नल ने कहा—“जब मैंने द्यूत में अपनी सारी सम्पत्ति खो दी, तब इस रथ का ही मुझे क्या प्रयोजन है? मुझे यह कुछ न चाहिए।”

मन्त्रियों ने कहा—हे स्वामिन्! हम भी आप के साथ चलते, किन्तु आपने कुबेर को राज्य दे दिया है, वह राजा हो गया है, इसलिए उसे छोड़कर जाना अब हम उचित नहीं समझते। अब तो दमयन्ती ही आपको, मन्त्री मित्र और सेवक का काम देगी। किन्तु हे नाथ! दमयन्ती परम सती है, साथ ही शिरीष पुष्प के समान सुकुमार है। ऐसी अवस्था में आप उसे पैदल कैसे से ले जायेंगे? सूर्य के प्रखर ताप से तवे की तरह तपते हुए मार्ग को अपने कोमल पैरों से दमयन्ती किस प्रकार पार कर सकेंगी? इसलिए आप रानी सहित इस रथ पर बैठने की दया कीजिए। ईश्वर आप का कल्याण करेगा।”

मन्त्रियों के कई बार कहने पर भी पहले तो नल ने रथ पर बैठने से इन्कार किया, किन्तु अन्त में उनके अनुरोध के सामने उन्हें झुकना ही पड़ा। राजा नल उसी समय दमयन्ती के साथ रथ पर बैठकर वहां से चल पड़े। दमयन्ती ने केवल एक ही वस्त्र पहन रक्खा था। अतः उसे देखकर ऐसा मालूम होता था, मानो वह कहीं स्नान करने जा रही है। उसका यह वेश

देखकर नगर की स्त्रियाँ रो पड़ी। वे कहने लगी—“हा दैव! तेरी यह कैसी गति है? कल तक तो राजा रानी थी, जिसने महल के बाहर पैर भी न रक्खा था, आज वहीं केवल एक वस्त्र से पति के साथ जंगल की ओर जा रही है।”

इस प्रकार जनता का करुण क्रन्दन सुनते हुए, नल राजा कोशला नगरी के एक बड़े रास्ते पर जा पहुँचे। वहां पर उन्हें करीब पांच सौ हाथ ऊँचा और बहुत भारी एक स्तम्भ दिखायी दिया। उसे देखते ही नल अपना सारा दुःख भूल गये। कौतूहल वश उसके पास जाकर उन्होंने बात की बात में पहले उसे उखाड़ डाला और बाद में फिर उसी स्थान में गाड़ दिया। उन्हें इस प्रकार अपना बल आजमाने का शौक था। इसलिए उन्हें इस कार्य में जरा भी कष्ट या कठिनाई प्रतीत न हुई।

नल का यह बल देखकर लोग अश्चर्य में पड़ गये। वे कहने लगे—“अहो! धन्य है नलराज को, जो इतने पराक्रमी हैं। हा दैव! तू ऐसे बलवान को भी चक्कर में डाल देता है! तेरी गति बहुत ही विचित्र है!”

इसी समय नल का यह पराक्रम देखकर, लोगों को एक पुरानी घटना याद आ गयी। जिस समय नल और कुबेर बालक थे और अपना अधिकांश समय खेल कूद में व्यतीत करते थे, उस समय एक ज्ञानी मुनि का आगमन हुआ था। उन्होंने नल को देखकर कहा था कि—“इस नल ने पूर्वजन्म में साधु को क्षीरदान दिया था, इसलिए इस जन्म में यह अर्धभरत का स्वामी होगा इसीकी एक पहचान यह भी होगी, कि नगर में जो पांच सौ हाथ ऊँचा स्तम्भ है, उसे यह अनायास उखाड़ कर पुनः गाड़ सकेगा।”

मुनि का वचन आज सत्य प्रमाणित हुआ। लोग कहने लगे—नल ही अर्धभरत के वास्तविक स्वामी होंगे। आज कुबेर की कपट लीला के कारण उन्हें नगर छोड़ना पड़ रहा है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे किसी दिन फिर अपना सिंहासन अपने हाथ में ले लेंगे। धन्य है राजा नल को! धन्य है सती दमयन्ती को! ईश्वर करे इनका पुण्य प्रताप दिन प्रतिदिन बढ़ता रहे। इन दोनों की जय हो!”

इस प्रकार प्रजा की ओर से अपनी प्रशंसा देखते सुनते हुए राजा नल नगर के बाहर निकले। दमयन्ती का हृदय इस दुःख से मानो विदीर्ण हुआ जा

रहा था। उसकी अश्रु धारा से सारा रथ भीज गया। उसकी यह अवस्था देखकर नल ने उसे सान्त्वना दी। जब वह कुछ शान्त हुई, तब नल ने उससे कहा—“हे देवि! अब आगे बढ़ने के पहले हम लोगों को अपना स्थान निर्धारित कर लेना चाहिए। क्या तुम कोई ऐसा स्थान बतला सकती हो जहाँ जाने से हम लोगों को शान्ति मिल सके।”

दमयन्ती की बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। उसने यह सोचकर कि ऐसे समय में अपना आदमी ही अपने काम में आता है, कहा—“हे नाथ! इस समय आप कुंडिनपुर चलिए और मेरे पिता का आतिथ्य ग्रहण कर उन्हें कृतार्थ कीजिए। मेरा धारणा है कि आपको वे सब प्रकार की सहायता देंगे।”

“दमयन्ती की यह सलाह नल को भी पसन्द आ गयी। उन्होंने उसी ओर रथ बढ़ाने का सारथी को आदेश दिया।

इस स्थान से आगे बढ़ने पर राजा, नल को एक भयंकर जंगल मिला, जो व्याघ्र जैसे हिंसक प्राणियों से भरा था। साथ ही वृक्षों के कारण वहाँ ऐसी घटा घिरी हुई थी, कि दिन को भी सूर्य देव का प्रकाश उस स्थान को प्रकाशित न कर सकता था। यहाँ पर ऐसे भीलों से नलराज की भेट हो गयी, जो देखने में यमदूत के समान प्रतीत होते थे। उनके धनुष कान तक खिंचे हुए थे और उन पर विष के बुझे हुए तीक्ष्ण बाण चढ़े हुए थे। उनमें से कुछ पहलवानों की तरह ताल ठोकने लगे और कुछ मेघधारा की भांति बाणवृष्टि करने लगे। जिस प्रकार कभी कभी कुत्ते हाथी का रास्ता रोक लिया करते हैं, उसी प्रकार इन भीलों ने चारों ओर से नल को घेर कर उनका रास्ता रोक लिया।

यह देखकर नल अपने रथ से कूद पड़े। तलवार खींचकर वे उन पर टूटना ही चाहते थे, कि इतने में दमयन्ती ने उनका हाथ पकड़ लिया। उसने कहा हे नाथ आप इन लोगों पर रोष न करें। यह सब मूर्ख और कायर हैं। इन पर हाथ उठाना आपको शोभा न देगा। सिंह कभी शशक और श्रृगाल पर वार नहीं करता। इनके खून में आप अपनी तलवार मत रंगिये। इनके लिए तो मैं ही काफी हूँ।”

इतना कह दमयन्ती ने एक बार हुंकार किया। उसे सुनते ही वे सब इतने

भयभीत हो गये, कि उनमें बेतरह भगदड़ मच गयी। नल ने उनका पीछा किया, दमयन्ती ने भी उनका साथ न छोड़ा। भीलों को खदेड़ते हुए वे अपने रथ से कुछ दूर निकल गये। भीलों को फिर इतनी हिम्मत ही न हुई, कि वे एकत्र देखकर उनसे लोहा लें, इसलिए कुछ दूर तक उनका पीछा करने के बाद नल और दमयन्ती वापस लौट आये।

किन्तु जब बुरे दिन आते हैं, तब विपत्ति के बादल शिर पर मंडराया ही करते हैं। मनुष्य को कभी किसी विपत्ति का शिकार होना पड़ता है, तो कभी किसी विपत्ति का। जिस स्थान पर रथ खड़ा किया था, उस स्थान पर आकर नल ने देखा, तो रथ का कहीं पता भी न था। केवल सारथी दुखित भाव से एक ओर खड़ा था। उसने नल को बतलाया कि जिस समय आप भीलों को खदेड़ने गये थे, उसी समय भीलों का एक दूसरा दल यहां आया और उसने वह रथ मुझसे छीन लिया! यह सुनकर नल अवाक् हो गये। कहने सुनने की कोई बात भी न थी। दैव दुर्बल का घातक हुआ ही करता है। अब वे सारथी को कोशला नगरी की ओर बिदा कर चुप चाप वहां से चल पड़े और दमयन्ती का हाथ पकड़कर उस भयंकर जंगल में भटकने लगे।

बेचारी दमयन्ती पर ऐसी मुसीबत कभी न पड़ी थी। उसके कोमल पैर वन की कठिन भूमि में विचरण करने से क्षत विक्षत हो गये। कहीं उसके पैरों में कांटे चुभ जाते, तो कहीं कुश के मूल। उसके पैरों से रक्त की धारा बहने लगी। वह जिधर पैर रखती उधर की ही भूमि रक्त रंजित बन जाती। इस प्रकार दमयन्ती ने अपने रक्त से उस वन भूमि को मानों इन्द्रवधूटियों से पूर्ण बना दिया। नल ने उसे आराम पहुंचाने के लिये अपनी धोती फाड़कर उसके दोनों पैरों में पट्टी बांध दी, किन्तु इससे क्या होता था। जिसने कभी महल के बाहर पैर भी न रक्खा था, उसके लिए इस तरह वनवन भटकना बहुत ही दुष्कर था।

दमयन्ती वारंवार थककर वृक्षों के नीचे बैठ जाती। नल अपने वस्त्र से उसका पसीना पौछने और उसे हवा करते। दमयन्ती जब प्यासी होती, कृपा के कारण जब उसका कंठ सूखने लगता, तब नल पलाश पत्तों का दोना बनाकर किसी सोते या नदी से उसके लिए जल भर लाते और उससे उसकी

तृषा निवारण करते। यह सब करते हुए उनका हृदय विदीर्ण हुआ जाता था, अपनी हृदयेश्वरी की यह दयनीय दशा देखकर उनकी आंखों में आंसू भर आते थे, किन्तु लाचारी थी। यह सब सहन करने के सिवा और कोई उपाय भी न था। एक दिन दमयन्ती ने पूछा—“नाथ! अभी यह जंगल और कितना बाकी है? अभी इसे पार करने में कितने दिन लगेंगे? मुझे तो ऐसा मालूम होता है, मानों इस जंगल में ही मेरे जीवन का अन्त आ जायगा।”

नल ने कहा—“प्रिये! यह जंगल तो सौ योजन का है जिसमें से हम लोगों ने शायद ही पांच योजन अभी पार किये हो। किन्तु विचलित होने की जरूरत नहीं। जो मनुष्य विपत्तिकाल में धैर्य से काम लेता है, वहीं अन्त में सुखी होता है।”

इस तरह की बातें करते हुए दोनों जन जंगल में चले जा रहे थे। धीरे धीरे शाम हुई और सूर्य भी अस्त हो गये। नल ने देखा कि अब दमयन्ती बहुत थक गयी है, साथ ही रात्रि के समय जंगल में आगे बढ़ना ठीक भी नहीं, इसलिए उन्होंने अशोक वृक्ष के पत्ते तोड़कर उसके लिए एक शैय्या तैयार कर दी। इसके बाद उन्होंने दमयन्ती से कहा—“प्रिये! अब तुम इस शैय्या पर विश्राम करो। यदि तुम्हें थोड़ी देर के लिए भी निद्रा आ जायगी, तो तुम अपना सारा दुःख भूल जाओगी। दुःखी मनुष्य को निद्रा में ही थोड़ी सी शान्ति मिल सकती है।”

दमयन्ती ने कहा—“हे देव! मुझे मालूम होता है मानों पश्चिम की ओर कोई हिंसक प्राणी छिपा हुआ है। देखिए, गायें भी कान खड़े किये उसी ओर देख रही हैं। यदि हम लोग यहां से कुछ आगे चलकर ठहरें तो बहुत अच्छा होगा।”

नल ने कहा—“प्रिये! तुम बहुत ही डरपोक हो, इसलिए ऐसा कहती हो। यहां से आगे बढ़ना ठीक नहीं। आगे तपस्वियों के आश्रम हैं। वे सब मिथ्या दृष्टि हैं। उनके संग से सम्यक्त्व उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार खटाई पड़ने के कारण दूध अपनी स्वाभाविक गन्ध और स्वाद से रहित बन जाता है, विश्राम के लिए यही स्थान सबसे अच्छा है तुम निश्चित होकर सो जाओ यदि तुम्हें भय मालूम होता है, तो मैं अंगरक्षक की भाँति सारी रात

पहरा दूँगा।”

पतिदेव के यह वचन सुनकर दमयन्ती निश्चिन्त हो गयी। नल ने उसकी शैय्या पर अपना अर्धवस्त्र बिछा दिया। तदनन्तर दमयन्ती पंच परमेष्ठी का स्मरण करती हुई उसी शैय्या पर लेट गयी और गहरी थकावट के कारण उसे शीघ्र ही निद्रा आ गयी।

दमयन्ती के सो जाने पर, दैव दुर्विपाक से नल के हृदय में एक विचार का उदय हुआ। वे अपने मन में कहने लगे—“ससुराल जाकर रहना बहुत ही बुरा है, पहले दरजे की नीचता है। उत्तम पुरुष कदापि ऐसा नहीं करते। मुझे भी यह विचार छोड़ देना चाहिए। वहां जाकर रहने से मेरा अपमान होगा। उसे अपने पिता के यहाँ सुख मिलने की आशा है, इसलिए वह तो वहीं चलने पर जोर देगी। वह वहां पर सुखी भी हो सकती है, वह चाहे तो वहां सहर्ष जा सकती है, मैं उसे रोकना भी नहीं चाहता, किन्तु मैं वहां क्यों जाऊँ ?

नल बड़ी चिन्ता में पड़ गये। दमयन्ती उनके साथ थी। वह अपने मायके जाना चाहती थी, किन्तु नल को इसमें अपना अपमान दिखायी देता था, इसलिए वे असमंजस में पड़ गये। दूसरे ही क्षण उनके हृदय में वह भयंकर विचार उत्पन्न हुआ, जिसके कारण उन दोनों का वह रहा सहा सुख भी नष्ट हो गया, जो एक दूसरे के साथ रहने से उन्हें उस जंगल में भी प्राप्त होता था। वे कहने लगे—“यदि अपने हृदय को पत्थर बनाकर मैं दमयन्ती को यहीं छोड़ दूँ, तो फिर मैं जहां चाहूँ वहां जा सकता हूँ। दमयन्ती परम सती है। अपने सतीत्व के प्रभाव से सर्वत्र उसकी रक्षा होगी। किसी का सामर्थ्य नहीं जो उसे किसी प्रकार की हानि पहुंचा सके। बस, यही विचार उत्तम है। इसीको अब कार्य रूप में परिणित करना चाहिए।”

इस प्रकार नल ने कुछ ही क्षणों में, उस दमयन्ती को जो उन्हें प्राण से भी अधिक प्रिय थी, हिंसक प्राणियों से भरे हुए जंगल में सोती हुई अवस्था में छोड़ जाने का निर्णय कर लिया। उन्होंने दमयन्ती की शैय्या पर अपना जो वस्त्र बिछा दिया था, उसे छूरी से आधा काट लिया। इसके बाद दमयन्ती के वस्त्र पर अपने रुधिर से निम्नलिखित दो श्लोक लिखकर वे आंसू बहाते हुए चुपचाप वहां से एक तरफ चल दिये।

विदर्भेषु यात्वध्वा, वटाऽलङ्कृतया दिशा।
 कोशलेषु च तद्राम-स्तयोरेकेन केनचित् ॥1॥
 गच्छे : स्वच्छाशये ! वेश्म,पितु वा श्वसुरस्यवा।
 अहं तु क्वापि न स्थातु-मुत्सहे हे विवेकिनि ! ॥2॥

अर्थात्—“जिस दिशा में वटवृक्ष है, उसी दिशा में विदर्भ देश जाने का रास्ता है और उसकी बायीं ओर जो रास्ता जाता है, वह कोशल देश की ओर गया है। हे विवेकिनि! इन दो में से इच्छानुसार एक रास्ते को पकड़कर तुम पिता या श्वसुर के यहाँ चली जाना। तुम इन दो में से किसी भी एक स्थान में रह सकती हो, परन्तु मेरी इच्छा तो कहीं भी रहने की नहीं होती।”

यह सब कारवाई करने के बाद नल उस स्थान से तो चल दिये, किन्तु उनको इससे सन्तोष न होता था। वे वारंवार सिंह की भांति घूम घूम कर अपनी सोती हुई प्रिया को देखते जाते थे। जब वे उससे कुछ दूर निकल गये और उसका दिखलाई देना बन्द हो गया, तब उनका हृदय मचल पड़ा। वे अपने मन में कहने लगे—“मैंने यह बहुत ही बुरा किया। दमयन्ती मुझ पर विश्वास कर अबोध बालक की भांति सो रही है। ऐसे समय में यदि व्याघ्र या सिंह उस पर आक्रमण कर देंगे, तो उसकी क्या अवस्था होगी? मुझे इस प्रकार उसे सोती हुई न छोड़ना चाहिए। रात भर मुझे उसकी रक्षा करना उचित है। सुबह वह जहां इच्छा हो वहाँ जा सकती है।”

जिस प्रकार कोई वस्तु भूल जाने पर मनुष्य चिन्तित भाव से उसे लेने के लिए दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार नल दमयन्ती के पास दौड़ आये। वह अभी तक ज्यो की त्यों सो रही थी। उसे देखकर नल अपने मन में कहने लगे—“अहो! अन्तः पुर में जिस दमयन्ती के दर्शन सूर्य के लिए भी दुर्लभ थे, वही दमयन्ती आज केवल एक वस्त्र पहिने हुए रास्ते में अकेली पड़ी है। परन्तु इसकी यह दुर्दशा मेरे ही कर्म दोष से हुई है। हे दैव! मैं क्या करूँ और कहाँ जाऊँ! मेरी आँखों के सामने ही सती अनाथ की भांति जमीन पर लोट रही है। मेरे लिये इससे बढ़कर लज्जा की बात दूसरी नहीं हो सकती। मुझे वारंवार धिक्कार है।”

फिर वे कहने लगे—“मैं इस सती को यहां पर अकेली छोड़े जा रहा

हूँ। जब इस को नींद खुलेगी और यह मुझे न देखेगी तब यह अपने मन में क्या कहेगी? सम्भव है कि उस अवस्था में यह अपना प्राण भी त्याग दे, इसलिए मुझे इसके साथ यह व्यवहार न करना चाहिए। यह इसके प्रति विश्वास घात होगा-अधर्म होगा। इससे तो इसके साथ ही मुझे भी यहां पर मृत्यु से भेंटना पड़े तो वह अच्छा है।”

थोड़ी देर बाद पुनः नल के हृदय में विचार आया—यह जंगल बहुत ही भयंकर है। इसे पार करना दमयन्ती के लिए असम्भव है यदि किसी तरह उसने इसे पार भी कर लिया, तो मैं अब इसके मायके तो जाऊँगा नहीं। उस अवस्था में मेरे साथ इसे न जाने कब तक और कहां कहां भटकना पड़ेगा? क्या इससे दमयन्ती का जीवन सुखी हो सकता है? क्या इससे उसके दुःखों का अन्त आ सकता है? नहीं नहीं, यह रोज की यातना, रोज का मनः कष्ट तो मृत्यु से भी बढ़कर दुःख प्रद है। मैं यह सब अपनी आंखों से कैसे देख सकूँगा। इससे तो यही अच्छा है, कि रातभर दमयन्ती की रक्षा कर, सुबह उसकी निद्रा भंग होने के पहले ही मैं यहां से चला जाऊँ। दमयन्ती उठेगी। तब मुझे न देखकर अवश्य दुःखी होगी, किन्तु अन्त में उन श्लोकों को मेरा आदेश मानकर वह अवश्य अपने मायके या समुराल चली जायेगी। इससे कुछ दिन के बाद उसका जीवन सुखी हो जायेगा और वह इन सब दुःखों को स्वप्न की भांति भूल जायेगी। मुझे भी चिरकाल तक उसका दुःख देखकर दुःखी न होना पड़ेगा। इससे बढ़कर और क्या हो सकता है?”

अन्त में नल ने यही निर्णय किया। वे रातभर नंगी तलवार लिये दमयन्ती के पास खड़े रहे। सुबह उसके उठने के पहले ही अन्तिम बार उसका मुख देखकर मन ही मन उसकी कल्याण कामना कर नल ने शीघ्रता पूर्वक वह स्थान छोड़ दिया।

सुबह निद्रा भंग होने के पहले दमयन्ती ने एक स्वप्न देखा। उसे ऐसा मालूम हुआ मानों वह फल और पत्र युक्त एक आम्रवृक्ष पर बैठी है और भ्रमर का शब्द सुनती हुई उसके फल खा रही है। इतने ही में एक हाथी ने आकर उस वृक्ष को उखाड़ डाला और दमयन्ती पक्षी के अण्डे की तरह जमीन पर आ गिरी। यह स्वप्न देखते ही दमयन्ती की निद्रा भंग हो गयी। उसने आंखे

खोलकर देखा, तो नल का कहीं पता न था इससे वह चिन्ता में पड़ गयी और झुण्ड से बिछुड़ी हुई हरिणी की भांति चारों ओर चकित हो होकर देखने लगी।

जब उत्तरोत्तर अधिक समय व्यतीत हो चला और उसे कहीं भी नल दिखायी न दिये तब वह अत्यन्त व्याकुल हो उठी। वह अपने मन में कहने लगी—“यदि पति देव मुँह धोने के लिए कहीं जल लेने गये होते, तो अब तक अवश्य ही लौट आये होते। किन्तु वे तो बिना बतलाये एक क्षण के लिए भी इस प्रकार मुझे अकेली न छोड़ते थे तब क्या वे मुझे छोड़कर कहीं चले गये? नहीं, यह भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि मैंने कोई अपराध तो किया नहीं! तब क्या कोई विद्याधरी उनके रूप पर मोहित हो, उन्हें बलपूर्वक खिलाने के लिए उन्हें ले गयी होगी या पतिदेव ही उसकी किसी कला पर मुग्ध हो, उसके साथ चले गये होंगे? हा! यह वृक्ष वही है, यह पर्वत वही है, यह अरण्य और यह पृथ्वी भी वही है, किन्तु कमल समान लोचन वाले एक नल ही मुझे दिखायी नहीं देते। हा दैव! तूने यह मेरा अन्तिम अवलम्ब भी मुझ से क्यों छीन लिया?”

अब दमयन्ती अपने स्वप्नपर विचार करने लगी। वह कहने लगी—“मैंने जो स्वप्न देखा है, वह निःसंदेह अच्छा नहीं है। मैंने स्वप्न में जो आम्रवृक्ष देखा है वे नलराज है। उस के पत्र फलादिक राज्य हुआ। फल खाना अर्थात् राजस सुख भोग करना। भौरि हुए मेरे परिजन। जंगली हाथी हुआ दुर्देव। उसने मेरे पति को स्थान भ्रष्ट कर दिया, उनका राज्य छीन लिया। मेरा वृक्ष से गिरना, नल से पृथक होना हुआ। मुझे मालूम होता है कि मैं अब अपने प्राणनाथ से शायद न मिल सकूंगी। स्वप्न का तो यही तात्पर्य मालूम होता है।

इस प्रकार अपने स्वप्न पर ज्यों-ज्यों विचार करती गयी, त्यों त्यों दमयन्ती का जी दुःखी होता गया। नल का अब भी कहीं पता न था। वह अपने भाग्य को दोष देती हुई करुण क्रन्दन करने लगी। वह कहने लगी—“हा नाथ! हा हृदयेश्वर! आप ने मुझे क्यों छोड़ दिया। मैंने ऐसा कौन सा अपराध किया था, जिससे आपको वह दुष्कार्य करना पड़ा? क्या मैं आपके लिये भार रूप हो पड़ी थी? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। सर्प को अपनी

कैचुली कदापि भार रूप नहीं मालूम होती। हे नाथ! यदि मुझे चिढ़ाने के लिए, मुझसे हँसी करने के लिए, आप कहीं वन में छिप रहे हो, तो अब मुझे शीघ्र ही दर्शन दीजिए। आपकी यह हँसी मेरे लिए प्राणघातक हो रही है। हे वन देवता! मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ, आप मेरे प्राणेश को मुझे दिखा दीजिए। वे जिस रास्ते गये हों, वह रास्ता मुझे बता दीजिए। हे प्राणेश! मैं आपके बिना यह जीवन कैसे धारण करूँगी? हे पृथ्वी माता! तुम्हीं मुझे अपने गर्भ में स्थान देकर मुझ पर कुछ उपकार करो? वहाँ मुझे शायद कुछ शान्ति मिल सके। इस संसार में तो अब उनका मिलना संभव नहीं प्रतीत होता।

इस प्रकार दमयन्ती ने बहुत देर तक विलाप किया। यहाँ तक कि उसके अश्रुओं से उस का वस्त्र और उस स्थान की भूमि सिक्त हो गयी। अन्त में वह उठ खड़ी हुई और आस पास के स्थानों में नल की खोज करती हुई विचरण करने लगी। वह जल और स्थल, वन और पर्वत सभी स्थानों में गयी, सर्वत्र उन्हें खोजा, किन्तु न तो कहीं उनका पता ही चला, न उसे ज्वर पीड़ित की भांति कहीं शान्ति ही मिली। अन्त में वह व्याकुल हो, कर्तव्य विमुढ बन गयी और एक स्थान में बैठकर अपनी अवस्था पर विचार करने लगी।

इसी समय उसकी दृष्टि उन दो श्लोकों पर जा पड़ी, जो राजा नल ने चलते समय अपने रुधिर से उसके वस्त्र पर लिख दिये थे। पतिदेव के हस्ताक्षर देखते ही उसका चित्त प्रफुल्लित हो उठा। उसने आनन्द पूर्वक उन श्लोकों को पढ़ा। पढ़कर अपने मन में कहने लगी—“अवश्य ही पतिदेव मुझे भूले नहीं है। उन्होंने अपने हृदय का सर्वोच्च स्थान अब भी मुझे दे रक्खा है। यदि ऐसा न होता तो वे मुझे आदेश रूपी अपना यह प्रसाद क्यों दे जाते? मैं प्राण नाथ के इस आदेश को गुरुवाक्य से भी बढ़कर मानूँगी। उनकी आज्ञा मेरे लिये सदा कल्याणप्रद ही हो सकती है। मैं पिता के घर जा सकती हूँ, किन्तु पति के बिना पिता का गृह भी स्त्रियों के लिए नरक समान दुःखदायी हो पड़ता है। किन्तु मैंने पतिदेव के साथ भी मायके जाने की इच्छा की थी, अब उन्होंने आदेश भी दिया है, इसलिए मुझे मायके अवश्य जाना चाहिए। जब तक वे मेरी खबर न लेंगे, तब तक वही मेरा आश्रयस्थान होगा।”

इस प्रकार अपना कर्तव्य निर्धारित कर, दमयन्ती वटवृक्ष वाले मार्ग द्वारा अपने मायके के लिए चल पड़ी। परन्तु यह मार्ग नाना प्रकार के हिंसक प्राणियों से पूर्ण हो रहा था। ज्योंही दमयन्ती आगे बढ़ी, त्योंही मुख फैलाये हुए व्याघ्र उसे सामने मिले। वे दमयन्ती पर आक्रमण करने के लिए झपटे, परन्तु उन्हें वह अग्निज्वाला के समान दिखायी दी, इसलिए उन्हें उसके समीप आने का साहस न हुआ।

यहां से आगे बढ़ने पर कहीं भयंकर सर्पों के बिल में दमयन्ती का पैर लग गया। इससे बड़े बड़े विषधर साँप उसमें से निकल कर फुफकार मारते हुए दमयन्ती की ओर लपके, परन्तु उसके सतीत्व के प्रभाव से वे भी उसके पास तक न पहुँच सके। इसी तरह मदोन्मत्त हाथियों से भी उसे काम पड़ा, किन्तु वे भी उसका कुछ अनिष्ट न कर सके। बात यह है कि जो स्त्रियाँ सती होती हैं। किसी भी उपद्रव के कारण उनका बाल बांका नहीं होता।

दमयन्ती का वेश मार्ग की कठिनार्ई, थकावट और धूल धकड़ के कारण बहुत ही मलीन हो गया था। वह देखने में अब एक भिल्लनी जैसी प्रतीत होती थी। उसके केश खुले हुए और वस्त्र गीला हो रहा था। वह दावानल के भय से हस्तिनी की भांति झपटती हुई अपने मायके की ओर चली जा रही थी। इतने ही में उसे एक बहुत बड़ा सार्थ दिखायी दिया, जो पड़ाव डाले वहीं पड़ा हुआ था। दमयन्ती ने सोचा कि यदि पुण्य योग से जंगल में कोई सार्थ मिल जाता है, तो उससे व्याकुल मुसाफिर को वैसा ही लाभ होता है, जैसा डूबते हुए को समुद्र में नौका मिल जाने पर होता है। अब मैं इसके साथ निर्विघ्न रूप से एकाध दिन रह सकूंगी।”

यह सोचकर दमयन्ती उसी स्थान में बैठ गयी। दुर्भाग्यवश इसी समय डाकुओं का एक बहुत बड़ा दल वहां आ पहुँचा और उस सार्थ को घेर लिया। परन्तु दमयन्ती जैसी महासती के साथ रहने पर वे भला उसका क्या बिगाड़ सकते थे! दमयन्ती ने उन डाकुओं के सरदार से कहा—“यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो, तो इसी समय यहां से चले जाओ। मैंने प्राणपण से इस सार्थ की रक्षा करना स्थिर किया है।”

परन्तु दमयन्ती का मलीन वेश देखकर उसने समझा कि यह कोई पगली

स्त्री है, इसलिए उसने उसकी बात पर कोई ध्यान न दिया। दमयन्ती ने जब देखा कि वे ऐसे मानने वाले नहीं है और सार्थ को लूटने की तैयारी कर रहे हैं, तब उसने कई बार भीषण हुंकार किये। उसके इस शब्द से सारा जंगल भर गया। डाकुओं को तो ऐसा मालूम हुआ मानों भयंकर वज्रपात के कारण उनके कान बहरे हो गये हैं। जिस प्रकार धनुष का शब्द सुनकर कौर्वे भगते हैं, उसी प्रकार दमयन्ती का वह शब्द सुनकर डाकू पलायन कर गये। उनसे सार्थ का कुछ भी अनिष्ट न हुआ।

दमयन्ती का यह अद्भुत चमत्कार देखकर सार्थ के आदमी उसके बड़े भक्त बन गये। वे कहने लगे—“यह अवश्य कोई देवी है, जो हमारी सुकृत से आकर्षित हो यहां आयी है। यदि आज इसने हमारी रक्षा न की होती, तो हम लोग बे मौत मारे जाते, हमारी सारी सम्पत्ति लुट जाती।

डाकुओं के भाग जाने पर सार्थवाह दमयन्ती के पास गया और माता की भांति श्रद्धा पूर्वक उसे प्रणाम कर कहने लगा—“हे माता! आप कौन हैं और इस मलीन वेश में यहां क्यों विचरण कर रही हैं?”

दमयन्ती को आज बहुत दिनों के बाद मनुष्य की सूरत दिखायी दी थी। कोशला नगरी छोड़ने के बाद आज पहले पहल ही यह ऐसा आदमी मिला था, जिसने उससे सुख दुःख पूछा था। इसलिए उसका प्रश्न सुनकर दमयन्ती की आंखों में आंसू भर आये। उसने सार्थपति को अपना बन्धु मानकर नल की द्यूत क्रीड़ा से लेकर अब तक का सारा हाल उसे कह सुनाया।

दमयन्ती का प्रकृत परिचय पाकर सार्थपति को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसने हाथ जोड़कर कहा—“हे महासती! आप राजा नल की पत्नी है, अतः हमारे लिये परम पूजनीय हैं। आपके दर्शन पाकर हम लोग आज धन्य हो गये हैं। आपने डाकुओं से भी हमारी रक्षा की है। इसलिए हम और भी आप के ऋणी हैं। आप मेरे साथ चलकर मेरे स्थान को पावन कीजिए। हम लोग आपका जितना सत्कार करें, वह थोड़ा ही है।”

इतना कह वह सार्थपति बड़े आदर के साथ दमयन्ती को अपने तम्बू में ले गया। वहां पर उसने भोजनादिक द्वारा उसका सत्कार किया। शारीरिक और मानसिक विश्राम मिलने के कारण दमयन्ती की थकावट भी दूर हो गयी और

वह पहले की अपेक्षा अधिक स्वस्थ, शान्त तथा प्रसन्न दिखायी देने लगी।

संयोगवश इसी समय आकाश काले काले बादलों से धिर आया और बड़े वेग के साथ मूशलाधार वृष्टि होने लगी। जल की अधिकता के कारण उस जंगल की समस्त भूमि सरोवर के रूप में परिणित हो गयी। जिधर देखें उधर जल ही जल दिखायी देने लगा। कीचड़ कादे के कारण चार कदम भी चलना कठिन हो गया। वायु के शीतल झकोरे कलेजे को भी कँपा डालते थे। पूरे तीन दिन तक यही अवस्था रही। इन तीन दिनों में बेचारे पक्षी तक अपने घोंसलों से बाहर न निकल सके चौथे दिन वृष्टि बन्द हुई, बादल छँट गये और सूर्य भगवान अपने स्वाभाविक उत्ताप द्वारा पुनः सब के शरीर में नवजीवन का संचार करने लगे। सौभाग्य वश दमयन्ती को इस वर्षा और तूफान के कारण कोई कष्ट न हुआ। सार्थ वाहक ने उसके आराम के लिए ऐसा प्रबन्ध कर दिया था कि उसे यह भी अनुभव न होता था कि मैं जंगल में अपरिचित आदमियों के बीच में हूँ। बल्कि उसे ऐसा मालूम होता था, मानों मैं अपने पिता के घर पहुंच गयी हूँ।

वर्षा बन्द हो जाने के बाद भी दो तीन दिन तक उस सार्थ ने अपना पंझव वहां से न उठाया। इसके बाद जब रास्ता साफ हो गया, तब उसने वहां से आगे के लिए प्रस्थान किया। दमयन्ती भी भाग्य भरोसे दुःखित हृदय से वहां से आगे के लिए चल पड़ी।

कुछ दूर जाने पर दमयन्ती को साक्षात् यमराज के समान एक भयंकर राक्षस मिला। उसकी जीभ ज्वाला के समान, मुखाकृति विकराल और भयंकर, पैर तालवृक्ष के समान ऊँचे, रंग काजल के सामान काला और स्वभाव जंगली पशुओं की भांति हिंसक था। दमयन्ती को देखते ही वह प्रसन्न हो उठा। उसने कहा—“हे मानुषी! मैं बहुत दिनों का भूखा हूँ और किसी शिकार की खोज में इधर उधर घूम रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरे भाग्य से ही तुम यहां आ गयी हो। अब मैं तुम्हें भक्षण कर अपनी क्षुधा शान्त करूँगा।”

राक्षस के वचन सुनकर दमयन्ती का हृदय भय से कांप उठा। फिर भी उसने हिम्मत से काम लेकर कहा—“हे राक्षस! तू पहले मेरी बात सुन ले,

फिर तुझे जो अच्छा लगे सो करना। मेरे हृदय में परम आर्हत धर्म बसा हुआ है, इसलिए मैं मृत्यु से तो जरा भी नहीं डरती, परन्तु मुझे तेरा अनिष्ट होने का भय जरूर है। मैं परखी हूँ! यदि तू मुझे स्पर्श करेगा, तो भयंकर विपत्ति में फँस जायगा, तेरा सारा सुख नष्ट हो जायगा।”

दमयन्ती के इन मधुर वचनों का उस राक्षस पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने प्रसन्न होकर कहा—“हे भद्रे। तुम्हारे मधुन वचन सुनकर मैं अपनी भूख प्यास भूल गया हूँ। अब मैं तुम्हें भक्षण करना नहीं चाहता। बल्कि मेरे द्वारा तुम्हारा कुछ उपकार हो सके तो उसे करने के लिए भी मैं सहर्ष तैयार हूँ।”

दमयन्ती ने पूछा—“क्या तुम संचमुच मेरा उपकार करना चाहते हो? अच्छा, यदि ऐसी ही बात है, तो बतलाओ कि मेरे पतिदेव मुझे अब कब मिलेंगे?”

राक्षस ने अवधिज्ञान से जानकर कहा—“हे यशस्विनी। प्रवास के दिन से लेकर ठीक बारह वर्ष पूर्ण होने पर तुम्हारे पति से तुम्हारी भेंट होगी। उस समय तुम अपने पिता के घर में होगी। वहाँ पर तुम्हारे इस वियोग का अन्त आयगा। मेरा यह वचन झूठा नहीं पड़ सकता। इस समय हजार उपाय करने पर भी उनसे भेंट नहीं होगी, इसलिए उसके लिए चेष्टा करना, व्याकुल होना या रोना धोना बेकार है। तुम्हें मार्ग की कठिनाइयों से भी अब घबड़ाने की जरूरत नहीं। मैं तुम्हें क्षणमात्र में तुम्हारे पिता के घर पहुँचा सकता हूँ।”

दमयन्ती ने कहा—“नहीं भाई, यह कष्ट करने की जरूरत नहीं। मैं पर पुरुष के साथ कहीं भी जाना पसन्द नहीं करती। तुमने मेरे पति के आगमन का जो समाचार बतलाया है, वहीं मेरे लिये बहुत है। मुझे इससे ही सन्तोष है, तुम अब सहर्ष जा सकते हो। तुम्हारा कल्याण हो।

यह सुनकर वह राक्षस अपना ज्योतिर्मय रूप दिखाकर बिजली के पुञ्ज की भांति तुरन्त वहाँ से आकाश की ओर उड़ गया।

दमयन्ती को जब यह मालूम हुआ कि उसके पति का प्रवास काल बारह वर्ष का है, तब उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक पतिदेव नहीं मिलेंगे, तब तक रोंगे हुए वस्त्र, ताम्बूल, आभूषण, विलेपन और छः विगय अपने काम में न लाऊँगी। साथ ही उसने मायके जाने का विचार भी थोड़े दिनों के लिए त्याग

दिया। वर्षाकाल भी समीप आ गया था, इसलिए वह चुपचाप एक पर्वत की गुफा में चली गयी और वहीं पर चातुर्मास व्यतीत करने लगी।

दमयन्ती ने उस गुफा में श्री शान्तिनाथ भगवान का एक बिम्ब बनाकर स्थापित किया। वह सुबह शाम जंगल से ताजे पुष्प चुन लाती और उन्हीं द्वारा भक्तिपूर्वक उस बिम्ब का पूजन करती। इसके साथ ही वह तरह तरह के व्रत, उपवास और तप का भी अनुष्ठान करती, और जब वे पूर्ण होते तब परम श्राविका की भांति बीज रहित प्रासुक फलों द्वारा पाशुणा कर उनकी पूर्णाहुति करती।

इस प्रकार दमयन्ती के दिन जप-तप में व्यतीत हो रहे थे। उधर दो चार दिन के बाद सार्थवाह को दमयन्ती का स्मरण आया। उसने जब देखा, कि उसका कहीं पता नहीं है, तब उसे बड़ी चिन्ता हुई और वह वापस लौटकर दमयन्ती की खोज करने लगा। अन्त में उस गुफा के अन्दर दमयन्ती से उसकी भेंट हो गयी। जिस समय वह वहाँ पहुँचा उस समय दमयन्ती जिन बिम्ब का पूजन कर रही थी। उसे सकुशल देखकर सार्थवाह की चिन्ता दूर हो गयी और वह उसे प्रणाम कर विनय पूर्वक उसी जगह बैठ गया।

प्रभु पूजा समाप्त होने पर दमयन्ती ने सार्थवाह का स्वागत किया और बड़े प्रेम से कुशल समाचार पूछा। इसी समय उनका शब्द सुनकर कुछ तापस भी उस गुफा में जा पहुँचे और वहीं बैठकर उनकी बातें सुनने लगे। वर्षा के दिन तो थे ही, शीघ्र ही बादल घिर आये और मूशलाधार वृष्टि होने लगी। उस गुफा में इतना स्थान न था कि सब तापसों का उसमें समावेश हो सके। इसलिए वे सब वर्षा के कारण व्याकुल हो उठे। उन्होंने दमयन्ती से पूछा— “इस समय हम लोग कहां जाये और किस प्रकार इस जल से अपनी रक्षा करें ?

दमयन्ती ने उनकी घबड़ाहट देखकर उन्हें सान्त्वना दी और उनके चारों ओर एक रेखा खींचकर कहां— “यदि मैं सती, परम श्राविका और सरल चित्तवाली होऊँ तो बाहर मूशलाधार वृष्टि होने पर भी इस रेखा के अन्दर एक भी बूंद न गिरो।” दमयन्ती के मुख से यह वचन निकलते ही उतने स्थान में इस तरह जल का गिरना बन्द हो गया, मानों किसी ने छाता तान दिया हो।

उसका यह चमत्कार देखकर सब तापस बड़े विचार में पड़ गये और अपने मन में कहने लगे कि निःसंदेह यह कोई देवी है। वर्ना मानुषी में इतनी शक्ति कहाँ कि वह इस प्रकार पृथ्वी पर जल का गिरना रोक दे। ऐसा सोन्दर्य भी मानुषी में होना असम्भव ही है। अस्तु।

इसके बाद उस वसन्त सार्थवाह ने पूछा—“हे देवि! आप यह किस देवता का पूजन कर रहीं है।”

दमयन्ती ने कहा—“यह तीनों लोक के नाथ अरिहन्त देव का बिम्ब है। यह परमेश्वर हैं और मन वांछित देने वाले हैं। इन्हीं की आराधना के कारण मैं यहां निर्भय होकर रहती हूँ। इनके प्रभाव से मुझे व्याघ्रादिक हिंसक प्राणी भी हानि नहीं पहुंचा सकते।”

इस प्रकार अरिहन्त भगवान की महिमा का वर्णन कर दमयन्ती ने सार्थवाह को अहिसामूलक जैन धर्म कह सुनाया। उसे सुनकर उसने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। उन तापसों ने भी उसके उपदेश से सन्देह रहित जिन धर्म स्वीकार किया और अपने तापस धर्म को त्याग दिया।

इसके बाद वसन्त सार्थवाह ने उसी जगह एक नगर बसाया और वहाँ पर शान्तिनाथ भगवान का एक चैत्य बनवाकर उसमें अपना सारा धन लगाया। इसके बाद वह सार्थवाह समस्त तापस और उस नगर के निवासी लोक आर्हत धर्म की आराधना करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगे। वहाँ पर रहने वाले पाँच सौ तापसों को सम्यग् ज्ञान प्राप्त हुआ, इसलिए उस नगर का नाम तापसपुर रखा।

एक दिन दमयन्ती को रात्रि के समय पर्वत के शिखर पर बड़ा प्रकाश दिखायी दिया। साथ ही उसने देखा कि वहाँ पर बड़ी धूम मची हुई है और सुर, असुर तथा विद्याधर इधर-उधर आ जा रहे हैं। उनके जय-जय कार से समस्त तापस तथा वसन्त सार्थवाह आदि की निद्रा भंग हो गयी। पर्वत पर क्या हो रहा है, यह जानने की सब को बड़ी इच्छा हुई, इसलिए सब लोग सती दमयन्ती को आगे करके उस पर्वत पर चढ़ गये। वहाँ पहुंचने पर उन्होंने देखा कि सिंह केसरी नामक साधु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है और देवतागण उसी का उत्सव मना रहे है।

दमयन्ती तथा उसके समस्त संगी यह देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। दमयन्ती मुनिराज को वन्दन कर उनके चरणों के निकट बैठ गयी। पश्चात् उसके संगी भी मुनिराज को वन्दन कर यथोचित स्थान में बैठ गये। इसी समय उस साधु के गुरु यथोभद्र सूरि वहां आ पहुंचे। उन्हें यह जानकर बहुत ही आनन्द हुआ कि उसके शिष्य को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। वे भी उन्हें वन्दन कर उनके सामने बैठ गये। इस अवसर पर करुणा नगर सिंह केसरी ने सबको प्रसंगोचित धर्मोपदेश दिया। उन्होंने कहा—“हे भव्य जन्मे! संसार में मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। न जाने कितनी योनियों में भटकने के बाद जीव को पुण्य प्रभाव से इसकी प्राप्ति होती है, इसलिए इसे व्यर्थ न गँवाकर सफल करना चाहिए। जीव दया रूप जिन धर्म ही इस असार संसार में सार-रूप है। यह मनुष्य जन्म को सफल बना देता है, इसलिए हे भव्य जनों! यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो, तो जिन धर्म स्वीकार करो!”

इस प्रकार धर्मोपदेश देने के बाद मुनि ने तापस कुल पति का संशय दूर करने के लिए कहा—“हे तापस कुलपते! इस दमयन्ती ने तुम्हें जो धर्म बतलाया है, वह बहुत ही उत्तम है। यह महासती जिन धर्म में अनुरक्त है, इसलिए यह मिथ्या वचन नहीं कह सकती। यह तो तुम अपनी आंखों से भी देख चुके हो, कि इसके सतीत्व के प्रभाव से जितने स्थान में तुम लोग बैठे थे, उतने स्थान में वर्षा की एक बूंद भी न गिरी और उसके चारों ओर मूसलाधार वृष्टि होती रही। वास्तव में इस सती का प्रभाव वर्णनातीत है। इसके सतीत्व और श्राविका धर्म के कारण जंगल में भी देवतागण इसे सदा सहाय करते हैं। इसलिए समस्त उपद्रवों से इसकी रक्षा होती है और कोई भी इसका बाल बांका नहीं कर पाता। एक बार इस सार्थवाह के संगियों को डाकुओं ने घेर लिया था। उस समय इस महासती ने केवल अपने हुंकार द्वारा उन्हें भगाकर सार्थ की रक्षा की थी।”

इस प्रकार केवली भगवान दमयन्ती की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर रहे थे। इतने में वहां एक महर्द्धिक देव आ पहुंचा। वह दमयन्ती को वन्दन कर कहने लगे—“हे भद्रे! मैं इस तपोवन के कुलपति का कुपर नामक शिष्य था और तपश्चर्या के कारण क्रोधी हो गया था। पंचाग्नि का साधक होने पर भी मुझे

तपोवन के तापस पूजते न थे। वे कभी वचनों द्वारा भी मुझे सन्तुष्ट न करते थे। मैं अभिमानी तो था, ही इसलिए उनके इस कार्य से मुझे क्रोध आ गया और मैं वहां दूसरे स्थान को चला गया।”

उस स्थान को जाते समय, रात्रि के घोर अन्धकार में मैं एक गुफा के पास ठोकर खाकर गिर गया और मेरे कई दांत टूट गये। मैं इस वेदना से व्याकुल हो उठा और सात दिन तक वहीं पड़ा रहा। परन्तु इतने पर भी उन तापसों को दया न आयी। मेरी सेवा सुश्रुषा तो करना दूर रहा, उन्होंने मुझे मुँह से भी न बुलाया। बल्कि यों कहना चाहिए कि जिस प्रकार घर से सर्प निकल जाने पर लोग प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार वहां से मेरे चले आने के कारण वे सब प्रसन्न हो उठे। उनकी यह मनोवृत्ति देख कर मुझे और भी क्रोध आ गया। इसी दुःखानुबन्धी क्रोध में मेरी मृत्यु हो गयी और मैं इन्हीं तापसों के वन में एक महासर्प के रूप में उत्पन्न हुआ।

इसके बाद हे देवि! एक बार आप पतिवियोग से दुःखित हो कहीं जा रही थी। उस समय आप को देखते ही मैं आपको काटने दौड़ा। परन्तु आप ने मुझे देखते ही नमस्कार मन्त्र का उच्चारण किया। इसलिए मैं शक्तिहीन बन गया और मेरी गति इस प्रकार रुक गयी, जैसे किसी ने मुझे किसी बन्धन द्वारा जकड़ दिया हो। इसके बाद मैं फिर एक गुफा में जा छिपा और मेंढक आदि जीवों को खा-खाकर अपने दिन बिताने लगा।

इस घटना के कुछ दिन बाद, एक दिन घोर वृष्टि हो रही थी। आपको अनेक तापस घेरे हुए बैठे थे और आप उन्हें धर्मोपदेश दे रही थी। सौभाग्य वश आप के कुछ शब्द मेरे कान में भी पड़ गये। आप ने तापसों को बतलाया था कि जो जीवों की हत्या करता है, वह संसार में सर्वत्र उसी तरह दुःखित होता है जिस प्रकार मरुभूमि में पथिक। आपके यह वचन सुनकर मैं अपने मन में कहने लगा—“मैं तो नित्य ही जीवहिंसा में लिप्त रहता हूँ, अतः मेरी न जाने कौनसी गति होगी?” फिर मैं इसी बात पर विचार करने लगा और रात दिन अपनी भविष्य चिन्ता से व्याकुल रहने लगा।

चिन्ता करते करते मुझे ऐसा मालूम होने लगा मानो इस तापसों को मैंने कहीं देखा है। वारंवार इसी विषय पर विचार करने से मुझे निर्मल जाति स्मरण

ज्ञान उत्पन्न हुआ। मुझे पूर्व जन्म की सभी बातें इस प्रकार याद आने लगी, मानो कल के किये हुए कार्य हो। इससे मुझे वैराग्य आ गया और मैंने अनंशन कर अपना वह शरीर त्याग दिया।

इस बार मृत्यु के बाद मैं सौधर्म देवलोक में देव हुआ। मैं इस समय कुसुम समृद्ध विमान में वास करता हूँ, मेरा नाम कुसुम प्रभ है। आपके प्रसाद से अब मैं स्वर्गीय सुख उपभोग करता हूँ। मेरे दिन बड़े आनन्द में कट रहे हैं। यदि आपका धर्मवचन मेरे कानों में न पड़ा होता, तो मेरी न जाने क्या दशा होती? शायद मैं अनन्त काल तक उसी पाप पंक में फँसा रहता और मेरी अवस्था उत्तरोत्तर खराब होती जाती। इस उपकार के कारण मैं आप का चिरऋणी रहूँगा, आप को कभी न भूलूँगा। इस समय अवधिज्ञान से मुझे मालूम हुआ, कि आप यहां पधारी है, इसलिए मैं आपके दर्शन करने आया हूँ। मैं अपने को आपका धर्मपुत्र मानता हूँ।”

इस प्रकार दमयन्ती को अपना परिचय देकर उन तापसों से कहा—
“भाइयो! मेरे उन अपराध और आचरणों को आप लोग क्षमा कर दें, जो मैंने क्रोध के कारण किये थे। आप लोगों को अब श्रावकधर्म प्राप्त हुआ है, जो सब धर्मों में श्रेष्ठ है। इस पर दृढ़ रहना और रत्न की भांति यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करना।”

इतना कह वह देव उठ खड़ा हुआ और क्षणमात्र में उस गुफा से एक सर्प का शरीर उठा लाया। उसे उसने नन्दावृक्ष पर लटका कर पुनः उन तापसों से कहा—“जो मनुष्य क्रोध करता है, वह इसी तरह भुजंग होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा शिक्षा देने के लिए ही मैं अपने इस शरीर को यहां उठा लाया हूँ।”

कुलपति यद्यपि पहले से ही सम्यक्त्व धारी था, तथापि कुसुमप्रभ की बातें सुनकर उसे विशेष रूप से वैराग्य आ गया। उसने केवली भगवान को वन्दन कर उनसे दीक्षा की याचना की। केवली भगवान ने कहा—“तुम्हें मेरे गुरुदेव यशोभद्रसूरि दीक्षा देंगे। मैं तुम्हें दीक्षा देने में असमर्थ हूँ।”

केवली भगवान के इस उत्तर से कुलपति को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। किन्तु उसने उस आश्चर्य को प्रकट न कर एक दूसरा ही प्रश्न पूछा। उसने

कहा—“हे भगवान! आपने दीक्षा किस प्रकार ली थी?”

केवली भगवान ने कहा—“मेरी दीक्षा की भी एक विचित्र कहानी है, किन्तु तुम सब लोगों का कौतूहल निवारण करने के लिए मैं उसे सहर्ष वर्णन करता हूँ। सुनो, मेरा जन्म कोशला नगरी में हुआ था। मैं राजा नल के लघुबन्धु कुबेर राजा का पुत्र हूँ। संगानगरी के केसरी राजा की बंधुमती नामक कन्या से मेरा विवाह हुआ था। विवाह के बाद मैं उस नवोढा को साथ लेकर जिस समय अपने नगर की ओर आ रहा था, उसी समय मार्ग में मुझे यह गुरुदेव दिखायी दिये। इनके साथ शिष्यों का भी एक बहुत बड़ा दल था। मैंने इन्हें भक्ति पूर्वक वन्दन कर इनका धर्मोपदेश सुना।

धर्मोपदेश सुनने के बाद मैंने मुनिराज से अपना आयुष्य पूछा। उन्होंने बतलाया कि तुम्हारा अयुष्य अब केवल पाँच ही दिन का है। मृत्यु के समीप जानकर मेरा हृदय भय से कांप उठा। मुझे भयभीत देखकर गुरुदेव ने कहा—“हे वत्स! भयभीत होने से कोई लाभ नहीं। ऐसे समय में तो धैर्य धारण करना चाहिए। मेरी बात मानो तो तुम दीक्षा ले लो। यदि मनुष्य एक दिन भी दीक्षा की आराधना करता है, तो वह स्वर्ग और मोक्ष सुख का अधिकारी हो जाता है।”

गुरुदेव के यह वचन सुनकर मैंने तुरन्त उनके निकट दीक्षा ले ली। उन्हीं के उपदेश से मैं यहाँ चला आया था। यहाँ पर शुक्ल ध्यान के कारण मेरे घातिकर्म क्षय हो गये और मुझे मोक्ष सुख देने वाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।”

इतना कह केवली भगवान शान्त हो गये। योग निरोध तो वे करते ही थे। इसलिए शीघ्र ही भवोपग्राही चार कर्मों का क्षय कर वे परमपद के अधिकारी हुए। देवतागण उनके शरीर को पवित्र क्षेत्र में ले गये और वहाँ पर उन्होंने उसका अग्नि संस्कार किया।

इसके बाद उस कुलपति ने श्री यशोभद्रसूरि के निकट दीक्षा ले ली। दमयन्ती को भी उसी समय दीक्षा लेने की इच्छा हुई, उसने इसके लिए मुनिराज से प्रार्थना भी की, किन्तु उन्होंने यह कहकर उसे दीक्षा देने से इन्कार कर दिया कि अभी तुम्हें नल के साथ भोग भोगने बाकी हैं, इसलिए तुम दीक्षा के योग्य नहीं हो।”

दमयन्ती मुनिराज का यह वचन सुनकर मौन हो गयी। सुबह मुनिराज पर्वत से उतर कर तापसपुर पधारे और दमयन्ती के अनुरोध से नगर निवासियों को धर्मोपदेश दिया। तत्पश्चात् नगर निवासियों के हृदय में सम्यक्त्व का बीज बोकर मुनिराज वहां से दूसरे स्थान के लिए प्रस्थान कर दिये।

मुनिराज के चले जाने पर दमयन्ती पुनः अपनी गुफा में लौट आयी। वह मलीन वस्त्र धारण कर साध्वी की भांति धर्मध्यान में लीन रहने लगी। एक एक करके उसने सात वर्ष उसी गुफा में व्यतीत कर दिये। एक दिन गुफा के बाहद से किसी मुसाफिर ने उससे कहा—“हे दमयन्ती! मैंने अमुक स्थान में आज तुम्हारे पति को देखा है।”

मुसाफिर के यह वचन कान में पड़ते ही दमयन्ती का शरीर रोमाञ्चित हो उठा वह उसे देखने के लिए गुफा से बाहर निकल आयी। उसने चारों ओर नजर दौड़ायी, किन्तु कहीं भी उसे वह मनुष्य न दिखायी पड़ा, जिसने उसे यह प्रिय वचन सुनाये थे। उसने प्रत्येक शब्द अपने कानों से स्पष्ट सुना था, इसलिए यह भी न कह सकती थी, कि उसे किसी प्रकार भ्रम हुआ था। अतः जिस ओर से वह शब्द आया था, उसी ओर वह चल पड़ी और इधर उधर के वृक्षों में उसकी खोज करने लगी। उसने बड़ी देर तक उसकी खोज की, किन्तु कहीं भी उसका पता न चला।

दमयन्ती इससे बहुत निराश हो गयी। उसने अपनी गुफा की ओर वापस लौटने का विचार किया, तो मार्ग में वह रास्ता ही भूल गयी। दमयन्ती अब सचमुच बड़े चक्कर में पड़ गयी। वह कभी खड़ी होती, कभी बैठ जाती और कभी भूमि पर लौटने लगती। निराश और दुःख के कारण उसके नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली। वह कहने लगी—“हा दैव! अब मैं क्या करूँ और कहाँ जाऊँ?”

बड़ी देर तक इधर उधर भटकने के बाद फिर दमयन्ती एक ओर चल पड़ी। उसे ऐसा मालूम होने लगा, मानो उसे ठीक रास्ता मिल गया है और इस रास्ते से उस गुफा तक पहुँचने में कोई कठिनाई न होगी। परन्तु कुछ दूर आगे बढ़ते ही एक विकरालमुखी राक्षसी ने उसका रास्ता रोक लिया और उसने लाल जीभ लपकाकर कहा—“हे मानुषी! अब मैं तुझे खा डालूंगी। तू मेरे

हाथ से निकल कर नहीं जा सकती।

दमयन्ती इससे बड़े संकट में पड़ गयी। उसने इष्टदेव के स्मरण कर कहा—“यदि मैंने नल के सिवा स्वप्न में भी अन्य पुरुष का चिन्तन न किया हो, यदि मेरा सतीत्व अखण्ड हो, तो इस राक्षसी का विचार पलट जाये यह शत्रुता छोड़कर मित्रता की दृष्टि से मुझे देखने लगे।”

दमयन्ती की इस प्रार्थना के कारण उसी समय राक्षसी के विचार पलट गये और वह उस का रास्ता छोड़कर न जाने कहाँ लोप हो गयी।

वहाँ से आगे बढ़ने पर दमयन्ती को दूर से एक नदी दिखायी दी। तृषा के कारण उसका कंठ सूख रहा था, इसलिए उसने सोचा कि वहाँ पहुँचने पर अपनी तृषा शान्त करूँगी। किन्तु जब वह उस नदी के पास पहुँची, तब उसने देखा कि वह तो एक दम सूखी पड़ी है। उस समय उसकी ठीक वही अवस्था हुई, जो जल के भ्रम से बालू के पास पहुँचने पर मृग की होती है। दमयन्ती यदि प्यासी न होती तो अवश्य उस स्थान से योंही आगे बढ़ जाती, किन्तु प्यास के कारण उससे बिना कुछ किये न रहा गया। इसलिए उसने अपने दाहिने पैर की ऐड़ी जमीन पर पटक कर कहा—“यदि मेरा हृदय सम्यग् दर्शन से पूर्ण हो, तो यहाँ गंगा जल की भाँति निर्मल नीर प्रकट हो। उसके सुख से यह वृचन निकलते ही उस नदी में निर्मल जल की प्रचण्ड धारा प्रवाहित होने लगी। दमयन्ती उसके द्वारा अपनी तृषा शान्त कर वहाँ से आगे के लिए चल पड़ी।

दमयन्ती ने सोचा था कि इस रास्ते से वह शीघ्र ही अपनी तापसपुरावली गुफा में पहुँच जायगी, किन्तु यह उसकी भूल थी। उसे अब तक ठीक रास्ता न मिला था और वह इधर उधर भटक रही थी। चलते चलते जब वह थक गयी, तो एक वट वृक्ष के नीचे बैठकर विश्राम करने लगी। उसी समय एक सार्थ के कुछ आदमी, जो माल लेने गये थे, उधर से आ निकले। दमयन्ती को देखकर उनमें से एक ने पूछा—“हे भद्रे! तुम कौन हो और यहाँ पर क्यों बैठी हो? हमें तो तुम कोई देवी सी प्रतीत होती हो!”

दमयन्ती ने कहा—“नहीं, मैं कोई देवी नहीं, एक साधारण मानुषी हूँ। इस समय मैं जंगल में ही रहती हूँ। किन्तु मुझे तापसपुर जाना है इसलिये यदि

तुम्हें उसका रास्ता मालूम हो, तो मुझे उस रास्ते तक पहुंचा देने की कृपा करो ?”

आदमी ने कहा—“जिस और सूर्यास्त होता है, उस और सीधी चली जाने पर तुम तापसपुर पहुंच जाओगी। वहां का रास्ता हमें अवश्य मालूम है, किन्तु समयभाव के कारण हम लोग तुम को वहां तक पहुंचाने नहीं जा सकते। हमारा सार्थ यहाँ पास ही में टिका हुआ है। यदि तुम हमारे साथ वहाँ चलो, तो हम लोग तुम्हें किसी नगर में पहुंचा सकते हैं।

दमयन्ती ने देखा कि इधर उधर भटकने की अपेक्षा उनके साथ किसी नगर को पहुँच जाना अच्छा है, इसलिए वह उनके साथ हो गयी। पड़ाव में पहुंचने पर सार्थवाह धनदेव उस के पास दौड़ आया, उसने पूछा—“हे भद्रे! तुम कौन हो और यहाँ पर क्यों आयी हो ?”

दमयन्ती ने अपरिचित मनुष्यों को अपना प्रकृत परिचय देना उचित न समझा। इसलिए उसने कहा—“हे सार्थपति! मैं एक वणिक की पुत्री हूँ। मैं अपने पति के साथ अपने मायके जा रही थी। एक रात को जब मैं सो गयी, तब न जाने क्या सोचकर मेरा पति मुझे छोड़कर चला गया। मैं उसीको खोजती हुई, चारों ओर भटक रही थी। इतने ही मैं तुम्हारे आदमियों से मेरी भेट हो गयी और वे मुझे यहाँ पर ले आये। हे महाभाग! अब तुम मुझे किसी नगर में पहुँचा दोगे तो बड़ी कृपा होगी।”

सार्थपति ने कहा—“मैं अचलपुर की ओर जा रहा हूँ। तुम भी मेरे साथ वहाँ चल सकती हो। मेरे साथ चलने से तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने पायगा। मैं तुम्हें अपनी कन्या समझकर तुम्हारे आराम का ह्याल रखूँगा।”

दमयन्ती अचलपुर जाने के लिए राजी हो गयी, इसलिए सार्थवाह ने उसके लिए एक गाड़ी का प्रबन्ध कर दिया। दमयन्ती उसी मैं बैठकर यात्रा करने लगी।

एक दिन किसी पहाड़ की तराई में, एक सुन्दर झरने के पास सार्थवाह ने पड़ाव डाला। रात में जिस समय दमयन्ती सोने की तैयारी कर रही थी, उस समय उसने सार्थ के किसी मनुष्य को नमस्कार महामन्त्र का पाठ करते सुना।

उसने अपने पतिवियोगदि का जो हाल धनदेव को बतलाया था, वही हाल धनदेव ने उस श्रावक को कह सुनाया। उसे सुनकर उसकी आंखों में आंसू आ गये। उसने दमयन्ती को आश्वासन देते हुए कहा—“हे भद्रे! तुम शोक मत करो। यह दुःख कर्मोदय के ही कारण तुम पर आ पड़ा है। अब तुम इस सार्थवाह को अपना पिता और मुझे अपना भाई समझो। हम तुम्हारे सुख के लिए यथासाध्य चेष्टा करेंगे।” अस्तु।

थोड़े दिनों के बाद वह सार्थ अचलपुर जा पहुंचा। वहां पर दमयन्ती ने रह जाने की इच्छा प्रकट की, इसलिए उसे वहीं छोड़कर सार्थवाह अन्यत्र चला गया।

इधर दमयन्ती ने नगर में जाने का विचार किया, किन्तु उसे तृषा लगी हुई थी, इसलिए उसने सोचा कि पहले कहीं जल पान कर लेना चाहिए। नगर के बाहर द्वार के पास ही एक बावड़ी बनी हुई थी। उसमें नगर की अनेक पनिहारियें पानी भर रही थी। सीढ़ियों द्वारा उसी में उतर कर दमयन्ती ने अपनी तृषा शान्त की। पानी पीने के बाद ज्योंही वह उससे बाहर निकलने लगी, त्यों ही उसका बाया पैर एक गोह ने पकड़ लिया। इससे दमयन्ती घबड़ा गयी। उसने समझा कि अब यहीं जीवन का अन्त आ जायगा। फिर भी उसने धैर्य पूर्वक तीन बार नवकार का पाठ किया। यही उस निर्बल का बल था। उसके प्रभाव से गोह से दमयन्ती का पैर तुरन्त छोड़ दिया। दमयन्ती मन ही मन भगवान को धन्यवाद देती हुई, हाथ पैर और मुँह धोकर धीरे धीरे राजहंसी की भांति उस बावड़ी से बाहर निकल आयी।

बावड़ी से बाहर निकलने पर दमयन्ती को कुछ थकावट मालूम हुई, इसलिए वह वहीं पर एक वृक्ष के नीचे लेटकर विश्राम करने लगी। इस स्थान से नगर की उच्च अट्टालिकाएं स्पष्ट दिखायी देती थी और उनका दृश्य बहुत ही मनोरम प्रतीत होता था। दमयन्ती उन्हीं की ओर देखती हुई अपने भूत भविष्य पर विचार करने लगी।

इस अचलपुर के राजा का नाम ऋतुपर्ण और रानी का नाम चन्द्रयशा था। जिस समय दमयन्ती उस वृक्ष के नीचे लेटी हुई थी, उसी समय राजमन्दिर की कई दासियां उस बावड़ी पर जल भरने आयीं। जिस प्रकार राख

उसे सुनकर दमयन्ती तुरन्त उठ बैठी। उस ने सार्थवाह से कहा—“नवकार मन्त्र का पाठ करने वाला यह मनुष्य मेरा सहधर्मी है। इसलिए आपकी आज्ञा से मैं उसे देखना चाहती हूँ।”

सार्थवाह ने इसमें कोई आपत्ति न की बल्कि वह स्वयं पिता की भांति उसकी इच्छा पूर्ण करने के लिए उसे उस सहधर्मी के पास ले गया। दमयन्ती ने वहां जाकर देखा कि वह साक्षात् शरीरधारी श्रावक की भांति अपने तम्बू में बैठा है और एक पटपर खिंचे हुए आर्हत बिम्ब की वन्दना कर रहा है। दमयन्ती भी उस बिम्ब को वन्दन कर वहीं पर बैठ गयी। उस परम श्रावक को देखकर उसका रोम रोम पुलकित हो उठा था। जब तक वह चैत्यवन्दन करता रहा, तब तक दमयन्ती चुपचाप बैठी रही। चैत्य वन्दन पूर्ण हो जाने पर उसने प्रेमपूर्वक पूछा—“हे बन्धो! यह किस जिनेश्वर का बिम्ब है?”

श्रावक ने कहा—“हे धर्मशीला! यह बिम्ब भविष्य में होने वाले उन्नसिवें तीर्थकर श्रीमल्लिनाथ का है। मैं भावी तीर्थकर का यह बिम्ब क्यों पूजता हूँ, यह तुम्हारे हृदय में उठना स्वाभाविक है। हे कल्याणी तुम्हारे कल्याण के लिए मैं स्वयं तुम्हें यह रहस्य बतलाता हूँ। ध्यान से सुनो—“मैं काशीनगरी का एक वणिक हूँ। एक बार वहां पर ज्ञानवान् धर्मगुप्त नामक मुनि का आगमन हुआ। उस समय मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ, और उन्हें वन्दन करने के बाद मैंने पूछा—“हे भगवान्! मेरी मुक्ति किस तीर्थकर के तीर्थ में होगी?”

मुनिराज ने मेरे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—“तुम देवलोक से च्युत होकर मल्लिनाथ के तीर्थ में मिथिला नगरी में प्रसन्नचन्द्र नामक राजा होंगे। उन्नीसवें तीर्थकर श्रीमल्लिनाथ का दर्शन प्राप्त होने पर तुम्हें केवलज्ञान उत्पन्न होगा और उसी समय तुम मोक्ष के अधिकारी होंगे।”

हे धर्मज्ञे! उसी समय से मैं श्रीमल्लिनाथ भगवान का बिम्ब पट में अंकित कर भक्ति पूर्वक उसका पूजन करता हूँ। यही मेरी इस पूजा का रहस्य है। हे पुण्यवती! मुझे अपना धर्म बन्धु मानकर क्या तुम भी अब अपना परिचय देने की कृपा करोगी?”

उसका यह प्रश्न सुनकर दमयन्ती ने अपनी आंखें नीचे को झुका ली।

की ढेरी में पड़ा रहने पर भी कुन्दन अपनी स्वाभाविक दमक नहीं छोड़ता, उसी प्रकार दिन हीन और मलीन होने पर भी दमयन्ती की स्वाभाविक सुन्दरता अभी नष्ट न हुई थी। उसे देखकर सभी दासियों आपस में काना फूसी करने लगी। वे कहने लगी—“यह अवश्य कोई बड़े घराने की स्त्री है, क्योंकि ऐसा रूप तो देवी और विद्याधारियों में भी नहीं पाया जाता। किसी आपत्ति विपत्ति में पड़कर इसकी यह अवस्था हो गयी है। इसलिए यह दुःखितावस्था में भूमि पर लेट रही है। लेकिन पंक लग जाने पर भी कमलिनी तो सदा कमलिनी ही रहती है।”

दमयन्ती चिन्तामग्न थी, साथ ही उसे कुछ निद्रा भी आ गयी थी, इसलिए दासियों की इन बातों की ओर उसका ध्यान भी आकर्षित न हुआ। वे सब जल भरकर राजमन्दिर को वापस चली गयी। वहां उन्होंने रानी से उसकी चर्चा की। इसलिए रानी ने कहा—“अच्छा, तुम जाओ और उसे मेरे पास ले आओ। मैं उसे अपनी पुत्री चन्द्रवती की बहिन बनाकर अपने पास रख लूंगी।”

रानी की यह बात सुनकर उसकी कई दासियाँ दमयन्ती के पास गयी और कहने लगी—“हे सुभगे! इस नगर की रानी चन्द्रयशा ने तुम्हें आदर पूर्वक अपने पास बुलाया है। वे तुम्हें अपनी पुत्री के समान रखेंगी और यहां पर पड़े रहने से तो तुम्हारे शरीर में भूत प्रेत प्रवेश कर तुम्हें सतायेंगे। इसलिए हे भद्रे! तुम हमारे साथ चलो और इस मलीन वेश को त्याग कर राजकन्या की भांति ऐश्वर्य भोग करो।”

दमयन्ती ऐश्वर्य के प्रलोभन से तो लुब्ध न हुई, किन्तु रानी ने उसे पुत्री बनाकर आश्रय देने को कहा था, इसलिए वह उसी समय दासियों के साथ चन्द्रयशा के पास चली गयी।

चन्द्रयशा दमयन्ती की सगी मौसी थी, परन्तु दमयन्ती को इस बात का कुछ भी पता न था। दूसरी ओर चन्द्रयशा को यह बात मालूम थी, कि उसकी बहिन के दमयन्ती नामक एक लड़की है, उसने बाल्यावस्था में उसे देखा भी था, किन्तु इस समय न तो वह पहचानती ही थी, न ही उसे बात का पता था कि यह दमयन्ती ही है।

इस प्रकार यह आत्मीयता अज्ञात होने पर भी, चन्द्रयशा ने जब दमयन्ती को देखा, तो उसके हृदय में वात्सल्य भाव उमड़ आया। दमयन्ती की भी यही अवस्था हुई। उन दोनों का हृदय उसी अज्ञात सम्बन्ध के कारण लोह चुम्बक की भांति एक दूसरे के प्रति आकर्षित होने लगा। चन्द्रयशा ने दमयन्ती को गाढ़ अलिङ्गन कर उसे गले से लगा लिया। रानी का यह माता के समान प्रेम देखकर दमयन्ती के नेत्रों से भी अश्रुधारा बह निकली। वह दुःख और प्रेम के कारण रानी के पैरों पर गिर पड़ी।

रानी ने उसे उठाकर मधुर वचनों द्वारा सान्त्वना दी। जब वह श्रमन्त हुई, तब रानी ने उसका परिचय पूछा। दमयन्ती ने पूर्व की भांति अपना असली परिचय न देकर जो बातें सार्धवाह से कहीं थी, वही बातें रानी से भी कह दी। उन्हें सुनकर रानी ने समवेदना प्रकट करते हुए कहा—“हे कल्याणी! तुम्हें यहां पर किसी प्रकार का कष्ट न होने पायगा। जिस प्रकार मेरी पुत्री चन्द्रवती रहती है, उसी प्रकार तुम भी रहो और आनन्द करो।”

दमयन्ती ऐश्वर्य या सुख की भूखी तो थीं नहीं, किन्तु उसे किसी निरापद स्थान या आश्रय की आवश्यकता जरूर थी। इसलिए रानी के उपरोक्त वचन सुनकर उसे परम सन्तोष हुआ और वह बड़ी सादगी के साथ वहां रहती हुई अपने दिन व्यतीत करने लगी।

रानी चन्द्रयशा जब जब इस गुप्तवेशवाली दमयन्ती को देखती, तब तब उसे प्रकृत दमयन्ती की याद आ जाती थी। वह दमयन्ती के रूप से उसके रूप की तुलना करती, तो उसे उन दोनों में बड़ी समानता दिखायी देती। एक दिन उसने अपनी पुत्री चन्द्रवती से कहा—“तुम्हारी यह बहिन ठीक मेरी दमयन्ती के समान है। इसे देखकर मुझे सन्देह हो जाता है कि यह वही तो नहीं है? परन्तु यह केवल सन्देह ही है। उसकी न तो ऐसी अवस्था हो ही सकती है, न वह यहां आ ही सकती है। वह तो हमारे स्वामी राजा नल की पटरानी है और यहां से एक सौ चौवालिस योजन की दूरी पर कोशला नगरी में रहती है।”

खैर, रानी ने इसे असम्भव मानकर दमयन्ती के निकट कभी इसकी चर्चा न की। फलतः उन दोनों का यह सम्बन्ध प्रकट न हो सका और दमयन्ती उसी तरह अपने दिन बिताती रही।

रानी चन्द्रयशा ने नगर के बाहर एक दानशाला बनवा रखी थी। वहां पर वह रोज सुबह कुछ देर बैठकर दीन और दुःखियों को दान दिया करती थी। यह देख; दमयन्ती ने रानी से कहा—“माताजी! यदि आप कहें तो दानशाला में बैठकर मैं भी दीन दुःखियों को दान दिया करूं। सम्भव है कि मेरे पतिदेव कभी घूमते घामते वहां आ जायें या वहां आने वाले मुसाफिरों से किसी प्रकार उनका पता मिल जाय!”

रानी ने दमयन्ती की यह प्रार्थना सहर्ष स्वीकार कर ली, अतः दूसरे ही दिन से दमयन्ती वहां बैठकर दान देने लगी। वहां पर जो जो याचक या मुसाफिर आता, उसको नल का रूप आदि बतलाकर दमयन्ती उससे उनका पता पूछती। धीरे धीरे यही उसकी दिनचर्या हो गयी। इस कार्य में उसे आनन्द भी आता था और उसका दिन भी आसानी से कट जाता था।

एक दिन दमयन्ती दानशाला में बैठी हुई थी। इतने ही में राजकर्मचारी एक बन्दी को लेकर उधर से आ निकले, वे उसे वधस्थान की ओर लिये जा रहे थे। दमयन्ती ने उन राज कर्मचारियों से उसके अपराध के सम्बन्ध में पूछताछ की, तो उन्होंने बतलाया कि यह एक चोर है। इसने चन्द्रवती देवी की रत्नपिटारी चुरा ली है, इसलिए इसे मृत्युदंड दिया गया है।”

मृत्युदण्ड का नाम सुनते ही दमयन्ती को उस चोर पर दया आ गयी। इसलिए उसने करुणापूर्ण दृष्टि से उस चोर की ओर देखा। देखते ही चोर ने हाथ जोड़कर कहा—“हे देवी! मुझ पर आप की दृष्टि पड़ने पर भी क्या मुझे मृत्युदण्ड ही मिलेगा? क्या आप मुझे अपना शरणागत मानकर मेरी रक्षा न करेंगी?”

चोर के यह वचन सुनकर दमयन्ती का हृदय और भी द्रवित हो उठा उसने उसे अभयदान देकर कहा—“यदि मैं वास्तव में सती होऊँ, तो इस बन्दी के समस्त बन्धन छिन्न भिन्न हो जायें।”

इतना कह दमयन्ती ने हाथ में जल लेकर उस पर तीन बार छिड़क दिया। छिड़कते ही उसके सब बन्धन टूट गये। इससे राजकर्मचारियों में बड़ा ही तहलका मच गया। उन्होंने तुरन्त राजा ऋतुपर्ण को इसकी खबर दी। उसे इससे बहुत ही आश्चर्य हुआ, क्योंकि ऐसी घटना इसके पहले कभी भी घटित

न हुई थी। वे सपरिवार दमयन्ती के पास गये और उससे कहने लगे—“हे पुत्री! तुमने यह क्या किया? दुष्टों का दमन और शिष्टों की रक्षा करना राजा का एकान्त कर्तव्य है। उपद्रवियों से रक्षा करने के लिए ही राजा अपनी प्रजा से कर (टेक्स) लेता है। अपराधियों को समुचित दण्ड न देने उनका पाप राजा के ही सिर पड़ता है। इस चोर ने राज कन्या की रत्न पिटारी चुरा ली है, इसे दण्ड न देने से दूसरे चोरों का भी हौंसला बढ़ जायगा और फिर इस प्रकार के अपराधियों को दण्ड देना कठिन हो पड़ेगा।”

दमयन्ती ने कहा—“पिताजी! इसमें कोई सन्देह नहीं, कि अपराधियों को दण्ड अवश्य देना चाहिए, परन्तु यदि मेरे सामने ही इसका वध किया जायगा, तो मुझ श्राविका का दया धर्म किस काम आयगा? इसलिए मैं आपसे क्षमा प्रार्थना करती हूँ कि यह मेरी शरण में आया है। इसका चीत्कार, इसकी करुण प्रार्थना सुनकर मैंने इसे अभयदान दिया है। आप भी इसे अभयदान देने की कृपा करें। मैं आपका यह उपकार अपने ऊपर ही समझूंगी और इसके लिए आपकी चिरऋणी रहूंगी।”

दमयन्ती का अत्यन्त आग्रह देखकर राजा ऋतुपर्ण ने उस चोर का अपराध क्षमा कर दिया। राज कर्मचारियों के हाथ से मुक्ति पाते ही वह चोर दमयन्ती के पैरों पर गिर पड़ा और कहने लगा—आपने आज मुझे जीवन दान दिया है, इसलिए आज से मैं आपको अपनी माता मानूंगा।”

इतना कह, दमयन्ती का आशीर्वाद ग्रहण कर उस समय तो वह चोर वहां से चला गया, किन्तु इसके बाद से वह रोज एक बार दमयन्ती के पास आने और उनको प्रणाम करने लगा। एक दिन दमयन्ती ने उससे पूछा—“तुम कौन हो और कहां रहते हो? तुमने चोरी का यह पापकर्म क्यों किया था?”

उसने कहा—हे देवी! “तापसपुर में वसन्त नामक एक धनीमानी सार्थवाह रहते थे। उन्हीं का मैं पिंगल नामक नौकर था। मैं दुर्व्यसनी था, इसलिए उन्हीं के यहां सेंध लगाकर मैंने उनके भंडार से थोड़ा बहुमूल्य माल चुरा लिया। वह माल लेकर मैं वहाँ से भागा। मैं समझता था कि इस माल को लिए किसी सुरक्षित स्थान में पहुँच जाऊंगा और थोड़े दिन मौज करूंगा, किन्तु दुर्भाग्यवश मार्ग में डाकुओं ने मुझे लूट लिया। इसलिए मैं फिर-जैसा का तैसा हो गया।

पश्चात् मैं धूमता धामता यहां आ पहुंचा। यहां पर राजा ऋतुपर्ण ने मुझे नौकर रख लिया। इससे मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ, खासकर इस विचार से कि अब मुझे फिर माल मारने का मौका मिलेगा। चोर का ध्यान सदा चोरी में ही रहता है, इसलिए किसी भी कार्य से यदि मैं राज मन्दिर में इधर उधर जाता, तो वहां रक्खी हुई चीजों पर सबसे पहले नजर डालता। एक दिन मैंने चन्द्रवती की रत्नपिटारी देख ली। उसे देखते ही मेरा चित्त चलायमान हो गया और मैं उसी क्षण उसे चुरा लाया।

परन्तु चोर की हिम्मत कितनी ? मैं ज्यों ही डरते डरते वहां से भागने की तैयारी करने लगा, त्योंही राजमहल के चतुर पहरदारों को मुझ पर सन्देह हो गया और उन्होंने मुझे गिरफ्तार कर लिया। तलाशी लेने पर मेरे पास से जब वह रत्नपिटारी निकली, तब उन्होंने मुझे राजा के सामने उपस्थित किया और उन्होंने चोरी के अपराध में मुझे मृत्युदण्ड दे दिया। इसके बाद जो कुछ हुआ वह आपको मालूम ही है। यदि आप ने मुझे न बचाया होता तो, हे महासती ! उस दिन मैं कुत्ते की मौत मारा गया होता।”

चोर की इस आत्म कथा से दमयन्ती को जब यह मालूम हुआ, कि वह वसन्त सार्थवाह का नौकर था और तापसपुर में रहता था, तब उन्होंने बड़े प्रेम से वसन्त का कुशल समाचार पूछा। उत्तर में उस चोर ने कहा—“हे देवी ! तापसपुर से आपके चले आने पर विन्ध्याचल के वियोगी हाथी की भांति वसन्त सार्थवाह ने अन्न त्याग दिया और सात दिन तक उपवास किया। इसके बाद यशोध्रसूरि का उपदेश श्रवण कर उसने आठवें दिन फिर अन्न ग्रहण किया।

इसके कुछ दिन बाद वह अनेक बहुमूल्य चीजें लेकर राजा कुबेर के दर्शन करने गया। वे उसकी भेंट देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे न केवल राजसभा में ही सम्मानित किया, बल्कि छत्र और चमर सहित उसे तापसपुर का राज्य देकर उन्होंने उसे अपने सामन्तों में शामिल कर लिया। उन्होंने उसका नाम भी बदलकर वसन्त श्रीशेखर रख दिया। इस प्रकार राज समान प्राप्त कर वह विजय भेरी बजाता हुआ तापसपुर लौट आया। उस समय से वह वहीं पर रहता है और प्रेमपूर्वक प्रजा का पालन करता है।”

वसन्त का यह समाचार सुनकर और उसे सुखी जानकर दमयन्ती को अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्होंने उस चोर से कहा—“हे वत्स! तुमने पूर्वजन्म में दुष्कर्म किये थे। उन्हीं का फल तुम इस जन्म में भोग रहे हो। अब तुम्हें दीक्षा लेकर उन दुष्कर्मों को क्षय कर देना चाहिए।

चोर ने कहा—“माताजी! मैं आप की आज्ञा शिरोधार्य करने को तैयार हूँ।”

इसी समय वहां पर कहीं से दो साधु आ पहुंचे। दमयन्ती ने उन्हें दोष रहित भोजन कराने के बाद कहा—“हे भगवान्! यदि यह पुरुष योग्य हो, तो इसे दीक्षा देने की कृपा कीजिए।”

साधुओं ने कहा—“हां, यह योग्य है। इसे दीक्षा देने में कोई आपत्ति नहीं है।” यह कहते हुए मुनिराज पिङ्गल को उसी समय देव मन्दिर में ले गये और वहां पर उन्होंने उसे यथाविधि दीक्षा दे दी।

उधर कई दिनों के बाद दमयन्ती के पिता भीमरथ ने सुना कि घूत क्रीड़ा में नल का सारा राज्य कुबेर ने जीत लिया है और राज्य जीतने के बाद उसने नल को अपने देश से निकल जाने की आज्ञा दे दी है। उन्होंने यह भी सुना कि दमयन्ती को साथ लेकर नल जंगल में चले गये हैं, किन्तु इसके बाद उन दोनों का क्या हुआ, यह आज तक किसी को मालूम नहीं हो सका।

महल में जाकर राजा ने यह समाचार अपनी रानी पुष्पदन्ती को सुनाया। पुष्पदन्ती अपनी पुत्री और दामाद की चिन्ता से अधीर और व्याकुल होकर रुदन करने लगी। राजा भीमरथ को भी कम दुःख न हुआ था। किन्तु वे जानते थे कि विपत्तिकाल में जो मनुष्य धैर्य से काम लेता है, वही अन्त में सुखी होता है। उन्होंने रानी को भी समझा बुझाकर शान्त किया। इसके बाद रानी ने उनसे अनुरोध किया कि किसी चतुर दूत को भेजकर चारों ओर उनकी खोज करानी चाहिए। राजा भीमरथ ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

दूसरे ही दिन उन्होंने इस कार्य के लिए हरिभित्र नामक एक पुरोहित को चुन लिया और उसे सब मामला समझा कर नल दमयन्ती की खोज करने के लिए रवाना किया। वह सर्वत्र उनकी खोज करता हुआ क्रमशः अचलपुर में पहुंचा और वहीं के राजा ऋतुपर्ण से भेंट की। जिस समय उन दोनों में

बातचीत हो रही थी, उसी समय वहां रानी चन्द्रयशा जा पहुँची। उन्हें जब यह मालूम हुआ, कि यह आदमी राजा भीमरथ के यहां से आया है, तब उन्होंने अपनी बहिन पुष्यदन्ती आदि का कुशल समाचार पूछा। उत्तर में हरिमित्र ने कहा—“हे देवि! रानी पुष्यदन्ती और राजा भीमरथ तो परम प्रसन्न हैं, किन्तु नल दमयन्ती का समाचार बहुत ही शोचनीय है।”

चन्द्रयशा ने कहा—“हे पुरोहित! तुम यह क्या कह रहे हो? नल और दमयन्ती को क्या हो गया है? उनका जो कुछ समाचार हो, शीघ्र ही कहो।”

हरिमित्र ने द्यूत से लेकर नल के वन प्रवास तक का सारा हाल उन्हें कह सुनाया। यह सुनकर रानी को अत्यन्त दुःख हुआ और वे उस दुःख के कारण विलाप करने लगीं। हरिमित्र उनको उसी अवस्था में छोड़कर दानशाला की ओर चला गया। उसे भूख भी बड़े जोरों की लगी हुई थी, इसलिए उसने सोचा कि वहीं पर भोजन का भी ठिकाना हो जायगा। दानशाला का द्वार तो सबके लिए खुला ही रहता था। इसलिए हरिमित्र ने वहां पर ज्योंही भोजन की इच्छा प्रकट की, त्योंही शुद्ध और ताजे भोजन की थाली उसके सामने आ गयी। हरिमित्र उसके द्वारा अपनी क्षुधाग्नि शान्त करने लगा।

भोजन करते समय अतिथियों के पास जाना और उनसे पूछताछ कर उन्हें किसी और वस्तु की आवश्यकता हो, तो वह उन्हें दिला देना, यह दमयन्ती का एक नियम सा था। इसी नियमानुसार वह हरिमित्र के पास भी पहुँची और उससे पूछने लगी कि भाई! तुम्हें किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं है?

हरिमित्र को किसी खाद्यपदार्थ की आवश्यकता न थी, इसलिए उसने उसके लिए तो इन्कार कर दिया, परन्तु इसके साथ ही उसकी दृष्टि दमयन्ती पर जा पड़ी, जिससे उसको इतना आनन्द हुआ, मानो उसे कुबेर का भण्डार मिल गया हो। वह दमयन्ती को भली भाँति पहचानता था। इसलिए उसे पहचानने में जरा भी दिक्कत न हुई, फिर भी उसने उसे दो तीन बार देखकर भली भाँति निश्चय कर लिया। जब उसे मालूम हो गया, कि यह दमयन्ती है, तब उसने पुलकित हृदय से दमयन्ती को प्रणाम करके कहा—“हे देवि! तुम्हारी यह क्या अवस्था हो रही है! खैर, तुम्हारा पता लग गया, यह भी

कम सौभाग्य की बात नहीं है। अब तुम्हारे माता पिता और स्वजन स्नेहियों की चिन्ता दूर हो जायगी।”

इतना कह, हरिमित्र ने दमयन्ती को अपने आगमन का सब हाल कह सुनाया। इसके बाद वह रानी चन्द्रयशा के पास दौड़ गया और उन्हें यह शुभ संवाद कह सुनाया। दमयन्ती उनकी दानाशाला में रहती थी, वे उसे रोज देखती थी, फिर भी उसे पहचानते हुए भी उन्होंने उसे न पहचाना, इसके लिए उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे उसी समय दानशाला में जा पहुंची। वहां पर उन्होंने दमयन्ती को गले से लगा लिया। दमयन्ती भी उन्हें जी खोलकर मिली, क्योंकि उसे यह बात आज अपने जीवन में पहले ही पहल मालूम हुई, कि चन्द्रयशा उसकी सगी मौसी है।

अपना प्रकृत परिचय न देकर छद्मवेश में रहने के कारण दमयन्ती को चन्द्रयशा ने सख्त उलाहना दिया। उसने कहा—“हे वत्से! मुझे बारंबार धिक्कार है कि मैं तुम्हें पहचान न सकी। मुझे भ्रम तो अनेक बार हुआ, परन्तु मैंने निराकरण एक बार भी न किया। इसके लिए आज मुझे बड़ा ही पश्चात्ताप हो रहा है। लेकिन इसके साथ ही मैं तुम्हें भी भला बुरा कहे बिना नहीं रह सकती। तुमने छिपे वेश में रहकर मुझे धोखा क्यों दिया? तुमने अपना असली परिचय मुझे क्यों न दिया? दैवयोग से तुम्हारे शिर यह दुःख आ पड़ा तो इसमें लज्जा की कौनसी बात थी? लज्जा भी कहां? मातृकुल में! माता पिता के सामने?”

इस प्रकार दमयन्ती को उलाहना देने के बाद रानी चन्द्रयशा उसकी दुरावस्था के लिए रोने कलपने लगी। शान्त होने पर उन्होंने दमयन्ती से पूछा—“हे पुत्री! तुम ने नल को त्याग दिया था या नल ने तुमको त्याग दिया था? मैं समझती हूँ कि उन्होंने ही तुम्हें त्याग दिया होगा। तुम सो सती हो, इसलिए ऐसा अनुचित काम तुम कर भी कैसे सकती हो? अब तक मैंने कहीं भी ऐसा नहीं सुना कि किसी पतिव्रता स्त्री ने संकटावस्था में पड़े हुए अपने पति को त्याग दिया हो। जिस दिन इस देश की सती साध्वी स्त्रियाँ ऐसा करने लगेंगी, उस दिन यह पृथ्वी अवश्य रसातल को चली जायगी। परन्तु नल ने भी तुम्हें त्यागकर बड़ा ही अनुचित कार्य किया है। वे तुम्हें मेरे यहां या तुम्हारी

माता के यहां क्यों न छोड़ गये ? ऐसी महासती भार्या को जंगल में अकेली छोड़ देना नल के लिए बड़े ही कलंक की बात है। इस कार्य द्वारा उन्होंने अपने कुल को भी कलंकित बना दिया है। हे वत्से ! तुम मेरा अपराध क्षमा करो। मैंने तुम्हें पहचानने में ऐसी बड़ी भूल की है, जिसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता। खैर, होनहार होकर ही रहता है। तुम्हारे भाग्य में यह दुःख बदा था, इसलिए तुम्हें भोग करना पड़ा।”

इस प्रकार नाना प्रकार की बातें कहकर चन्द्रयशा ने दमयन्ती को सान्त्वना दी। इतने ही में उसे स्मरण आ गया कि दमयन्ती के ललाट पर तो सूर्य के समान परम तेजस्वी एक तिलक था, वह क्यों दिखायी नहीं देता ? उसने दमयन्ती के ललाट की ओर देखा। दमयन्ती जान बुझकर उसकी सफाई न करती थी इसलिए वह मैला कुचेला हो रहा था। रानी चन्द्रयशा ने हाथ में जल लेकर उसे भली भांति धो दिया। धोते ही वह तिलक इस प्रकार चमक उठा, जिस प्रकार बादल छँट जाने पर वर्षा के दिनों में सूर्य चमक उठता है।

इसके बाद रानी चन्द्रयशा बड़े आदर के साथ उसे दानशाला से अपने राजमहल में ले आयी। वहां उसने स्वयं अपने हाथ से स्नान करा कर मनोहर श्वेतवस्त्र उसे पहनने को दिये। मौसी का यह प्रेम और आदर भाव देखकर दमयन्ती के होठों पर भी आज हँसी दिखायी देने लगी। रानी चन्द्रयशा दमयन्ती को सजाधजा कर राजा ऋतुपर्ण के पास ले गयी। उस समय राजा एक कमरे में बैठे हुए थे। रात हो चुकी थी और चारों ओर घोर अन्धकार फैला हुआ था कमरे में एक बत्ती जल रही थी, जो काफी तेज थी, लेकिन फिर भी वह उस स्थान के अन्धकार को पूर्ण रूप से दूर करने में समर्थ न थी। रानी चन्द्रयशा ने कमरे में पैर रखते ही वह बत्ती बुझा दी। साथ ही उसने दमयन्ती के ललाट का वस्त्र हटाकर उसका वह तिलक खोल दिया। तिलक खोलते ही वह कमरा जग मगा उठा।

राजा ने चकित होकर पूछा—“प्रिये ! तुमने दीपक तो यहां आते ही बुझा दिया था, अब यह इतना प्रकाश कहां से आ रहा है ? मुझे तो ऐसा मालूम होता है, मानो यह रात नहीं बल्कि दिन है।”

चन्द्रयशा ने कहा—“नाथ ! यह दमयन्ती के भाल तिलक का प्रताप

है। इसके रहने पर सूर्य, चन्द्र, दीपक या रत्न किसी भी वस्तु की ज़रूरत नहीं पड़ती। इसका प्रकाश बहुत दूर तक फैल जाता है और उस प्रकाश में दिन की तरह सब चीजें बहुत साफ दिखायी देती हैं।”

राजा ने आश्चर्यपूर्वक फिर पूछा—“क्या दमयन्ती मिल गयी? उसका पता मिल गया? वह कहाँ थी? उसका पता किस प्रकार मिला?”

राजा चन्द्रयशा ने राजा को सारा हाल कह सुनाया। सुनकर उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वे भी इस बात से बहुत दुःखित हुए, कि दमयन्ती इतने दिनों से उनके महल में, उन्हीं की छत्र छाया में रहती थी, फिर भी वह पहचानी न जा सकी। इसके बाद उन्होंने दमयन्ती को अपने पास बैठाकर बड़े प्रेम से उसकी विपत्ति का हाल पूछा। दमयन्ती से सजल नेत्रों से अपनी करुण कथा उनको भी कह सुनायी। राजा ऋतुपर्ण उसे सुनकर बहुत दुःखी हुए। उन्होंने अपने कमल से दमयन्ती के अश्रु पोंछकर नाना प्रकार से उसे आश्वासन दिया। बेचारी दमयन्ती अपने हृदय की वेदना को हृदय में ही छिपाकर फिर किसी तरह शान्त हो गयी।

इसी समय आकाश से एक देव उतर कर राजा ऋतुपर्ण और दमयन्ती के सामने आकर उपस्थित हुआ, उसने हाथ जोड़कर दमयन्ती से कहा—“हे माता! मैं वही पिंगल चोर हूँ, जिसे आपने उन दो साधुओं द्वारा दीक्षा दिलायी थी। दीक्षा लेने के बाद मैं विहार करता हुआ तापसपुर गया और वहाँ के श्मशान में कायोत्सर्ग कर मैं अपने जीवन को शेष समय व्यतीत करने लगा। संयोगशवश उसी समय एक चिता से आग उछल कर आस पास के वृक्षों में लग गयी और उसने देखते ही देखते दावानल का रूप धारण कर लिया। मैं भी उस दावानल में जल गया, परन्तु मृत्यु के समय मैं धर्मध्यान में लीन था, इसलिए मैं देवलोक में देव हुआ और मेरा नाम पिंगल पड़ा। देवत्व प्राप्त होने के बाद मुझे अवधिज्ञान से मालूम हुआ, कि आपने मेरी प्राण रक्षाकर मुझे जो प्रवज्या दिलायी थी, उसीके प्रभाव से मैं सुरसुख का भोक्ता हुआ हूँ। हे स्वाभिनी! यदि मुझे पापी समझकर आपने उस समय मेरी उपेक्षा की होती, तो मुझे धर्म की प्राप्ति कदापि न होती और मैं अवश्य नरक का अधिकारी होता। हे देवी! आपके ही प्रसाद से मुझे यह देवत्व और देव सम्पत्ति प्राप्त हुई है,

इसलिए मैं आपके दर्शन करने आया हूँ। आप की सदा जय हो!”

इतना कह वह देव सात क्रोड़ सुवर्ण मुद्राओं की वर्षा कर अन्तर्धान हो गया। जैन धर्म का यह साक्षात् फल देखकर राजा ऋतुपर्ण भी बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने भी जैन धर्म स्वीकार कर लिया।

दो एक दिन बार हरिमित्र ने राजा ऋतुपर्ण से कहा—“हे राजन्! दमयन्ती को अब अपने पिता के घर जाने की आज्ञा दीजिए। उसके माता पिता उसके वियोग से बहुत दुःखित हो रहे हैं।”

राजा और रानी ने इसके लिए सहर्ष अनुमति दे दी। उनकी रक्षा के लिए उन्होंने एक छोटी सी सेना भी उनके साथ कर दी। यथासमय दमयन्ती सबसे मिल भेंट कर, एक रथ में बैठ, अपने पितृ गृह के लिए रवाना हुई।

हरिमित्र ने कुंडिनपुर के समीप पहुंचने के पहले ही दमयन्ती के आगमन का समाचार राजा भीमरथ को भेज दिया था, इसलिए राजा भीमरथ बड़े ही प्रेम से अपनी पुत्री को मिलने के लिए सामने आ पहुँचे। पिता को देखकर दमयन्ती रथ से उतर पड़ी और पैरों से चलती हुई पिता की ओर अग्रसर हुई। उनके समीप पहुँचते ही वह आनन्द पूर्वक विकसित नेत्रों से उनके चरणों पर गिर पड़ी। पिता और पुत्री का यह मिलन वास्तव में परम दर्शनीय था। दोनों के होंठों पर मुस्कराहट और नेत्रों में अश्रु थे। राजा भीमरथ का वात्सल्य भाव देखते ही बनता था। वे वारंवार दमयन्ती की पीठ पर हाथ फेरकर उसे स्नेह और करुणाभरी दृष्टि से देखते थे। उनका आनन्द आज उनके हृदय में न समाता था।

पुत्री के आगमन का समाचार सुनकर रानी पुष्पवती भी वहां आ पहुँची। उनका समूचा शरीर स्नेह के कारण रोमाञ्चित हो रहा था। जिस प्रकार गंगा यमुना का संगम होता है, उसी प्रकार माता ने पुत्री को गले से लगा लिया। स्नेहमयी माता के गले लगने पर दमयन्ती का दुःख सागर मानो उमड़ पड़ा और उसे रुलाई आ गयी। जब उसने जी भरकर रो लिया, तब उसका हृदय भार कुछ हल्का हुआ।

इसके बाद दमयन्ती के माता पिता बड़े प्रेम से उसे राजमहल में ले गये। वहां पर दमयन्ती ने द्यूत क्रीड़ा से लेकर अब तक की मुसीबत का सारा हाल

उन्हें कह सुनाया। सुनने के बाद माता पुष्पदन्ती ने उसे बहुत सान्त्वना दी। उसने कहा—“हे आयुष्मती! यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने संकट आने पर भी तुम्हारा जीवन बच गया है और तुम सकुशल हमारे पास पहुंच गयी हो। इससे प्रतीत होता है कि तुम्हारा सौभाग्य सूर्य अभी अस्त नहीं हुआ है। अब तुम यहां पर आनन्द से रहो, मेरा विश्वास है कि कभी न कभी तुम्हारे पतिदेव तुम्हें अवश्य मिलेंगे। हम लोग अब उनकी खोज करने में भी कोई बात की कसर न रक्खेंगे।”

पुरोहित हरिमित्र का कार्य बहुत ही सन्तोषदायक था। यदि उसने तनमन से चेष्टा न की होती, तो दमयन्ती का पता कदापि न चलता। राजा भीमरथ ने इन सब बातों पर विचार कर उसे पाँच सौ गांव इनाम दे दिये साथ ही उन्होंने कहा—“हरिमित्र! यदि इसी तरह चेष्टा कर तुम नल का पता लगा लोगे, तो मैं तुम्हें अपना आधा राज्य दे दूंगा।” इसके बाद उन्होंने अपनी पुत्री के आगमन के उपलक्ष में एक अट्टाई महोत्सव किया, जो सात दिन तक जारी रहा। इन दिनों में उन्होंने देव पूजा और गुरु पूजा विशेष रूप से की।

समय समय पर राजा भीमरथ भी दमयन्ती को बड़े प्रेम से अपने पास बुलाकर उसे सान्त्वना दिया करते थे। एक दिन उन्होंने कहा—“हे पुत्री! मैं एक ऐसी युक्ति सोच रहा हूँ, जिससे नलकुमार जहां होंगे वहां से अपने आप यहां चले आयेगे। मेरी यह धारण है, कि अब तुम्हें अधिक समय तक यह दुःखमय जीवन न बिताना होगा।”

पिता की इन सान्त्वनाओं से दमयन्ती को खूब शान्ति मिलती थी और वह अपने दिन बड़े ही आनन्द में बिताती थी।

इस तरह कोशला नगरी छोड़ने के कई वर्ष बाद दमयन्ती तो किसी तरह ठिकाने लग गयी, किन्तु नल को शुभदिन देखने का समय अभी न आया था। वे दमयन्ती को सोती हुई छोड़कर वर्षों तक जंगल में भटकते रहे। एक बार उन्हें एक स्थान से काजल समान काला धुआँ निकलता दिखायी दिया। वह इस प्रकार ऊंचे चढ़ रहा था, मानो सूर्य, चन्द्र और ताराओं को श्याम बनाने के लिए वहां जा रहा हो। शीघ्र ही उस स्थान में आग की भयंकर लपटें दिखायी देने लगी। पशुओं में भगदड़ मच गयी। पक्षियों ने उड़ उड़कर दूसरे

जंगल का रास्ता लिया हरे भरे वृक्ष भी इस दावानल की प्रबलता के कारण इस प्रकार भस्म होने लगे, मानो सूखा हुआ तृण भस्म हो रहा हो। नल भी यह दावानल देखकर कर्तव्य विमूढ़ बन गये।

ठीक इसी समय उस दावानल के अन्दर से नल को किसी मनुष्य की सी आवाज आती हुई सुनायी दी। उन्होंने कान लगाकर सुना तो उन्हें मालूम हुआ, कोई अपनी रक्षा के लिए उन से पुकार पुकार कर प्रार्थना कर रहा है। वह कह रहा था—“हे इक्ष्वाकुकुल तिलक राजा नल! हे क्षत्रियोत्तम! मेरी रक्षा कीजिए। आप यद्यपि निष्कारण उपकारी है, तथापि यदि आप मेरी प्राण रक्षा करेंगे तो मैं भी उसके बदले आप का कुछ उपकार कर दूंगा।”

यह सुनकर नल उस दावानल की ओर आगे बढ़े। समीप पहुँचने पर उन्होंने देखा कि वनलताओं के झुण्ड में एक भीषण सर्प पड़ा हुआ है और वही उनका नाम ले लेकर अपनी रक्षा के लिए उन्हें पुकार रहा है।

नल को एकाएक उस सर्प के पास जाने का साहस न हुआ। उन्होंने दूर ही से उसे पूछा—“हे भुजंग! तुझे मेरा और मेरे वंश का नाम कैसे मालूम हुआ? क्या तू वास्तव में सर्प है? सर्प तो मनुष्य की बोली नहीं बोलते!

सर्प ने उत्तर दिया—“हे महापुरुष! पूर्व जन्म में मैं मनुष्य था, किन्तु अपने कर्मों के कारण इस जन्म में मैं सर्प हो गया हूँ। किसी सुकृत के कारण मैं इस जन्म में भी मानुषी भाषा बोल सकता हूँ। हे यशोनिधान! मुझे अंधविज्ञान है, इसलिए मुझे आपका और आपके वंशादिक का नाम मालूम है। आप शीघ्र ही मेरा रक्षा कीजिए वर्ना मैं इसी में जलकर खाक हो जाऊंगा।”

सर्प की यह दीनतापूर्ण बातें सुनकर नल को उस पर दया आ गयी। उन्होंने दूर से ही अपने उत्तरीय वस्त्र का एक छोर उसके पास फेंक दिया, सर्प जब उससे लिपट गया तब उन्होंने उस वस्त्र का दूसरा छोर पकड़कर उसे अपनी ओर खींच लिया। इसके बाद वे उसे उठाकर निरापद स्थान को ले जाने लगे, परन्तु उस स्थान तक पहुँचने के पहले ही उसने राजा नल के हाथ में बेतरह डस लिया। इससे नल ने तुरन्त उसे दूर फेंक दिया और कहा—“वाह! तुम ने मेरे ऊपर बड़ा ही उपकार किया! लोग सच ही कहते हैं, कि

सर्प को जो दूध पिलाता है, उसे भी वह काटे बिना नहीं रहता।”

नल यह बातें कह ही रहे थे, कि विष के प्रभाव से उनका शरीर कुबड़ा, केश प्रेत की भांति पीले, होंठ ऊंट की तरह लम्बे, हाथ पैर छोटे, और पेट बहुत बड़ा हो गया। अंगों में इस प्रकार विकृति आ जाने से वे बहुत बदसूरत दिखायी देने लगे। इससे उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ और वे अपने मन में कहने लगे—“इस प्रकार कुरूप होकर जीने की अपेक्षा तो मरना ही अच्छा है। अब मुझे दीक्षा ले लेनी चाहिए, ताकि इस परिताप से सदा के लिये छुटकारा मिल जायगा।”

परन्तु इतने ही में उन्होंने आश्चर्य के साथ देखा कि वह सर्प सुन्दर वस्त्रभूषणों से विभूषित तेजपुञ्ज के समान एक देव बन गया है। उसने नल से कहा—“हे नल कुमार! तुम दुःखी मत हो! मैं तुम्हारा पिता निषध हूँ। मैंने तुम्हें राज्य देकर दीक्षा ले ली थी। उसके प्रभाव से मैं ब्रह्मलोक में देव हुआ। वहां पर अवधिज्ञान से तुम्हारी दुर्दशा का हाल मालूम होने पर मैंने मायासर्प का रूप धारण कर तुम्हें कुरूप बना दिया है। जिस प्रकार कड़वी दवा पीने से रोगी का उपकार ही होता है, उसी प्रकार इस कुरूप से भी तुम्हें लाभ ही होगा। तुमने अपने राजत्वकाल में अनेक राजाओं को अपना दास बनाया था। इसलिए वे सब तुम्हारा अपकार कर सकते हैं। परन्तु तुम्हारा रूप परिवर्तित हो जाने से वे अब तुम्हें पहचान न सकेंगे, फलतः तुम उनसे सुरक्षित रह सकोगे। दीक्षा लेने का विचार तो इस समय तुम भूलकर भी मत करना, क्योंकि तुम्हें अभी बहुत भोग भोगने बाकी हैं। जब दीक्षा लेने का उपयुक्त समय आयगा, तब मैं स्वयं तुम्हें खबर दूंगा। इस समय तो तुम यही समझ लो कि जो कुछ छुआ है, वह तुम्हारे भले ही के लिए हुआ है। मैं तुम्हारा शुभचिन्तक हूँ, इसलिए मेरे द्वारा स्वप्न में भी तुम्हारा अपकार नहीं हो सकता।”

इतना कह उस देव ने नल को एक बिल्व फल और एक रत्न पिटारी देते हुए कहा—“इन दोनों चीजों को बड़े यत्न से रखना। जब तुम्हें अपना असली रूप धारण करना हो, तब इस फल को फोड़ डालना। इसे फोड़ने पर इसके अन्दर तुम्हें देव दूष्य वस्त्र दिखायी देंगे। उसी समय इस पिटारी को भी खोलना। इसमें हार आदिक कई बहुमूल्य आभूषण हैं। ज्योंहीं तुम उन वस्त्र

और आभूषणों को धारण करोगे, त्योंही तुम्हारा यह कुरूप लोप हो जायगा और तुम अपने उसी देव समान असली रूप में आ जाओगे।”

पिता के यह वचन सुनकर नल को बड़ा ही आनन्द हुआ। उन्होंने उनकी दी हुई दोनों वस्तुएं बड़े यत्न से अपने पास रख ली। इसके बाद उन्होंने उनसे पूछा—“पिताजी! आप इस समय देवयोनि में है, इसलिए आपकी सर्वत्र गति है। क्या आप बतला सकते हैं, कि आप की पुत्रवधु दमयन्ती इस समय कहाँ है?”

देव तनधारी निषध ने कहा—“दमयन्ती इस समय कुण्डिनपुर के मार्ग में है। वह वहाँ सकुशल पहुँच जायगी। इसलिए उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। तुम भी जब जहाँ चाहे वहाँ जा सकते हो। मेरी समझ में तो तुम्हारा जंगल में भटकना बेकार है। तुम्हारी जहाँ जाने की इच्छा हो, वहाँ मैं तुम्हें क्षणमात्र में पहुँचा सकता हूँ।”

नल ने कहा—“अच्छा, आप मुझे सुसुमारपुर पहुँचा दीजिए।” यह सुनकर निषध उसी समय नल को सुसुमारपुर में छोड़ आये और स्वयं देवलोक में चले गये।

इधर नलकुमार सुसुमारपुर के बाहर नन्दन वन में पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने सिद्धायतन के समान एक चैत्य देखा। उसमें श्रीनेमिनाथ भगवान की प्रतिमा स्थापित थी। उसे देखते ही भक्ति भाव के कारण नल का शरीर रोमाञ्चित हो उठा। उन्होंने बड़े प्रेम से भगवान की वन्दना की। इसके बाद वे नगर के दरवाजे के पास गये। वहाँ पर उन्होंने देखा कि एक मदोन्मत्त हाथी जंजीर से मुक्त होकर चारों ओर घूम रहा है। वह जिस वृक्ष के पास जाता, उसी को सूँढ़ में लपेटकर मूली की भाँति उखाड़ डालता। गजशाला के महावत इधर उधर दौड़ रहे थे, किन्तु उनसे कुछ करते धरते न बनता था। हाथी के भय से चारों ओर भगदड़ मची हुई थी।

संयोग वश सुसुमारपुर के स्वामी राजा दधिपर्ण भी उस समय वहीं किले पर उपस्थित थे। उन्होंने वहीं से पुकार कर कहा कि—“इस हाथी को जो वश कर लेगा, उसे मैं मनवाञ्छित वस्तु इनाम दूंगा। क्या यहाँ कोई ऐसा वीर नहीं है, जो इसे अधिकार में ला सके?”

कुब्ज वेश धारी नल यह सुनते ही छाती ठोंक कर मैदान में आ गये। उन्होंने कहा—“राजन्! आप वहीं से खड़े खड़े तमाशा देखिए, मैं अभी इस हाथी को वश कर लेता हूँ।”

नल की यह बात अभी पूरी भी न हुई थी, कि हाथी चिग्घाड़ करता हुआ उनके पीछे दौड़ा। परन्तु नल इससे भयभीत न हुए। वे धूमकर उसके सामने आ गये। हाथी दूने वेग से उन पर झपटा लोग बड़े जोर से चिल्ला उठे। सबने यही समझा कि इस कूबड़े को अब यह हाथी कदापि जीता न छोड़ेगा। लोगों ने उनसे भाग जाने को कहा, लेकिन नल केसरी सिंह की भांति उसके सामने डट गये। वे तरह तरह से पैतरे बदलकर हाथी को दौड़ाने और थकाने लगे। कभी वे गेंद की तरह इधर उछल जाते और कभी उधर। कभी खंडे हो जाते और कभी भूमि पर लेटे रहते। जिस प्रकार सपेरा सर्प को छकाता है, उसी प्रकार उन्होंने अपने कार्यों द्वारा उस हाथी को परेशान कर डाला।

अन्त में जब हाथी कुछ थककर कमजोर हो गया, तब उसके गले की जंजीर पर पैर रख, वे सिंह की भांति उछल कर उसके कन्धे पर चढ़ गये, इसके बाद वे हाथ में अंकुश लेकर उसे इच्छानुसार इधर उधर चलाने लगे। जो हाथी कुछ देर पहले तूफान की तरह इधर उधर दौड़ता था, वही नल के हाथ में पड़कर भेंड बकरी की तरह शान्त हो गया। लोगों ने उनके इस कार्य से प्रसन्न हो, जय जयकार की ध्वनि से आकाश गुंजा दिया। राजा दधिपर्ण ने अपने गले से सोने की माला उतारकर उनके गले में डाल दी। चारों ओर यही चर्चा होने लगी कि जिस हाथी को बड़े बड़े योद्धा वश में न कर सके, उसे एक कूबड़े ने वश कर लिया।

नल उस हाथी को मरहिट बनाकर आलान स्तम्भ के पास ले गये और वहां उसके कन्धे से उतर कर उसे जंजीरों से जकड़ दिया। इसके बाद राजा ने सम्मान पूर्वक कुब्ज (नल) को बुलाकर पूछा—“हे कुब्ज! हाथियों को वश करने के अलावा क्या और भी कोई कला तुम जानते हो?”

कुब्ज ने कहा—“महाराज! आप और क्या देखना चाहते हैं? मुझे पाकशास्त्र का थोड़ा बहुत ज्ञान है। आप चाहें तो उस विद्या का चमत्कार भी मैं आप को दिखा सकता हूँ।”

किन्तु राजा को इस बात पर विश्वास ही न होता था कि ऐसा कुरुप आदमी पाकशास्त्र में निपुण होगा। उन्होंने कौतूहलवश उस कुब्ज को चावल आदि सामग्री दिला दी और उनसे उत्तमोत्तम भोजन बना लाने का आदेश दिया। तदनन्तर कुब्ज ने वह सामग्री सूर्य के उत्ताप में रखकर सुर्य विद्या स्मरण किया, फलतः अपने आप सब भोजन पदार्थ तैयार हो गये। कुब्ज उन पदार्थों को यथाविधि छोटे बड़े पात्रों में सजाकर राजा के पास ले गया। राजा ने उन सभी पदार्थों को चखा। जिस वस्तु को वे चखते, उसीमें उन्हें अलौकिक स्वाद मालूम पड़ता था, ऐसे स्वादिष्ट पदार्थ उन्हें आज तक कभी भी नसीब न हुए थे। इसलिए जिस वस्तु को वे एक बार खाते, उसी को बार-बार खाने की इच्छा करते। यदि एक पदार्थ छोड़कर दूसरा खाते तो वह पहले से भी बढ़कर स्वादिष्ट मालूम पड़ता था। राजा दधिपर्ण कुब्ज की यह करामात देखकर हैरान हो गये।

भोजन करने के बाद उन्होंने कुब्ज को फिर अपने पास बुलाकर कहा—
“हे कुब्ज! तुम वास्तव में पाकशास्त्र के अद्भुत ज्ञाता हो। मैंने कुछ दिन नल की सेवा की थी। उस समय सूर्य विद्या द्वारा मैंने उन्हें ऐसे ही पदार्थ तैयार करते देखा था। मैंने यह भी सुना था कि उनके सिवा इस संसार में और किसी को भी यह कला मालूम नहीं है। इसलिए हे कुब्ज! तुम नल तो नहीं हो?”

कुब्ज ने राजा के इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर सिर्फ अपना सिर हिला दिया। राजा दधिपर्ण भी अपने मन में कहने लगे—“कहां यह कुब्ज और कहां नल? कहां इस का यह विकृत रूप और कहां नल का वह अद्भुत सौन्दर्य? नल तो देवता और विद्याधरों से भी अधिक सुन्दर हैं। मैंने उन्हें स्वयं देखा है। कोशला नगरी यहां से दो सौ योजन दूर है, साथ ही नल अर्धभरत के स्वामी है, इसलिए उनका यहां आना भी संभव नहीं। यह मेरी अज्ञानता ही है, जो इसके साथ मैं नल की समानता कर रहा हूँ।”

इस प्रकार विचारकर राजा दधिपर्ण ने अपने मस्तिष्क से यह विचार निकाल दिया। फिर भी वे उस पर अत्यन्त प्रसन्न थे, इसलिए उन्होंने एक लाख रुपये, पांच सौ गांव और अनेक वस्त्राभूषण उसे पुरस्कार में दिये। कुब्ज ने गांवों को छोड़कर सभी चीजें ले लीं इस पर राजा ने फिर कहा हे कुब्ज

तुम्हारी इच्छा हो तो और भी कोई चीज मांग सकते हो।”

कुब्ज ने कहा—“अच्छा, महाराज। यदि आप देना ही चाहते हैं तो मेरी बात मानकर अपने राज्य से शिकार और शराब खोरी-यह चीजें दूर कर दीजिए।”

राजा ने कहा—“तथास्तु!” उसी दिन एक राजाज्ञा प्रकाशित कर इन दोनों के लिए राज्य भर में मनाई कर दी गयी।

इसके बाद उस कुब्ज ने वहां से अन्यत्र जाने की इच्छा प्रकट की, किन्तु राजा दधिपर्ण ने अत्यन्त आग्रह पूर्वक उसे एकान्त में बुलाकर पूछा—“हे कुब्ज! तुम कौन हो, कहां के रहने वाले हो और इस समय कहां से आ रहे हो, यह सब बातें जानने की मुझे बड़ी इच्छा है। मैं समझता हूं कि यह सब बातें बतलाने में तुम्हें कोई आपत्ति न होगी।”

कुब्ज ने कहा—“राजन्! मैं कोशलेश्वर राजा नल की पाकशाला में काम करता था। मेरा नाम हुण्डिक है। वहीं पर मैंने सब कलाएं सीखी थी। जुएं में नल के छोटे भाई कुबेर ने उनका समूचा राज्य जीत लिया, इसलिए वे दमयन्ती को लेकर जंगल में चल गये। वहां पर उनकी मृत्यु हो गयी। मैंने कपटी कुबेर के आश्रय में रहना उचित न समझा, इसलिए मैं आपके नगर को चला आया।”

कुब्ज ने मुख से नल का मृत्यु-समाचार सुनकर राजा दधिपर्ण को बहुत ही दुःख हुआ। वे सपरिवार इस तरह रुदन करने लगे, मानो उनका सगा भाई मर गया हो। इसके बाद उन्होंने यथा विधि नल की उत्तर क्रिया भी की। कुब्ज वेशधारी नल यह सब देखकर मन ही मन हँस रहे थे, किन्तु वे अपना वास्तविक रहस्य प्रकट करना न चाहते थे, इसलिए उन्होंने कुछ और कहना उचित न समझा।

एक बार किसी आवश्यक कार्य से राजा दधिपर्ण ने अपना एक दूत दमयन्ती के पिता राजा भीमरथ के पास भेजा। राजा भीमरथ ने उसका बड़ा ही सत्कार किया और उसे कई दिन अपने पास रक्खा। एक दिन उस दूतने बातचीत के सिलसिले में राजा भीमरथ से कहा—“हे स्वामिन्! मेरे स्वामी के यहां एक ऐसा आदमी है, जो राजा नल की पाकशाला में काम करता था।

उसे राजा नल को स्वयं शिक्षा दी थी, इसलिए वह सूर्य विद्या द्वारा तरह तरह के भोग बना सकता है।”

दूत की यह बात सुनकर राजा भीमरथ ने तो कुछ भी न कहा, किन्तु चतुरा दमयन्ती के काम खड़े हो गये। उसने कहा—“हे पिताजी! किसी चतुर दूत को भेजकर जरा जांच कीजिए। कि वह आदमी कैसा है? मुझे जहां तक पता है, इस संसार में नल के सिवा और कोई भी मनुष्य सूर्यपाकी नहीं है। संभव है कि वे ही रूप परावर्तन कर वहां वास करते हो!”

राजा भीमरथ ने दमयन्ती के कथनानुसार जांच करना स्वीकारकर लिया। उन्होंने इस काम के लिए कुशल नामक एक कार्य कुशल ब्राह्मण को पसन्द किया। उन्होंने उसे सब मामला समझाकर कहा—“तुम सुसुमारपुर जाकर राजा के उस रसोइये को देख आओ, साथ ही इस बात का भी पता ले आओ कि उसने यह कला कहां सीखी थी। हमें सन्देह है कि वह शायद नल होगा, इसलिए अच्छी तरह जांच करने की जरूरत है।

विप्रराज कुशल, राजा के आदेशानुसार शीघ्र ही सुसुमारपुर जा पहुंचा। वहां इधर उधर से पता लगाकर वे उस कुब्ज के पास गये, किन्तु उसे देखते ही उनकी आशा पर पानी फिर गया। वे अपने मन में कहने लगे—“कहां नल और कहां यह? कहां मेरु और कहां राई? दमयन्ती को वृथा ही नल का भ्रम हुआ है। लेकिन खैर, अब यहां तक आये हैं, तो अच्छी तरह जांच ही क्यों न कर लें? इसमें अपना क्या जाता है? यह सोचकर विप्रराज उस कुब्ज के सामने निम्नलिखित दो श्लोक वारंवार उच्चारण करने लगे—

निघृणानां निखयाणां, निःसत्वानां दुरात्मनाम् ।

धूर्वही नल एवैकः पत्नीं तत्याज यः सतीम् ॥1॥

सुप्तामेकाकिनी मुग्धां, विश्वस्तां त्यजतः प्रियाम् ।

उत्सेहाते कथं पादौ, नैषधोरल्प मेधसः ॥2॥

अर्थात्—“निर्दयी, निर्लज्ज, निर्बल और दुर्जनों में नल ही सब से बढकर है, क्योंकि उसने अपनी सती स्त्री को त्याग दिया है। उस मुग्धा और विश्वस्त प्रियतमा को सोती हुई अवस्था में अकेली छोड़कर उस अल्पबुद्धि नल के पैर आगे किस प्रकार बढे होंगे?”

विप्रराज के मुख से बार-बार यह श्लोक सुनकर नल को दमयन्ती की याद आ गयी, फलतः उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। उसकी यह अवस्था देखकर विप्रराज ने पूछा—“भाई कुब्ज! तुम रुदन क्यों कर रहे हो?”

हुण्डिक अर्थात् उस कुब्ज ने उत्तर दिया—“आप बहुत ही करुण स्वर से इन श्लोकों को पढ़ते हैं, इसलिए मेरी आंखों में आंसू आ गये। क्या आप इन श्लोकों का अर्थ बतलाने की कृपा न करेंगे?”

विप्रराज को तो उससे ऐसी बातें कहनी ही थी, इसलिए उन्होंने द्युतक्रीड़ा से लेकर दमयन्ती के कुण्डिनपुर पहुँचने तक का सारा हाल उसे कह सुनाया। साथ ही उसने कहा कि—“राजा दधिपर्ण के दूत ने हमारे राजा से यह कहा था कि तुम सूर्यपाकी हो, किन्तु दमयन्ती का कहना है कि नल के सिवा संसार में और कोई सूर्यपाकी है ही नहीं, इसलिए उसे सन्देह हो गया कि शायद तुम नल ही हो। अपना यह सन्देह दूर करने के लिए ही उसने पिता से विनय अनुनय कर तुम्हें देखने के लिए मुझे यहाँ भेजा है। परन्तु विकृत अंगवाले तुम कुब्ज कहां और दिव्य शरीर धारण करने वाले वे नल कहाँ? कहां खद्योत ओर कहां सूर्य? जहां आते समय मुझे जो शुभ शकुन हुए थे, वे सब बेकार हो गये। तुम नल नहीं हो।”

विप्रराज की यह सब बातें सुनकर कुब्ज का हृदय और भी मर्माहत हो उठा। उसने जब देखा कि अब धैर्य का बांध टूटना ही चाहता है, तो वह विप्रराज को आग्रह पूर्वक अपने घर ले गया। वहां पर उसने उनसे कहा—“आपके मुख से नल और दमयन्ती का वृत्तान्त सुनकर मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ है। कहिए, इसके बदले मैं मैं आपकी क्या सेवा करूँ?”

इस प्रकार मीठे वचन कहकर उसने भोजनादिक द्वारा विप्रराज का बड़ा ही सत्कार किया। इसके बाद जब उन्होंने वहां से चलने की इच्छा प्रकट की, तब राजा दधिपर्ण ने उसे जो वस्त्राभूषण दिये थे, वे सब उसने उनको दे दिये। विप्रराज उसकी जय मनाते हुए सकुशल कुण्डिनपुर लौट आये।

कुण्डिनपुर में आकर विप्रराज ने राजा भीमरथ को कुब्ज का रूप उसके अंग प्रत्यंग की विकृति, उसका हाथी को वश करना, उसकी दानशीलता,

उसका सूर्यपत्नी होना आदि सभी बातें विस्तार पूर्वक कह सुनायी। उसने राजा को सोने की माला, लाख रुपये और वे वस्त्राभूषण दिखलाये, जो कुब्ज ने उसे ईनाम दे दिये थे। साथ ही उसने वह दो श्लोक भी राजा को सुना दिये, जिनका बार-बार पाठ करने पर कुब्ज की आंखों में अश्रुधारा बह निकली थी। उसने इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया, कि कुब्ज का रूप देख कर स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकती, कि यह मनुष्य नल हो सकता है।

दमयन्ती ने विप्रराज की यह सब बातें बड़े ध्यान से सुनी। उसने अपने पिता से कहा—“हे पिताजी! हाथी को वश करना, सूर्यपाकी होना, असाधारण दानशीलता आदि सभी बातें ऐसी हैं, जो मेरे संदेह को पुष्ट करती हैं। केवल उसका रूप ही ऐसा है जो हमारी धारणा को पलट देता है, फिर भी मुझे मालूम होता है कि वह नल ही है। किसी आहार या कर्मदोष से उनका शरीर विकृत हो गया होगा। आप किसी तरह एक बार कुब्ज को यहां बुलाइये, जिससे मैं स्वयं उसकी परीक्षा ले सकूँ।”

राजा भीमरथ ने कहा—“हे पुत्री! मैं भी यही बात सोच रहा था। मैं राजा दधिपर्ण को तुम्हारे स्वयंवर की झूठी खबर देकर यहां बुलाऊँगा। निमन्त्रण पाकर वे यहां अवश्य ही आयेंगे, क्योंकि पहले भी वह तुमसे ब्याह करने के लिए बहुत लालायित थे। जब तुमने नल से ब्याह कर लिया था, तब वे बहुत निराश हो गये थे। दधिपर्ण के साथ वह कुब्ज भी अवश्य ही आयगा, क्योंकि यदि वह नल होगा तो अपनी पत्नी का दूसरे के हाथ में जाना कदापि सहन न करेगा। इन लोगों को बुलाने में एक और युक्ति से भी काम लिया जा सकता है। स्वयंवर की तिथि उनको इतनी समीप लिखनी होगी, कि यहां आने के लिए भी काफी समय न हो। नल अश्वविद्या के जानकार है। वे अश्वों को वायुवेग से चला सकते हैं। यदि वह कुब्ज नल होगा, तो समय कम होने पर भी दधिपर्ण को निर्दिष्ट समय के पहले ही यहां पहुंचा देगा। इससे नल की परीक्षा भी हो जायगी।”

दमयन्ती को पिता की यह युक्ति पसन्द आ गयी, इसलिए उन्होंने उसी दिन एक दूत द्वारा दधिपर्ण के यहां स्वयंवर का निमन्त्रण भेज दिया। राजा दधिपर्ण उस निमन्त्रण को पढ़कर बड़ी चिन्ता में पड़ गये। कहने लगे—

“दमयन्ती से ब्याह करने की तो बड़ी इच्छा है, परन्तु स्वयंवर तो कल ही है। एक दिन में किसी तरह भी वहां नहीं पहुंचा जा सकता। निमन्त्रण दो चार दिन पहले आया होता, तो कितना अच्छा होता। अब मैं क्या करूँ?”

इस प्रकार सोचते हुए राजा बहुत उदास हो गये। किसी तरह उनकी इस उदासी का हाल उस कुब्ज को भी मालूम हो गया। वह अपने मन में कहने लगा—“यह समाचार बहुत ही चिन्ताजनक है। दमयन्ती तो महासती है। वह दूसरे पुरुष की इच्छा ही कैसे कर सकती है? यदि वह इच्छा भी करेगी तो मेरे जीते जी किसी दूसरे के अन्तः पुर की शोभा बढ़ायगी? नहीं! ऐसा कदापि नहीं हो सकता। मुझे अब किसी तरह वहां अवश्य पहुंचना चाहिए। मैं दधिपर्ण के साथ अनायास वहां जा सकता हूँ। वे चाहे तो मैं उन्हें छः प्रहर में कुण्डिनपुर पहुंचा सकता हूँ।”

यह सोचकर कुब्ज ने राजा से पूछा—“हे राजन्! आप क्यों उदास हैं? क्या आप मुझे अपनी उदासी का कारण बतला सकते हैं?”

दधिपर्ण ने कहा—“भाई क्या कहूँ, मुझ में कुछ कहते नहीं बनता। नल का देहान्त हो जाने के कारण राजा भीमरथ दमयन्ती का दूसरा स्वयंवर कर रहे हैं। निमन्त्रण पत्र में स्वयंवर की तिथि चैत्र शुक्ल पञ्चमी लिखी है। दूत को तो वहां से आने में इतने दिन लग गये, अब मैं छः प्रहर में वहां कैसे पहुंच सकता हूँ? हे कुब्ज! यही मेरी उदासी का कारण है।”

कुब्ज ने कहा—“राजन्! आप चिन्ता न कीजिए। मैं आप को निर्दिष्ट समय के पहले वहां पहुंचा सकता हूँ। आप अपनी सवारी के लिए एक अच्छा रथ और दो घोड़े अश्वशाला से मंगा लीजिए। सारथी की जरूरत नहीं। उसका काम मैं स्वयं कर लूँगा।”

कुब्ज की यह बात सुनकर राजा दधिपर्ण आश्चर्य में पड़ गये। वे अपने मन में कहने लगे—“यह कुब्ज कोई साधारण मनुष्य नहीं मालूम पड़ता। शायद यह कोई देव या विद्याधर होगा। तभी तो समय समय पर यह ऐसे अलौकिक कार्य कर दिखलाता है। “अस्तु, उन्होंने कुब्ज से कहा—“तुम स्वयं अश्वशाला से अपनी पसन्दगी के घोड़े और रथ ले आओ। मैं इसी समय चलने के लिए तैयार हूँ।”

कुब्ज उसी समय दो मँझोले घोड़े और एक रथ ले आया। राजा तो चलने के लिए तैयार ही खड़े थे। उन्होंने एक सेवक, एक छत्रधर और दो चमर ढोलनेवाले—इन चार आदमियों को भी अपने साथ रथ में बैठा लिया। कुब्ज भी अपना बिल्वफल और रत्नपिटारी कमर में बांधे तैयार था। उसने सारथी का स्थान ग्रहण कर ज्योंही घोड़े की बागडोर अपने हाथ में ली, त्योंही वे पंखधारी अश्वों की भांति आकाश में उड़ने और हवा से बातें करने लगे। उसका यह चमत्कार देखकर दधिपर्ण ने अपने दातों तले अंगुली दबा ली।

रथ की गति बहुत तेज होने के कारण बैठनेवालों के शरीर में जोरों की हवा लगती थी। एक बार बड़ी जोर का झोंका लगने से राजा का उत्तरीय वस्त्र उड़कर नीचे गिर पड़ा। यह देखकर राजा ने कुब्ज से कहा—“जरा रथ को रोकिए, मैं अपना वस्त्र उठा लूँ।”

कुब्ज ने हँसकर कहा—“राजन्! यहां आप का वस्त्र कहां? जिस स्थान में आप का वस्त्र गिरा, उस स्थान से हमलोग करीब पचीस योजन दूर निकल आये हैं। यह घोड़े मध्यम हैं। यदि उत्तम होते तो इतनी ही देर में हम लोग पचास योजन दूर निकल गये होते।”

यह सुनकर राजा दधिपर्ण चुप हो गये। यहां से आगे बढ़ने पर उन्हें दूर से बिभीतक नामक एक वृक्ष दिखायी दिया। वह वृक्ष नीचे से ऊपर तक फलों से लदा हुआ था। राजा ने उसे देखकर कुब्ज से कहा—“मुझे एक ऐसी विद्या मालूम है, जिसके सहारे गणना किये बिना ही मैं यह बतला सकता हूँ कि इस वृक्ष में कितने फल लगे हुए हैं। किन्तु लौटती बार मैं तुम्हें यह कौतुक दिखाऊँगा। तुम समस्त फलों को तोड़कर गिन लेना, कि मेरा कहना ठीक है या नहीं!”

कुब्ज ने कहा—“लौटती बार क्यों, इसी समय दिखाइये न? आप समझते होंगे कि इस सारथी को फल तोड़ने में अधिक समय लग जायगा और शायद कुण्डिनपुर पहुँचने में देरी हो जायगी, पर मैं आप से बतला देना चाहता हूँ, कि मैं इन समस्त फलों को एक ही मुट्ठी के प्रहार से गिरा सकता हूँ। इसमें मुझे जरा भी समय न लगेगा।”

राजा ने कहा—“अच्छी बात है, तुम्हारी इच्छा हो तो इसी समय

फलों को गिराकर गिन लो। समूचे वृक्ष में सब मिलाकर पूरे अठारह हजार फल हैं।”

कुब्ज ने अपने कथनानुसार एक ही मुष्टि प्रहार से समस्त फल गिरा दिये। गिराने के बाद उनको गिना, तो वे पूरे अठारह हजार निकले, न एक कम न अधिक। कुब्ज को ये देखकर बड़ा ही विस्मय हुआ। वह राजा दधिपर्ण की इस विद्या पर उसी प्रकार मुग्ध हो गया, जिस प्रकार राजा उसकी अश्व विद्या पर मुग्ध हो गये थे।

राजा ने कहा—“यदि तुम अपनी अश्व विद्या मुझे सिखा दो, तो मैं भी अपनी यह विद्या तुम्हें सिखाने के लिए तैयार हूँ।” इस पर कुब्ज राजी हो गया, फलतः उन दोनों ने अपनी अपनी विद्या का परस्पर परिवर्तन कर लिया।

दधिपर्ण ने सारी रात एक समान गति से यात्रा की। सुबह सूर्योदय के पहले ही उनका रथ कुण्डिनपुर पहुंच गया। कुण्डिनपुर को देखते ही दधिपर्ण के होठों पर हँसी आ गयी। उन्होंने सोचा कि जब यहां तक आने में सफलता मिली है, तब दमयन्ती को वरण करने में भी देव अवश्य ही सफलता प्रदान करेगा।

उधर दमयन्ती ने उसी दिन प्रातः एक शुभ स्वप्न देखा। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो निवृत्ति देवी कोशला, नगरी का उद्यान ले आयी है। उस उद्यान में पुष्प और फल युक्त एक आम्र वृक्ष है। देवी की आज्ञा से वह उस वृक्ष पर चढ़ गयी, यहां देवी ने उसे एक खिला हुआ कमल दिया। इसी समय एक पक्षी, जो पहले ही से उस वृक्ष पर बैठा हुआ था, भूमि पर गिर पड़ा।

यह स्वप्न देखते ही दमयन्ती की आंखे खुल गयीं। उसने अपने पिता से इसका हाल कहा। वे इससे बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—“बेटी! यह स्वप्न बहुत ही अच्छा मालूम होता है, तुमने जो निवृत्ति देवी देखी है, वह तुम्हारी पुण्यराशि है। कोशला का उद्यान तुम्हें ऐश्वर्य दिलाने वाला है। आम्रवृक्ष पर चढ़ना पति समागम सूचित करता है। खिला हुआ कमल तुम्हारा सतीत्व है जो नल के मिलन से शीघ्र ही विकसत होने वाला है। वृक्ष से पक्षी का गिरना कुबेर का पतन सूचित करता है। उसके राज्यभ्रष्ट होने में अब अधिक देर न समझनी चाहिए। यह स्वप्न तुमने प्रभात काल में देखा है,

इसलिए इसका फल तुम्हें अतिशीघ्र और संभवतः आज ही मिलेगा। स्वप्नशास्त्र के अनुसार तुम्हारे स्वप्न का फल यही मालूम होता है।”

थोड़ी ही देर में मंगल नामक एक अनुचर ने राजा भीमरथ को दधिपर्ण के आगमन का समाचार कह सुनाया। राजा भीमरथ यह सुनकर नगर के बाहर गये और बड़े सम्मान के साथ दधिपर्ण को नगर में लेने आये। इसके बाद उन्होंने एक राजभवन में उनको ठहरा कर भोजनादिक द्वारा उनका आतिथ्य सत्कार किया।

राजा दधिपर्ण को भीमरथ के इस स्वागत सत्कार से पूर्ण सन्तोष हुआ, परन्तु उनकी समझ में यह न आता था, कि जिस स्वयंवर के लिए वे इतनी दूर से यहां आये थे, उसकी कोई तैयारी नगर में नहीं दिखायी दे रही थी। वे कहने लगे, शायद स्वयंवर की तिथि लिखने या पढ़ने में भूल हुई होगी। इतने ही में राजा भीमरथ उनके पास आये। दधिपर्ण ने सोचा कि अब इनसे इस विषय में पूछताछ करनी चाहिए। किन्तु परम चतुर राजा भीमरथ, उनका मनोभाव पहले ही कार्य के लिये बुलाया है, उसकी बातचीत हम लोग फिर किसी समय एकान्त में करेंगे। किन्तु इस समय तो मैं एक दूसरे ही कार्य से आपके पास आया हूँ। मैंने सुना है कि आपके साथ जो कुबड़ा आया है, वह सुर्यपाकी है। मैं उसकी इस विद्या का चमत्कार देखना चाहता हूँ। अन्तःपुर में रानी आदि भी इसके लिये परम उत्सुक हैं। क्या आप थोड़ी देर के लिए उसे मेरे साथ भेजने की कृपा करेंगे ?

राजा दधिपर्ण भीमरथ का यह अनुरोध भला कैसे अमान्य कर सकते थे ? उन्होंने उसी समय कुब्ज को भीमरथ के साथ कर दिया। भीमरथ उसे सम्मान पूर्वक अपने महल में ले गये। वहां उन्होंने उसे चावल आदि देकर अपनी अद्भुत विद्या का चमत्कार दिखलाने को कहा। कुब्ज ने, उस सामग्री द्वारा क्षणमात्र में उसी तरह स्वादिष्ट भोजन तैयार कर दिया, जिस प्रकार उसने पहले दधिपर्ण राजा के यहां तैयार किया था। राजा भीमरथ ने सपरिवार उन पदार्थों को चक्खा। दमयन्ती को उन्होंने यह चीजें विशेष रूप से दिखायी, क्योंकि उसीके कहने से उसकी परीक्षा का यह आयोजन किया गया था।

कुब्ज द्वारा बना हुआ वह भोजन चखते ही दमयन्ती ने पिता से कहा—

“अब मुझे पूरा विश्वास और प्रतीति हो गयी है, कि यह पदार्थ मेरे पतिदेव के ही बनाये हुए हैं। ये कुब्ज या वामन किस प्रकार हो गये, वह मैं नहीं कह सकती, किन्तु इनके नल होने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इस सूर्यपाक के अतिरिक्त उनकी एक परीक्षा और भी ऐसी है, जिससे मैं तुरन्त उनको पहचान सकती हूँ। मेरे किसी भी अंग में उनका हाथ या अंगुली स्पर्श होते ही मेरा समूचा शरीर रोमाञ्चित हो उठता है। आप ऐसा प्रबन्ध करिये कि तिलक करने के बहाने वे मेरे ललाट को या मेरे किसी दूसरे अंग को एक अंगुली द्वारा स्पर्श करें। यदि वे नल होंगे, तो मैं उसी समय उन्हें पहचान लूंगी।”

दमयन्ती का यह वचन सुनकर भीमरथ ने उस कुब्ज से पूछा—“भाई, सच कहो, क्या तुम नल हो?”

कुब्ज ने अपने दोनों कानों पर हाथ रखते हुए कहा—“भगवान्! भगवान्! आप यह क्या कहते हैं? देवता स्वरूप वे नल कहाँ और बीभत्स रूप मैं कहाँ? मैं नहीं समझ सकता कि मेरे और उनके रूप में जमीन आसमान का अन्तर होने पर भी आप लोग ऐसा सन्देह क्यों कर रहे हैं?”

भीमरथ ने कहा—“अच्छा भाई, तुम नल नहीं हो तो न सही, हम इसकी परीक्षा आप कर लेंगे! तुम अपनी एक अंगुली से दमयन्ती का कोई अंग स्पर्श कर आओ! बस, फिर तुम्हें हम कोई कष्ट न देंगे।”

कुब्ज वेशधारी नल ने इसके लिए तरह-तरह के बहाने किये, किन्तु किसी तरह भी उनका प्राण न बच सका। उन्हें विवश होकर राजा भीमरथ का यह प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। दमयन्ती के कमरे में जाकर उन्होंने एक अंगुली द्वारा ज्यों ही दमयन्ती का ललाट स्पर्श किया, त्योंही उसका शरीर कदम्बवृक्ष की भांति रोमाञ्चित हो उठा। बस, फिर क्या था, दमयन्ती सारा संकोच छोड़कर उनके चरणों से लिपट गयी। उसने गरम आंसुओं से उनके चरणों को धोते हुए कहा—“नाथ! उस समय तो आप मुझे सोती हुई जंगल में छोड़ आये थे, परन्तु अब आप कहाँ जायँगे? मैंने अपना यह खोया हुआ धन आज बहुत दिनों के बाद पाया है!”

नल के लिए भी अब अधिक समय तक कुब्ज के रूप में रहना कठिन

हो गया। इसकी अब जरूरत भी न थी, इसलिए उन्होंने उस बिल्वफल और पिटारी से वस्त्राभूषण निकालकर धारण कर लिये। उन्हें धारण करते ही वे कुब्ज भिटकर पुनः वही देवता स्वरूप नल दिखने लगे। पतिदेव को प्रकृत रूप में देखकर दमयन्ती के आनन्द का वारापार न रहा। वह प्रेम पूर्वक लता की भांति नल के गले से लिपट गयी। नल के नेत्रों में भी उस समय हर्ष के आंसू आ गये। पति पत्नी का यह मिलन आज बारह वर्ष के बाद हुआ था, इसलिए वह इतना मधुर, इतना प्रेममय और इतना आनन्द पूर्ण था, कि उसका वर्णन करना मनुष्य की शक्ति से परे था।

पत्नी को मिलने भेटने के बाद राजा नल उस कमरे से बाहर निकले। बाहर राजा भीमरथ उनकी राह देखते हुए खड़े थे। कुब्ज के बदले कमरे से उनको निकलते। देखकर उनका हृदय मत्त मयूर की भांति थिरक उठा। उन्होंने दौड़कर नल को गले से लगा लिया। इसके बाद वे प्रेमपूर्वक उन्हें राजसभा में ले गये और वहां उन्हें अपने सिंहासन पर बैठाकर, वे उनका कुशल समाचार पूछने लगे। नल के प्रकट होने का यह समाचार देखते ही देखते बिजली की भांति समूचे नगर में फैल गया।

राजा दधिपर्ण ने भी यह समाचार सुना। इसलिए वे उसी समय राजा भीमरथ की राज सभा में दौड़ आये और नल को प्रणाम कर कहने लगे—“हे नल भूपाल! आप तो मेरे स्वामी हैं। मैं आपका दास होने योग्य भी नहीं हूँ, फिर भी अज्ञानतावश मैंने आपको अपना आश्रित बनाकर रक्खा था। हे देव! मेरा यह अपराध क्षमा कीजिए। मैं इस दुर्व्यवहार के कारण बहुत ही लज्जित हूँ।”

नल ने सिंहासन से उठकर दधिपर्ण को गले लगाते हुए कहा—“राजन्! आप यह क्या कहते हैं? आपने मेरे साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं किया है। मैंने स्वेच्छा पूर्वक आपके यहां आश्रय ग्रहण किया था और मैं शपथ पूर्वक कह सकता हूँ कि आपके यहाँ मुझे घर से भी बढ़कर आराम मिला है। आप अपना विनय दिखाने के लिए चाहे जो कहें, किन्तु मैं तो आपकी इस कृपा के लिए सदा चिरऋणी ही रहूंगा।”

इसी समय सारथ्यपति धनदेव बहुमूल्य भेंट लेकर राजा भीमरथ के दर्शन

करने आया। उसे देख, दमयन्ती ने अपने पिता से उसके उपकारों का हाल कह सुनाया, फलतः राजा भीमरथ ने उसका बड़ा ही सत्कार किया और उसे छाती से लगाकर उसका गौरव बढ़ाया।

अब दमयन्ती के आनन्द का वारापार न था। उसने दीर्घकाल के बाद वह शुभदिन देखा था। ऐसे समय में भला वह उन मनुष्यों को कैसे भूल सकती थी, जिन्होंने विपत्ति के समय उस पर उपकार किया था, या उसे किसी प्रकार का सहारा दिया था। उसने पिता की आज्ञा से दूत भेजकर राजा ऋतुपर्ण, रानी चन्द्रयशा, चन्द्रवती और तापसपुर के स्वामी वसन्त श्रीशेखर को भी कुण्डिनपुर बुलाया और एक मास तक अपने पास रखकर उनका आतिथ्य सत्कार किया।

एक दिन सब लोग राज मन्दिर में बैठे हुए आनन्दपूर्वक बातें कर रहे थे। इसी समय आकाश से उतरकर एक परम तेजस्वी देव वहां आया। उसने दमयन्ती को प्रणाम कर कहा—“हे देवि! मैं पूर्वजन्म में विमलमति नामक तापसपति था और आपही के आदेश से मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ था। मृत्यु होने पर मैं सौधर्म देवलोक के केसर नामक विमान में केसर नामक देव हुआ। मैं मिथ्यादृष्टि, किन्तु आप ही के उद्योग से मुझे जैन धर्म से अनुराग उत्पन्न हुआ था। यदि उस समय मुझे आप का उपदेश न मिला होता तो मैं सुर सम्पत्ति का भोक्ता कदापि न होता। आज इसी कारण से मैं आप के निकट कृतज्ञता प्रकट करने आया हूँ। इतना कहने के बाद वह देव वहां पर सुवर्ण की वृष्टि कर अन्तर्धान हो गया।

इसके बाद भीमरथ, दधिपर्ण, ऋतुपर्ण, वसन्त श्रीशेखर तथा अन्यान्य राजाओं ने नल का राज्याभिषेक कर कई दिनों तक महोत्सव मनाया। महोत्सव पूर्ण होने पर सब राजाओं ने सलाह कर निश्चित किया अब जिस तरह हो, कुबेर से राज्य वापस लेना चाहिए! निदान नल के अदेशानुसार सब राजाओं ने अपनी अपनी सेना एकत्र की। जब समस्त सेना एक स्थान में एकत्र हुई तो ऐसा मालूम होने लगा, मानो सैनिकों का महासागर उमड़ पड़ा है। ऐसी सेना को देखकर परम प्रतापी राजा नल का साहस सौगुना बढ़ गया। शुभ मुहूर्त में कुबेर से अपनी राज्य लक्ष्मी वापस लेने के लिए नल ने इस सेना के

साथ अयोध्यापुरी की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचने पर रतिवल्लभ नामक उपवन में तंबू डेरें खड़े कर वे अपना कर्तव्य स्थिर करने लगे।

इधर नल के आगमन का समाचार सुनकर कुबेर के प्राण सूख गये। उसमें अब नल से युद्ध करने की शक्ति न थी। इसीलिए वह विशेष रूप से चिन्तित हो उठा। इसी समय नल ने उसके पास एक दूत भेजकर कहला भेजा कि मैं अपना राज्य वापस लेना चाहता हूँ। यद्यपि मैं युद्ध की तैयारी करके यहां आया हूँ, किन्तु तुम ने मेरा राज्य जुएँ द्वारा प्राप्त किया था, इसलिए मैं जुएँ द्वारा भी उसे वापस लेना बुरा नहीं समझता। तुम अपनी इच्छानुसार द्यूत या रण दो में से एक का निमन्त्रण स्वीकार कर सकते हो।”

इस सन्देश से कुबेर की व्याकुलता दूर हो गयी, उसे जो पसन्द था, वही नल ने कहला भेजा था। द्यूत क्रीड़ा में वह परम निपुण था और उसे विश्वास था कि संसार में कोई भी उसे जीत नहीं सकता। जबसे उसने नल का राज्य जीत लिया था, तब से उसकी हिम्मत और भी बढ़ गयी थी। उसने जुएँ का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वह समझता था कि इस बार भी विजय होगी, परन्तु यह तो भाग्य का खेल था। उस समय कुबेर का सितारा बुलन्द था, इस समय नल का। जब भाग्यलक्ष्मी प्रसन्न होती है, तब मनुष्य को अनायास सफलता मिलने लगती है। उस समय यदि वह मिट्टी छू लेता है, तो वह भी सोना बन जाता है। पहले जिस प्रकार कुबेर ने नल का राज्य जीत लिया था, उसी प्रकार नल ने इस बार कुबेर से सारा राज्य जीत लिया।

परन्तु सज्जन और दुर्जन में बड़ा ही अन्तर होता है। नादान दोस्त से दानी दुश्मन भी भला कहा गया है। कुबेर हृदयहीन मनुष्य था और नल परम दयालु थे। कुबेर ने उनके साथ जो दुर्व्यवहार किया था, उसे वे भूल गये। उन्होंने फिर यही समझा कि यह मेरा छोटा भाई है। इसीलिए उन्होंने पुनः उसे युवराज बना दिया।

राज्य वापस मिलने पर नल ने दमयन्ती के साथ आनन्दपूर्वक नगर प्रवेश कर सबसे पहले कोशलापुरी के समस्त चैत्यों को वन्दन किया। इसके बाद महोत्सव आरम्भ हुआ और नल का पुनः राज्याभिषेक किया गया। इस समय अर्ध भरत के सोलह हजार राजा नाना प्रकार की मंगल भेंट लेकर उनकी

सेवा में उपस्थित हुए। उन सबने नल की अधीनता स्वीकार की और नल ने उनका आदर सत्कार कर उन्हें अनेक प्रकार से सम्मानित किया। इसके बाद नल ने निर्भय हो, हजारों वर्ष तक अर्धभरत पर राज्य किया।

अन्त में एक दिन दिव्यरूपधारी निषधदेव अपने पुत्र नल के पास आकर कहने लगे—“हे वत्स! इस भवारण्य में आत्मा का विवेक रूपी समस्त धन विषय रूपी चोर लूट रहे हैं। यदि तुम उसकी रक्षा न करोगे, तो तुम्हारा पुरुषार्थ फिर किस काम आयगा? मैंने तुमसे कहा था कि जब दीक्षा लेने का समय आयगा, तब मैं तुम्हें सूचित करूंगा। इसीलिए आज मैं तुम्हारे पास आया हूँ। वह समय आ गया है। अब तुम्हें दीक्षा ग्रहण कर आत्म कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए।

इतना कह निषधदेव अन्तर्धान हो गये। संयोगवश उसी समय जिनसेन नामक एक अवधिज्ञानी आचार्य का आगमन हुआ। उन्हें देख, नल और दमयन्ती उसी समय उनके पास गये और उन्हें वन्दन करने के बाद उनसे अपने पूर्वजन्म का हाल पूछने लगे। इस पर जिनसेन ने कहा—“हे राजन्! पूर्वजन्म में साधु को क्षीर दान देने से तुम्हें राज्य प्राप्त हुआ है, किन्तु क्रोध के कारण तुमने बारह घड़ी के लिए मुनि को उनके संगियों से अलग कर दिया था, इसलिए तुम्हें बारह वर्ष का वियोग सहन करना पड़ा है।”

इधर नल को यह बात तो मालूम हो ही चुकी थी, कि उनके दीक्षा लेने का समय समीप आ गया है, इसलिए अब उन्होंने अपने पुष्कल नामक पुत्र को राज्य देकर आचार्य जिनसेन के निकट दीक्षा ले ली। दमयन्ती ने भी उनका अनुसरण किया। नल ने दीक्षा लेने के बाद दीर्घकाल तक साधना की, किन्तु विषयों पर विजय प्राप्त करना कोई सहज काम नहीं है। एक बार उन के मन में विकार उत्पन्न हो जाने के कारण उनका चित्त दमयन्ती की ओर चला गया। आचार्य को यह बात मालूम हो जाने पर उन्होंने नल का त्यागकर दिया।

इससे नल बड़े असमंजस में पड़ गये, किन्तु नल की यह अवस्था देखकर उसी समय उनके पिता ने देवलोक से आकर उनको ऐसा उपदेश दिया कि वह सदा के लिए उनके हृदय पट पर अंकित हो गया। उनके हृदय में

जो विचार उत्पन्न हुआ था, वह भी इस उपदेश के प्रभाव से ठीक उसी प्रकार गायब हो गया, जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अन्धकार गायब हो जाता है।

नल अपने पिता के उपदेश से यद्यपि ठीक रास्ते पर आ गये, किन्तु फिर भी उन्हें ऐसा मालूम हुआ मानो वे व्रतपालन में असमर्थ हैं। इसलिये उन्होंने अनशन आरम्भ किया और उस में अनुराग होने के कारण दमयन्ती ने भी उन्हीं का अनुसरण किया—यानी उसने भी अनशन किया। इसी अनशन के फलस्वरूप उन दोनों की मृत्यु हो गयी और वे स्वर्गीय सुख के अधिकारी हुए।” अस्तु!

वसुदेव को यह अद्भुत वृत्तान्त सुनाकर कुबेर ने कहा—“हे यदुकुल भूषण! मृत्यु के बाद वही नल मैं कुबेर के रूप में उत्पन्न हुआ और दमयन्ती भी मेरी स्त्री हुई। वही वहां से च्युत होकर अब कनकवती के रूप में उत्पन्न हुई है। पूर्व जन्म की पत्नी होने के कारण इस पर मुझे मोह उत्पन्न हुआ था और इसीलिए मैं इसे देखने को यहां आया था। हे वसुदेव! इस तरह का मोह सौ जन्म तक पीछा नहीं छोड़ता। मुझे यह देखकर परम सन्तोष हुआ, कि कनकवती को तुमने पत्नी रूप में प्राप्त किया है। मैं तुमसे यह भी बतला देना चाहता हूं कि यह कनकवती इसी जन्म में अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करेगी। यह बात मुझे भी विमलस्वामी तीर्थंकर ने उस समय बतलायी थी, जिस समय मैं इन्द्र के साथ महाविदेह में उन्हें वन्दन करने गया था।”

इस प्रकार कनकवती के पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाकर कुबेर तो अन्तर्धान हो गये और वसुदेव उसके साथ ब्याह कर आनन्दपूर्वक अपने दिन निर्गमन करने लगे।



नवाँ परिच्छेद रोहिणी का पाणिग्रहण



एक दिन वसुदेव कुमार घोर मित्रा में पड़े हुए थे। इसी समय सूर्पक विद्याधर उन्हें हरण कर ले गया। ज्योंही वसुदेव को यह मालूम हुआ त्योंही उन्होंने उसे एक ऐसा मुक्का जमाया, कि उसने उसी समय छटपटा कर छोड़ दिया। इससे वसुदेव गोदावरी नदी में जा गिरे, वसुदेव उस नदी को पार कर कोल्लपुर नगर में गये। वहां पर राजकुमारी पद्मश्री के साथ उनका विवाह हो गया। परन्तु उस स्थान से भी उन्हें नीलकंठ विद्याधर हरण कर ले गया वसुदेव उसे भी मुक्का जमाकर उसके हाथ से छूट गये। इस बार वे चम्पानगरी के एक सरोवर में जा गिरे। उससे निकल कर वे चम्पापुरी में गये और वहां पर उन्होंने राजमन्त्री की कन्या से विवाह किया। परन्तु वहां से फिर उन्हें सूर्पक उठा ले गया। इस बार उसके हाथ से छुटकारा मिलने पर वे गंगानदी में जा गिरे। गंगा से निकल कर वे मुसाफिरों के साथ घूमते घामते किसी पल्ली में पहुँच गये। वहां पल्लीपति की जरा नामक पुत्री से उन्होंने विवाह किया, जिसके उदर से उन्हें जराकुमार नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसके बाद यत्र तत्र विचरण करते समय वसुदेव ने अवन्तिसुन्दरी, नरद्वेषिणी, सूरसेना और जीवयशा आदिक हजारों कन्याओं से विवाह किया।

एक बार वसुदेव से सुना कि अरिष्टपुर में रुधिर राजा की रोहिणी नामक कन्या का स्वयंवर होने वाला है, इसलिए उन्होंने उस स्वयंवर के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में उन्हें एक देव मिला। उसने वसुदेव से कहा—“रोहिणी से तुम्हारा विवाह अवश्य होगा, परन्तु स्वयंवर में सफलता प्राप्त करने के लिए

तुम्हें पटह बजाना होगा। उस पटह की ध्वनी सुनते ही राजकन्या तुम्हें जयमाला पहना देगी।”

देव की यह शिक्षा हृदय में धारण कर वसुदेव अरिष्टपुर पहुँचे। वहाँ पर स्वयंवर मण्डप में राजाओं के बीच में न बैठकर वे पहले से ही वेश बदलकर बाजेवालों के बीच में जा छिपे। यथासमय साक्षात् रोहिणी के समान रोहिणी ने मण्डप में पदार्पण किया। उसे देखते ही जरासंध आदि समस्त राजा उस पर मुग्ध हो गये और विविध चेष्टा द्वारा उसका हृदय अपनी ओर आकर्षित करने का उद्योग करने लगे। इधर राजा की आज्ञा मिलते ही रोहिणी की प्रधान परिचारिका ने स्वयंवर में उपस्थित समस्त राजा और राजकुमारों का उसे परिचय दिया, किन्तु उसने किसी को भी पसन्द न किया।

राजकुमारी जब धूमती घामती बाजेवालों की ओर पहुँची, तब वसुदेव उसे लक्ष्यकर पटह बजाने लगे। उन्होंने उस पटह की ही आवाज में कहा— “हे मृगाक्षी! तुम हरिणी की भाँति चारों ओर क्या देख रही हो? तुम इधर आओ और देखो कि अपने हृदयमन्दिर में तुम्हारी प्रतिमा स्थापित करने के लिए मैं किस प्रकार तैयार बैठा हूँ।” यह शब्द सुनते ही रोहिणी वसुदेव की ओर मुड़ी और उसी क्षण उसने वसुदेव को जयमाला पहना दी।

वसुदेव के गले में जयमाला पड़ते ही चारों ओर हाहाकार मच गया। कुछ लोग वसुदेव को मारने के लिए दौड़ पड़े और कुछ लोग राजकन्या की यह पसन्दागी देखकर उसकी दिल्लीग उड़ाने लगे। इन राजाओं में कोशला नगरी का दन्तवक्र नामक एक राजा भी था। वह बहुत ही नीच प्रकृति का था। इसलिए उसने जोर जोर से पुकार कर रुधिर राजा से कहा— “यदि इस कन्या का विवाह तुम्हें पटह बजाने वाले से करना था, तो फिर तुमने इन कुलीन राजाओं को क्यों बुलाया था? कन्या अपनी अज्ञानता के कारण बाजेवाले से ब्याह कर सकती है, परन्तु उसके पिता को इसकी उपेक्षा कदापि न करनी चाहिए। बाल्यावस्था में बच्चों की शिक्षा दीक्षा का भार माता पिता के ही सिर रहता है, इसलिए इस जिम्मेदारी से वे अपने को अलग नहीं कर सकते!”

रुधिरराज ने कहा— “हे कोशलेश्वर! तुम्हारे इन वचनों से मैं कन्या के स्वयंवर में बाधक नहीं बन सकता। स्वयंवर में तो कन्या जिसे पसन्द करे,

वही उसका वर होता है। यही स्वयंवर का सिद्धान्त है, जो हमारे यहां अनादि काल से चला आ रहा है।”

यह सुनकर विदुर नामक एक न्यायी राजा ने कहा—“रुधिरराज! आपका कहना ठीक है, परन्तु वर से उसका कुलादिक पूछना तो जरूरी है।”

वसुदेव बीच ही में बोल उठे कि इस समय कुल बतलाने की जरूरत नहीं है। मैं चाहे जो, और चाहे जैसा होऊँ, किन्तु इस समय सब लोगों को तो केवल यही देखना चाहिये, कि कन्या ने मुझे पसन्द किया है या नहीं? अब यह मेरी स्त्री है और इस पर मेरा पूर्ण अधिकार है। यदि कोई इसका हरण करेगा तो मैं अपना भुजबल दिखाकर उसे अपने कुल का परिचय दूँगा।”

वसुदेव के यह धृष्टतापूर्ण वचन सुनकर जरासन्ध आग बबूला हो उठा। उसने समुद्रविजय आदिक राजाओं से कहा—“इस अधम रुधिरराज ने स्वयंवर के बहाने हम लोगों को यहां बुलाकर हमारा घोर अपमान किया है, इसलिए सबसे पहले इसी को दण्ड देना चाहिए। हमारा दूसरा शत्रु यह पटह बजाने वाला है। राजकन्या को पाकर इसे भी इतना गर्व हो गया है, कि हम लोगों को भला बुरा कहने में भी इसे संकोच नहीं होता। इसलिए अब इन दोनों को इसी समय मार डालना चाहिए।”

जरासन्ध के यह वचन सुनते ही समुद्रविजय आदिक राजा शुद्ध करने के लिये तैयार हो गये। वसुदेव भी असावधान न थे। दधिमुख विद्याधर उनके लिए रथ लेकर तैयार ही खड़ा था। वेगवती की माता अंगारवती ने उनको जो धनुष और भाले दिये थे, उन्हें लेकर वे इसी रथ पर बैठ गये, रुधिरराज की सेना बहुत बड़ी न थी, किन्तु वह भी विपक्षियों से युद्ध करने के लिए तैयार हो गयी। देखते ही देखते दोनों दल एक दूसरे से भिड़ गये और वह रमणीय स्थान भयानक समरस्थली के रूप में परिणत हो गया।

रुधिरराज की सेना बहुत ही निर्बल थी, इसलिए जरासन्ध आदि ने पहले ही आक्रमण में उसे काट छांट डाला, किन्तु इसके बाद वसुदेव सम्हल गये और प्रत्येक राजा को चुन चुन कर मारने लगे। सबसे पहले उन्होंने अपना हाथ शत्रुञ्जय राजा पर साफ किया। इसके बाद वे दन्तवक्र को ले बीते। उसके बाद शल्यराज उनके सामने आया उसकी भी वसुदेव ने वही गति की

जो शत्रुंजय और दन्त वक्र की थी। ज्योंही यह तीनों राजा मारे गये, त्योंही मैदान साफ हो गया। अब वसुदेव के सामने आने की किसी की हिम्मत न रही।

वसुदेव के इस पराक्रम से चकित होकर जरासन्ध ने समुद्र विजय से कहा—“हम लोगों ने इसे बाजावाला समझ कर बड़ी भूल की है। पहले तो हम सब राजा बड़ी बड़ी बातें बनाते थे, परन्तु अब इसके सामने आने का किसी को साहस ही नहीं पड़ता है। हे समुद्रविजय! अब तुम्हीं एक ऐसे वीर हो जो इसका मान मर्दन कर सकते हो। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि इसे पराजित करने पर रोहिणी तुम्हारी ही होगी।”

समुद्रविजय ने कहा—“राजन्! मुझे परस्त्री की आवश्यकता नहीं है। किन्तु आपके आदेशानुसार मैं इस प्रबल शत्रु से युद्ध करने के लिए तैयार हूँ।”

इतना कह समुद्रविजय अपने बन्धु वसुदेव के साथ युद्ध करने लगे। उन दोनों में दीर्घकाल तक युद्ध होता रहा, किन्तु कोई किसी को पराजित न कर सका। वसुदेव का पराक्रम देखकर समुद्रविजय भी मन ही मन संकोच कर गये। इसी समय वसुदेव ने एक अक्षर बाण छोड़ा, जो समुद्रविजय के चरणों पर जा गिरा। समुद्रविजय ने उसे उठाकर पढ़ा। उसमें लिखा था कि—“मैं आपका भाई वसुदेव, जो कपट पूर्वक गायब हो गया था, आपको प्रणाम करता हूँ।”

बाण का यह लेख पढ़ते ही समुद्रविजय ने अपने शस्त्र जमीन पर फेंक दिये। ओह! मैं अपने भाई से ही युद्ध कर रहा हूँ? यह सोचते और हे वत्स! हे वत्स! कहते हुए वे वसुदेव को गले लगाने के लिये दौड़ पड़े। उनको अपनी ओर आते देखकर वसुदेव भी रथ से उतरकर उनकी ओर आगे बढ़े। मार्ग में दोनों भाइयों की भेट हो गयी। वसुदेव समुद्रविजय के चरणों पर गिर पड़े और समुद्रविजय ने उनको उठाकर हृदय से लगा लिया। रणभूमि में दोनों भाइयों का यह मिलन एक अद्भूत दृश्य स्थापित कर रहा था। जिसने इस दृश्य को देखा, उसीका नेत्र, और तन मन तृप्त हो गया।

शान्त होने पर समुद्रविजय ने वसुदेव से पूछा—“हे भाई! तुम्हें अपना

नगर छोड़े सौ वर्ष हो गये? इतने समय तक तुम कहां रहे और क्या करते रहे।”

इस प्रश्न के उत्तर में वसुदेव ने छोड़ने के समय से लेकर अब तक का सारा हाल उन्हें कह सुनाया। उसे सुनकर समुद्रविजय के साथ ही रुधिरराज को भी बड़ा ही आनन्द हुआ। वे अपने मनमें कहने लगे कि मेरी कन्या ने योग्य पुरुष को ही पसन्द किया है। मणि और काश्चन का यह मेल मिलाने के लिए उन्होंने विधाता को भी बहुत धन्यवाद दिया। जरासन्ध को जब मालूम हुआ कि वसुदेव उनके सामन्त समुद्रविजय का छोटा भाई है, तब उनका क्रोध भी हवा हो गया। इस प्रकार थोड़ी देर पहले जहां मार काट और शत्रुता की बातें हो रही थीं, वहां अब शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया। इसके बाद रुधिरराज ने, सभी राजाओं के समक्ष शुभ मुहूर्त में बड़े समारोह के साथ वसुदेव और रोहिणी का विवाह कर दिया। विवाहोत्सव पूर्ण होने पर जरासन्ध आदि राजा अपने अपने स्थान को वापस चले गये, किन्तु रुधिरराज के अनुरोध से कंस समेत समस्त यादव एक वर्ष के लिए वहीं ठहर गये और रुधिरराज का आतिथ्य ग्रहण करते रहे।

एक बार वसुदेव ने रोहिणी से एकान्त में पूछा—“हे सुन्दरी! स्वयंवर के समय “सभा में एक से एक बढ़कर राजे महाराजे उपस्थित थे, किन्तु उनको पसन्द न कर तुमने मुझे क्यों पसन्द किया। मैं तो उस समय एक साधारण पटहवादक के सिवा और कुछ भी न था?”

रोहिणी ने कहा—“हे नाथ! मैंने उस वेश में भी आपको पहचान लिया था। बात यह थी कि मैं प्रज्ञप्ति विद्या की सदा पूजा करती थी। उसने मुझे बतलाया था कि तेरा पति दसवां दशार्ह होगा। स्वयंवर में वह पटह—वाद्य बजायगा और यही उसकी पहचान होगी इसीसे मैंने आपको पहचान लिया था।”

एक दिन राजा समुद्रविजय आदि रुधिरराज की सभा में बैठे हुए थे। उस समय वसुदेव कुमार भी वहीं पर उपस्थित थे, उसी समय एक प्रौढ़ा स्त्री आकाश से उतरकर वहां आयी। और उसने वसुदेव से कहा—“हे कुमार! मेरा नाम धनवती है। मेरे बालचन्द्रा और वेगवती नामक दो कन्याएं हैं। इनमें

से बालचन्द्रा आपसे विवाह करने के लिये लालायित हैं वह दिन में न खाती है, न रात को ही उसे निद्रा आती हैं। यदि आप मेरे साथ न चलेंगे, तो आपकी वियोगाग्नि में वह अपने प्राण त्याग देगी।”

वसुदेव ने गुरुजनों के सामने उसकी इन बातों का कोई उत्तर न देकर, समुद्रविजय की ओर देखा, समुद्रविजय ने कहा—“हे भाई! यह शुभ कार्य है, इसलिए मैं तुम्हें सहर्ष जाने की आज्ञा देता हूँ। किन्तु पहले की तरह वहाँ अधिक समय न बिता देना!”

बड़े भाई की आज्ञा मिल जाने पर वसुदेव उन्हें प्रणाम कर धनवती के साथ आकाशगामी वाहन द्वारा गगनवल्लभ नगर में जा पहुँचें। वहाँ पर बालचन्द्रा के पिता काश्चनदंष्ट्र ने, जो विद्याधरों के राजा थे, उनका बड़ा सत्कार किया और शुभ मुहूर्त में बड़ी धाम धूम के साथ उनसे बालचन्द्रा का विवाह कर दिया।

राजा समुद्रविजय इस बीच रुधिरराज से बिदा ग्रहण कर कंसादिक के साथ अपने नगर को चले गये थे। वहाँ से प्रतिदिन वसुदेव की प्रतीक्षा करते थे। इधर वसुदेव ने शीघ्र ही काश्चनराष्ट्र से बीदा ग्रहण कर बालचन्द्रा के साथ अपने नगर के लिए प्रस्थान किया। इसी समय उन्होंने अपनी उन सब स्त्रियों को भी अपने साथ ले लिया, जिनसे उन्होंने पहले ब्याह किया था। इस समय अनेक विद्याधर और उनके साले आदिक सम्बन्धी भी उनके साथ हो गये। वसुदेव इन सबके साथ जिस समय विमलमणि विमान में बैठकर शौर्यपुर पहुँचे, उस समय उनका आनन्द हृदय में न समाता था। राजा समुद्रविजय और समस्त नगर निवासी बड़े आदर के साथ उन्हें नगर में ले गये। वहाँ वसुदेव परिवार के साथ आनन्दपूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगे।



दसवाँ परिच्छेद

कृष्ण वासुदेव और बलभद्र का जन्म

३६३

हस्तिनापुर नगर में एक महामति नामक सेठ रहता था। उसे ललित नामक एक पुत्र था, जो माता को बहुत ही प्रिय था। एक बार सेठानी ने ऐसा गर्भ धारण किया, जो बहुत ही बुरा और सन्तापदायक था। सेठानी ने उस गर्भ को गिराने के लिए अनेक उपाय किये, किन्तु कोई फल न हुआ। यथासमय उसने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया, परन्तु जन्म होते ही उसने उसे कहीं फेंक देने के लिये एक दासी को सुपुर्द कर दिया।

दासी को क्या, वह उसी समय उस बालक को लेकर वहां से चल पड़ी, परन्तु मकान से बाहर निकलते ही उसका पिता सामने मिल गया। दासी के हाथ में जीवित बालक को देखकर उसने उसके सम्बन्ध में पूछताछ की, तो दासी ने उससे सारा हाल बतला दिया। बालक को देखकर सेठ का पितृ हृदय द्रवित हो उठा, इसलिए उसने दासी के हाथ से उसे ले लिया। इसके बाद गुप्त रूप से दूसरे मकान में ले जाकर उसने उसे बड़ा किया और उसका नाम गंगदत्त रक्खा।

ललित को अपने इस भाई का हाल मालूम था, इसलिए वह भी कभी कभी उस मकान में जाकर उसे खेलाया करता था। एक दिन वसन्तोत्सव के समय उसने अपने पिता से कहा—“हे पिताजी! वसन्तोत्सव के दिन गंगदत्त भी हम लोगों के साथ भोजन करे तो बड़ा ही अच्छा हो।” पिता ने कहा—“हां, अच्छा तो है, किन्तु तुम्हारी माता उसे देख लेगी तो बड़ा ही अनर्थ कर डालेगी।” ललित ने कहा—“अच्छा, मैं ऐसा प्रबन्ध करूंगा, जिससे

माताजी उसे देख न सकेंगी।”

पुत्र की यह बात सुनकर पिता ने उसे इस कार्य के लिए अनुमति दे दी। भोजन का समय होने पर ललित ने गंगदत्त को एक पर्दे के पीछे बैठा दिया और खुद पिता पुत्र उसके बाहर बैठकर भोजन करने लगे। भोजन करते समय बीच बीच में वे अपनी थाली से खाने की चीजें उठा उठाकर चुपचाप गंगदत्त को भी देते जाते थे। इतने ही में अचानक हवा से पर्दा उड़ा तो गंगदत्त पर उसकी माता की दृष्टि पड़ गयी। उसे देखते ही उसके बदन में मानो आग सी लग गयी। उसने गंगदत्त के केश पकड़कर उसे खूब मारने के बाद घर से बाहर निकालकर वह उसे एक मोरी में ढकेल आयी।

महामति सेठ और ललित को इससे बड़ा ही दुःख हुआ। उन्होंने चुपचाप उसे मोरी से निकालकर नहलाया धुलाया और अनेक प्रकार से उसे सान्त्वना दी, इसके बाद वे फिर उसे उसी मकान में चुपचाप रख आये।

इस घटना के कुछ दिन बाद वहां पर कई साधुओं का आगमन हुआ। सेठ ने उनका आदर सत्कार कर, उनसे गंगदत्त और उसकी माता का हाल निवेदन करके पूछा—“हे भगवन्! गंगदत्त की माता इससे इतना वैर क्यों रखती है?”

इस प्रश्न से उत्तर में एक साधु ने कहा—“ललित और गंगदत्त पूर्वजन्म में स्ने भाई थे। ललित बड़ा और गंगदत्त छोटा था एक बार वे दोनों गाड़ी लेकर जंगल में काष्ठ लेने गये।

वहां से गाड़ी में काष्ठ भरकर जब वे लौटे, तो मार्ग में एक स्थान पर बड़े भाई को एक नागिन दिखलायी दी, उस समय छोटा भाई गाड़ी हांक रहा था। इसलिए बड़े भाई ने उसे पुकार कर उसका ध्यान उस नागिन की ओर आकर्षित किया और उसे बचा देने को कहा। यह सुनकर नागिन बहुत ही प्रसन्न हुई और उसे उन दोनों पर विश्वास जम गया परन्तु छोटा भाई कुटिल प्रकृति का था, इसलिए उसने उसके ऊपर से गाड़ी निकाल दी। इससे वह नागिन वहीं कुचल कर मर गयी। इस जन्म में वही नागिन तुम्हारी स्त्री हुई है वह बड़ा भाई, जिसने उस जन्म में उसकी रक्षा की थी, इस जन्म में ललित हुआ और वह अपनी माता के अत्यन्त प्यारा है। छोटा भाई गंगदत्त हुआ है।

उसने उस जन्म में नागिन का प्राण लिया था, इसलिये इस जन्म में उसकी माता उससे वैर रखती है। इस प्रकार हे सेठ! स्नेह और वैर पूर्वजन्म के कर्मों से उत्पन्न होते हैं, अकारण नहीं।

साधु के यह वचन सुनकर सेठ और ललित को बड़ा ही दुःख हुआ। उन्हें इस संसार की विचित्रता देखकर वैराग्य आ गया और उन दोनों ने उसी समय दीक्षा ले ली। मृत्यु के बाद वे दोनों महाशुक्र देवलोक में गये और वहां पर स्वर्गीय सुख उपभोग करने लगे, इधर गंगदत्त ने भी माता की अनिष्टता का स्मरण कर विश्ववल्लभ होने का निदान किया। मृत्यु होने पर वह भी उसी महाशुक्र देवलोक का अधिकारी हुआ।

ललित का जीव देवलोक से च्युत होने पर वसुदेव की पत्नी रोहिणी के उदर से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। जिस दिन वह रोहिणी के गर्भ में आया, उस दिन पिछली रात में रोहिणी ने एक स्वप्न देखा था, जिसमें उसे ऐसा मालूम हुआ था, मानो गज, सिंह, चन्द्र और समुद्र ये चारों उसके मुख में प्रवेश कर रहे हैं। यह स्वप्न बहुत अच्छा और पुत्र जन्म का सूचक था। इसलिए गर्भकाल पूर्ण होने पर रोहिणी ने सचमुच चन्द्र के समान एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। पश्चात् मागध आदि ने बड़ी धूमधाम से उसका जन्मोत्सव मनाया। वह बालक सबको प्यारा मालूम होता था, इसलिए वसुदेव ने उसका नाम राम रक्खा। यह राम आगे चलकर बलराम और बलभद्र के नाम से विख्यात हुआ। जब वह कुछ बड़ा हुआ तो वसुदेव ने उसकी शिक्षा दीक्षा के लिए एक आचार्य नियुक्त कर दिया। राम ने उसके निकट रहकर थोड़े ही दिनों में समस्त विद्याओं तथा कलाओं में पारदर्शिता प्राप्त कर ली।

एकदिन राजा समुद्रविजय अपनी राज सभा में बैठे हुए थे। उस समय वसुदेव और कंस आदि भी वहीं पर उपस्थित थे। इतने ही में वहां नारदमुनि आ पहुँचे। उनको देखकर राजा तथा समस्त सभा खड़ी हो गयी। राजा ने उनको ऊंचे आसन पर बैठा कर पूजनादि द्वारा उनका बड़ा ही सत्कार किया। इससे नारदमुनि बहुत ही प्रसन्न हुए और राजा को आशीर्वाद दे वहां से अन्यत्र प्रस्थान कर दिये।

नारदमुनि का यह आदर सत्कार देखकर कंस को बड़ा ही आश्चर्य हुआ

और उसने उनके चले जाने पर समुद्रविजय से उनका परिचय पूछा। समुद्रविजय ने कहा—“प्राचीनकाल में इस नगर के बाहर यज्ञयशा नामक एक तापस रहता था। उसके यज्ञदत्ता नामक एक भार्या और सुमित्र नामक एक पुत्र भी था। सुमित्र की पत्नी का नाम सोमयशा था। जृम्भक देवताओं में से कोई देवता च्युत होकर उसी के उदर से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ और उसी का नाम नारद पड़ा।

जिन तापसों के यहां नारद का जन्म हुआ था, वे एक प्रकार का व्रत किया करते थे। उस व्रत की विधि यह थी कि एकदिन उपवास करना और दूसरे दिन जंगल में जाकर फलों द्वारा पारणा करना। एक दिन वे लोग नारद को एक अशोक वृक्ष के नीचे बैठा कर पारणे के लिए फल लेने चले गये। इसी समय उधर से जृम्भक देवता आ निकले और उस सुन्दर बालक को अशोक वृक्ष के नीचे अकेला देखकर उसके पास खड़े हो गये। इसके बाद अवधिज्ञान से उन्हें जब यह मालूम हुआ कि पूर्व जन्म में वह भी जृम्भक देवता और उनका एक मित्र था, तब उन्होंने उस वृक्ष की छाया को स्थिर बना दिया, जिससे उस पर धूप न आ सके।

इतना कर जृम्भक देवता उस समय तो अपने काम में चले गये, किन्तु काम निपटाकर जब वे उधर फिर लौटे तो उस समय भी उस बालक को उन्होंने उसी स्थान में पाया स्नेहवश वे इस बार उसे वैताढेय पर्वत पर उठा ले गये। वहां पर एक गुफा में उन्होंने उसे पाल पोसकर बड़ा किया। जब उसकी अवस्था आठ वर्ष की हुई, तब उन्होंने उसे प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं की शिक्षा दी। इसके बाद वही बालक बड़ा होने पर नारदमुनि के नाम से विख्यात हुआ। नारदमुनि अपनी विद्याओं के बल आकाश में विचरण करते हैं। वे इस अवसर्पिणी में नर्वे नारद और चरम शरीरी है। नारद की उत्पत्ति का यह हाल मुझे त्रिकालज्ञानी सुप्रतिष्ठ मुनि ने बतलाया था। नारद मुनि स्वभाव से कलह प्रिय हैं। यदि कोई उनकी अवज्ञा करता है, तो वे रुष्ट हो जाते हैं। शायद इसी कारण से उनकी सर्वत्र पूजा होती है। उनकी एक विशेषता यह भी है कि वे कहीं भी एक स्थान में स्थिर नहीं रहते। नारद की बाल्यावस्था में जृम्भक देवताओं ने जिस अशोक की छाया स्थिर कर दी थी, उस समय से पृथ्वीपर

छायावृक्ष के नाम से सम्बोधित किया जाता है। “यह वृत्तान्त सुनकर कंस चकित हो गया।

तदनन्तर समुद्रविजय के यहां कुछ काल रहने के बाद कंस अपनी राजधानी मथुरा नगरी को चला गया था। एक बार उसने वहां से वसुदेव को मथुरा आने के लिए निमन्त्रित किया। इसलिए वसुदेव समुद्रविजय की आज्ञा प्राप्त कर वहां गये। कंस और उसकी पत्नी जीवयशा ने उनका बड़ा ही आदर सत्कार किया। इसके बाद एकदिन मौका देखकर कंस ने कहा—“हे मित्र! मृत्तिकावती नामक नगरी में मेरे काका देवक राज करते हैं। उनके देवकी नामक एक कन्या है। आप उससे विवाह कर लीजिए। मैं आप का अनुचर हूँ, इसलिए मुझे विश्वास है कि आप मेरी यह प्रार्थना अमान्य न करेंगे।”

वसुदेव ने कंस की प्रार्थना स्वीकार कर ली, इसलिए उनको अपने साथ लेकर कंस ने मृत्तिकावती नगरी के लिए प्रस्थान किया। संयोगवश मार्ग में नारद मुनि मिल गये। उन्होंने उनसे पूछा—“तुम दोनों जन कहां जा रहे हो?”

वसुदेव ने कहा—“कंस की इच्छानुसार मैं देवक राजा की देवकी नामक कन्या से विवाह करने जा रहा हूँ।”

नारद ने कहा—“कंस ने इस काम में मध्यस्थ बनकर बहुत ही उत्तम कार्य किया है। हे वसुदेव! जिस प्रकार पुरुषों में तुम सर्वश्रेष्ठ हो, उसी प्रकार स्त्रियों में देवकी शिरमौर है। मालूम होता है, कि विधाता ने यह अद्भुत जोड़ मिलाने के लिए ही तुम दोनों को उत्पन्न किया था। यदि तुम देवकी से विवाह कर लोगे, तो उसके सामने तुम्हें विद्याधरियां भी तुच्छ मालूम होने लगेगी। इस विवाह में कोई विघ्न बाधा न हो, इसलिए मैं अभी देवकी के पास जाता हूँ और उसे तुम्हारे गुण सुनाकर, तुम्हीं से विवाह करने के लिए उसे समझा आता हूँ।”

इतना कह नारद उसी समय आकाश मार्ग द्वारा देवकी के घर जा पहुँचे। देवकी ने उनका आदर सत्कार कर यथाविधि उनका पूजन किया। इस पर नारद ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा—“हे कुमारी! मैं आशीर्वाद देता हूँ, कि तुम्हारा विवाह वसुदेव के साथ हो।”

देवकी ने संकुचाते हुए पूछा—“भगवन्! वसुदेव कौन हैं ?”

नारद ने कहा—“कामदेव को भी लज्जित करने वाले, युवक शिरोमणि, विद्याधारियों के प्रिय पात्र, दसवें दशार्ह वसुदेव का नाम क्या तुमने नहीं सुना ? उसका नाम तो बच्चे तक जानते हैं। हे सुन्दरी ! दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो रूप और सौभाग्य में उसके सामने ठहर सके। इसीलिए तो देवता भी उससे ईर्ष्या करते हैं।”

इतना कह नारद मुनि अदृश्य हो गये। किन्तु उनकी बातों से देवकी के हृदय में वसुदेव ने सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया। वह मन ही मन उन पर अनुरक्त हो गयी और उन्हीं के ध्यान में रात दिन निमग्न रहने लगी।

कुछ ही दिनों में वसुदेव और कंस भी वहां जा पहुंचे। देवक राजा ने उनका बड़ा सत्कार किया और उच्च आसन पर बैठकर उनके आगमन का कारण पूछा। इस पर कंस ने कहा—“राजन्! वसुदेव मेरे स्वामी और मित्र हैं, मेरी इच्छा है कि इनसे आप देवकी का ब्याह कर दें। इसके लिए इनसे बढ़कर दूसरा पति और कौन हो सकता है ?”

देवक ने मुस्करा कर कहा—“आज तक मैंने कन्या के यहां इस तरह पति को जाते नहीं देखा। आपने यह विरुद्धाचरण क्यों किया ? खेर, देवकी या उसकी माता से पूछे बिना इस सम्बन्ध में मैं कोई बात नहीं कह सकता।”

देवक का यह उत्तर सुनकर कंस और वसुदेव अपने तम्बू में लौट आये। पश्चात् देवक राजा राजसभा से उठकर अपने अन्तःपुर में गया। वहां उसने रानी से कहा—“आज कंस ने देवकी का ब्याह वसुदेव से कर देने के लिए मुझे प्रार्थना की थी किन्तु मैंने इन्कार कर दिया है। देवकी मुझे प्राण से भी बढ़कर प्यारी है। यदि मैं इसका ब्याह अभी से कर दूंगा, तो मेरे लिए इसका वियोग असह्य हो जायगा।”

यह सुनकर रानी और देवकी उदास हो गयी। देवकी के नेत्रों में तो आंसू तक भर आये। रानी ने कहा—“आप को इन्कार न करना चाहिए था। देवकी की अवस्था विवाह करने योग्य हो चुकी है। उसका वियोग तो किसी न किसी दिन हमें सहना ही होगा। जब आपको घर बैठे वसुदेव जैसा वर मिल रहा है। तो इस सुयोग से आप को अवश्य लाभ उठाना चाहिए।”

देवक ने कहा—“मैं तो उपहास कर रहा था। अभी मैंने उसको कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया है। यदि तुम्हें यह सम्बन्ध पसन्द है, तो मैं भी कदापि इन्कार न करूंगा।”

इस प्रकार सबकी राय मिल जाने पर देवक ने मन्त्री को भेजकर कंस और वसुदेव को अपने महल में बुला लिया और शुभ मुहूर्त में बड़े समारोह के साथ वसुदेव से देवकी का विवाह कर दिया। दहेज में देवक ने बहुतसा सुवर्ण, अनेक रत्न और कोटि गायों सहित दस गोकुल के स्वामी नन्द को प्रदान किया। विवाह कार्य सम्पन्न हो जाने पर वसुदेव और कंस नन्द को अपने साथ लेकर मथुरा नगरी को लौट आये। वहां कंस ने अपने मित्र के इस विवाहोपलक्ष में एक महोत्सव का आयोजन किया, जिसके कारण नगर में कई दिन तक बड़ी चहल पहल और धूम मची रही।

इसी बीच एक दिन कंस के छोटे भाई अतिमुक्त मुनि, जिन्होंने बहुत पहले दीक्षा ले ली थी, वे पारणा करने के लिए कंस के यहां पधारे। तपश्चर्या के कारण उनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया था, यहां तक कि वे बड़ी कठिनाई से चल फिर सकते थे। इधर कंस की पत्नी जीवयशा ने महोत्सव के कारण उस समय मद्यपान किया था। इसलिए वह उन्मत्त हो रही थी। उसने मुनिराज के गले में लिपट कर कहा—“हे देवर! तुम इस महोत्सव के समय यहां पर आ गये सो बहुत ही अच्छा हुआ। आओ, हम दोनों एक साथ मिलकर नाचें और गायें।”

उसने मुनिराज से इसी तरह की और भी दिल्लगियाँ की। इससे मुनिराज को बड़ा ही कष्ट हुआ। उन्होंने खिन्न होकर कहा—“हे पापिणी! जिसके निमित्त यह उत्सव हो रहा है, उसी के सातवें गर्भ द्वारा तेरे पति और पिता की मृत्यु होगी।”

मुनि का यह भयंकर वचन सुनकर जीवयशा का सारा नशा उतर गया और वह भय से थर थर कांपने लगी। उसने उसी समय मुनिराज को छोड़ दिया। उनके चले जाने पर जीवयशा ने कंस के पास जाकर सारा हाल कह सुनाया। उसे सुनकर कंस भी चिन्तित हो उठा। वह अपने मनमें कहने लगा—“इस बात की तो आशा ही न करनी चाहिए, कि मुनिराज का वचन

व्यर्थ हो जायगा। उन्होंने जो कहा है, वह तो एक दिन होकर ही रहेगा, लेकिन मुझे अभी से निराश न होकर अपनी रक्षा का उपाय करना चाहिए। वसुदेव मेरे मित्र हैं। यदि मैं उनसे देवकी के सात गर्भ मांग लूं, तो इस विपत्ति से अनायास मेरी रक्षा हो जायगी। मेरी धारणा है कि वसुदेव गर्भ देने से कदापि इन्कार न करेंगे। किन्तु यदि वे इन्कार करेंगे, तो मैं किसी दूसरे उपाय का अवलम्बन करूंगा।”

यह सोचकर कंस मदोन्मत्त की भांति झूमता झामता वसुदेव के पास गया। वसुदेव को देखते ही उसने दोनों हाथ जोड़कर उनको प्रणाम किया। वसुदेव भी कंस को देखकर खड़े हो गये। उन्होंने उसका समुचित सत्कार कर उसे योग्य आसन पर बैठाया। इसके बाद उन्होंने कहा—“हे मित्र! तुम मुझे प्राण से भी अधिक प्रिय हो। तुम्हारी मुखाकृति से मालूम होता है कि तुम कुछ कहना चाहते हो। मेर निकट तुम्हें संकोच करने की आवश्यकता नहीं। मेरे योग्य जो कुछ कार्य सेवा हो, सहर्ष सूचित करो।”

कंसने कहा—“हे मित्र! जरासन्ध से जीवयशा दिला कर तुमने मुझ पर जो उपकार किया था, उसके भार से मैं अब तक दबा हुआ हूँ। किन्तु अब मुझ पर एक उपकार और कीजिए। वह यह कि, मुझे देवकी के सात गर्भों की आवश्यकता है। क्या आप देने की कृपा करेंगे?”

कंस की यह याचना सुनकर वसुदेव पहले तो कुछ विचार में पड़ गये, किन्तु बाद में उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। देवकी ने भी इसमें कोई आपत्ति न की। बल्कि उसने कहा—“हे कंस! तुमने जैसा कहा है, वैसा ही होगा। मेरे बच्चों को तुम अपने ही समझना। तुम्हींने हम दोनों का यह योग मिलाया है। क्या हम लोग इतनी ही देर में तुम्हारा उपकार भूलकर अकृतज्ञ बन जायेंगे? नहीं नहीं यह कदापि नहीं हो सकता। तुम्हारे इस उपकार के बदले हम लोग जो भी करें, वह थोड़ा ही है।”

देवकी की यह बातें सुनकर वसुदेव ने कहा—“प्रिये! कंस से इस विषय में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। तुम अपने सात बच्चे उत्पन्न होते ही इन्हें दे देना। इस सम्बन्ध में अब कुछ भी सोचने या कहने सुनने की जरूरत नहीं है।”

वासुदेव और देवकी की इस कृपा के लिए उनको धन्यवाद देकर कंस अपने वासस्थान को चला गया। वह उस समय मदोन्मत्त मालूम होता था, इसलिए वासुदेव ने उस समय उससे अधिक बातचीत करना उचित न समझा परन्तु उसके चले जाने पर जब वासुदेव ने अतिमुक्त मुनि का हाल सुना, तब वे बड़ा ही पश्चात्ताप करने लगे। किन्तु अब पश्चात्ताप से कोई लाभ न था। वे सत्यवादी थे। समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ सकता था, सूर्य पश्चिम में उदय हो सकता था, मेरु चलित हो सकता था, किन्तु उनका वचन मिथ्या नहीं हो सकता था।

दूसरी ओर भद्रिलपुर नगर में नाग नामक एक धनीमानी सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम सुलसा था। वे दोनों परम श्रावक थे। एकबार अतिमुक्त मुनि ने बाल्यावस्था में सुलसा से कहा था कि तुम मृतवत्सा होगी। यह सुनकर सुलसा ने हरिणैगमेषी देव की आराधना की। आराधना करने पर जब वह देव प्रसन्न हुआ तो सुलसा ने उससे पुत्रों की याचना की। इस पर देव ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा कि—“हे सुलसे! अतिमुक्त मुनि का वचन मिथ्या नहीं हो सकता। तुम्हारे उदर से जितने भी बच्चे उत्पन्न होंगे, वे सब भरे हुए ही होंगे। तथापि मैं तुम्हारी मनःतुष्टि के लिए एक उपाय कर सकता हूँ। वह यह कि, प्रसव के समय मैं तुम्हारे मृत पुत्रों को देवकी के पास में और देवकी के पुत्रों को तुम्हारे पास में रख दूंगा। इस परिवर्तन से देवकी को कोई हानि न होगी, क्योंकि उसके बच्चे तो अन्त में कंस द्वारा मारे ही जायेंगे, दूसरी ओर देवकी के बच्चे तुम्हें मिल जाने से उनका जीवन भी बच जाएगा और तुम्हारी मनोकामना भी पूर्ण हो जायगी।”

इतना कह हरिणैगमेषी देव उस समय तो अन्तर्धान हो गये, किन्तु बाद में उन्होंने अपनी देवी शक्ति से सुलसा और देवकी को एक साथ ही रजस्वला बनाया, जिससे उन दोनों ने एक साथ ही गर्भ धारण किया और एक साथ ही उन दोनों का प्रसवकाल उपस्थित हुआ। हरिणैगमेषी ने जब देखा कि उनके प्रसव में अधिक समय की देर नहीं है, तब उन्होंने सुलसा के मृत पुत्र को उठाकर देवकी के पास में और देवकी के पुत्र को उठाकर सुलसा के पास में स्थापित कर दिया। इसी प्रकार देवकी और सुलसा के लगातार छः पुत्रों का

उन्होंने परिवर्तन किया। फलतः देवकी के मृत बालक उत्पन्न हुए और उन्हें कंस ने शिला पर पटकवा दिया। दूसरी और सुलसा ने लगातार छः पुत्रों का जन्मोत्सव मनाया। जो बड़े होने पर अनीक्यशा, अनन्तसेन, अजीतसेन, निहतारि, देव्यशा और शत्रुसेन के नाम से प्रसिद्ध हुए।

सातवीं बार ऋतुस्नाता देवकी ने प्रभातकाल में गज, सिंह, ध्वज, विमान, पद्मसरोवर और अग्नि इन सात चीजों को स्वप्न में देखा। यह स्वप्न बहुत ही शुभ था और वसुदेव के जन्म का सूचक था। यह स्वप्न देखने के बाद शीघ्र ही गंगदत्त का जीव महाशुक्र देवलोक से च्युत होकर देवकी के गर्भ में आया देवकी ने रत्न की भांति उस गर्भ की रक्षा की। गर्भकाल पूर्ण होने पर श्रावण कृष्णा अष्टमी को रात्रि के समय शुभमुहूर्त में देवकी ने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया।

देवकी का यह सातवां गर्भ था। अतिमुक्त मुनि के कथनानुसार इसी के हाथ से कंस की मृत्यु होने वाली थी। इसी भय को दूर करने के लिए कंस ने वसुदेव से सात गर्भ मांग लिये थे। इस सातवें गर्भ को हाथ करने के लिए वह विशेष रूप से लालायित था, इसलिए उसने वसुदेव और देवकी के वासस्थान में कड़ा पहरा बैठा दिया था। परन्तु इस बालक की रक्षा का भार स्वयं देवताओं ने ले रक्खा था, इसलिए जिस समय उसका जन्म हुआ, उस समय संमस्त पहरेदार इस प्रकार निद्रा में पड़ गये, मानों उन्होंने मद्यपान किया हो।

बेचारी देवकी के छः बालकों को कंस ने शिला पर पटकवा दिया था। छः बच्चों की माता होने पर भी उसकी गोद ज्यों की त्यों खाली थी। देवकी को इसके लिए बड़ा दुःख था। वह जानती थी कि उसके सातवें बच्चे की भी वही गति होगी, जो छः बच्चों की हो चुकी है। उसकी कल्पना से ही उसका हृदय कांप उठा उसने खिड़की से बाहर झांक कर देखा तो सब पहरेदार घोर निद्रा में पड़े हुए थे। उसने किसी तरह अपने इस पुत्र को बचाने का संकल्प किया वसुदेव उसके पास ही शिर पकड़े हुए बैठे थे। देवकी ने गिड़गिड़ाकर उनसे कहा—“हे नाथ ! किसी तरह मेरे इस बच्चे की प्राणरक्षा कीजिए। कंस आपका मित्र होने पर भी उसने आपको वचन बद्ध कर शत्रु का काम किया है। उसने जिस तरह मेरे छः बच्चों को शिला पर पटकवाकर मार दिया है, उस

तरह वह हमारे इस लाल को भी मार डालेगा। इस समय पहरेदार सो रहे हैं। आप चुपचाप इस बालक को लेकर निकल जाइये और नन्द को गोकुल में रख आइये। ऐसा करने पर इसका प्राण बच जायगा। हे नाथ! मुझ अभागिनी की इतनी प्रार्थना अवश्य मान्य कीजिए।”

देवकी की यह प्रार्थना वसुदेव अमान्य न कर सके। वे उसी समय बालक को उठाकर चुपचाप महल से निकल पड़े। श्रावण की अँधेरी रात की, आकाश मेघाच्छन्न था, चारों ओर अन्धकार का साम्राज्य था, रास्ता भी साफ न था, किन्तु देवताओं की कृपा से सारी कठिनाइयाँ दूर हो गयी। उन्होंने उस बालक पर पुष्पवृष्टि की, शिर पर छत्र धारण किया और आठ दीपकों द्वारा मार्ग का अन्धकार दूर किया।

किसी तरह वसुदेव महल से तो निकल आये, परन्तु उन्हें ख्याल आया कि नगर के दरवाजे तो रात को बन्द रहते हैं, वे किस प्रकार खुलेंगे? वे चिन्ता करते हुए किसी तरह मुख्य द्वार के पास पहुँचे। देखा तो वह द्वार खुला पड़ा था। देवताओं ने धवल वृषभ का रूप धारण कर पहले ही वह द्वार खोल दिया था। उसी द्वार के पास काठ के एक पींजड़े में उग्रसेन बन्द रहते थे। वसुदेव जब उस स्थान में पहुँचे तो उग्रसेन ने उनसे पूछा—यह क्या है? वसुदेव ने वह बालक दिखाकर कहा—“यह कंस का काल है। हे राजन्! इससे आपका भी उपकार होगा, किन्तु अभी यह बात किसी से जाहिर न कीजिएगा।” यह कहते हुए वसुदेव उस बालक को लिए शीघ्र ही नन्द के घर पहुँच गये।

इसी समय नन्द पत्नी यशोदा ने भी एक पुत्री को जन्म दिया था। वसुदेव अपना पुत्र यशोदा को देकर, उनकी पुत्री आप ले आये। जिस समय वे उस पुत्री को लेकर अपने वासस्थान में पहुँचे, उस समय भी समस्त प्रहरी घोर निद्रा में पड़े हुए थे। इससे उन्हें उस कन्या के साथ देवकी के पास पहुँचने में कोई कठिनाई न हुई। उन्होंने उसे जाकर देवकी के हाथ में रख दिया और उसकी प्राप्ति का सारा हाल भी उसे कह सुनाया। देवकी यह जानकर प्ररम प्रसन्न हो उठी कि उनका पुत्र सकुशल नन्द के घर पहुँच गया और कंस के हाथों से अब उसे हानि पहुँचने की कोई सम्भावना नहीं है।

कुछ देर बाद उस कन्या ने रोदन किया। उसे सुनकर समस्त प्रहरी उठ बैठे। वे उसी समय उस बालिका को कंस के पास उठा ले गये। कंस उसे देखकर विचार में पड़ गया। मुनिराज ने तो कहा था, कि देवकी के सातवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी, किन्तु यह तो एक बालिका है। यह मेरा नाश करने में कैसे समर्थ हो सकती है। मालूम होता है कि मुनिराज ने कोरी धमकी ही दी थी। इस बालिका की हत्या से मुझे क्या लाभ होगा ? इस प्रकार विचार कर कंस ने उस बालिका की हत्या का विचार छोड़ दिया और केवल उसकी नासिका काटकर उसे देवकी को वापस दे दिया।

वसुदेव के जो पुत्र उत्पन्न हुआ था और जिसे वे रातोंरात नन्द के यहां छोड़ आये थे, उसका वर्ण श्याम होने के कारण उसका नाम कृष्ण पड़ा। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नन्द और यशोदा ही उसका लालन पालन करते थे, किन्तु परोक्ष रूप से अनेक देवदेवियाँ भी उसकी रक्षा के लिए सदा उद्यत रहते थे।

कृष्ण के जन्म को एक मास होने पर देवकी ने उसे देखने के लिए गोकुल जाने की इच्छा प्रकट की। वसुदेव ने कहा—“प्रिये ! तुम वहां सहर्ष जा सकती हो, किन्तु यदि तुम बिना किसी कारण के अनायास वहां जाओगी, तो कंस को सन्देह हो जायगा। इसलिए हे सुभगे ! वहां कोई निमित्त दिखलाकर जाना उचित होगा। मेरी राय तो यह है कि तुम नगर की अनेक स्त्रियों को साथ लेकर गो पूजन करती हुई गोकुल पहुँच जाओ और गो पूजन के ही बहाने पुत्र को देखकर वहां से तुरंत लौट आओ !”

वसुदेव की यह सलाह देवकी को पसन्द आ गयी, इसलिए उन्होंने वैसा ही किया। यशोदा की गोद में अपने लालन को—उस लालन को, कि जिसका हृदय श्रीवत्स से शोभित है, जिसकी कान्ति मरकत रत्न के समान है, जिसके हाथ पैर में चक्रादि के लक्षण हैं, विकसित कमल समान जिसके लोचन हैं, देखकर देवकी का हृदय आनन्द विभोर हो गया। उन्होंने उसे अपनी गोद में लेकर खेलाया, उसका दुलार किया और बार-बार उसे हृदय से लगाकर अपने प्रेमावेश को शान्त किया। कृष्ण को अपनी गोद से उतारने की उन्हें मानो इच्छा ही न होती थी, परन्तु लाचारी थी, इसलिए वे उसे वही

छोड़कर अपने वासस्थान को लौट आयी। परन्तु उस दिन से पुत्र वियोग सहन करना उनके लिये असम्भव हो पड़ा, इसलिये वे गो पूजन के बहाने रोज एकबार गोकुल जाने लगी। उसी समय से गो पूजन की प्रथा प्रचलित हुई, जो आज तक इस देश में सर्वत्र प्रचलित है।

परन्तु वसुदेव के शत्रुओं को इससे भला शान्ति कैसे मिल सकती थी? सूर्पक के शकुनि और पूतना नामक दो पुत्रियां थी। वे अपने पिता की प्रेरणा से उसका बदला लेने को तैयार हुईं। एक दिन कृष्ण गाड़ी के पास अकेले खेल रहे थे। संयोगवश उस समय नन्द या यशोदा दो में से एक भी वहां उपस्थित न थे। इसी समय वह दोनों विद्याधरियाँ कृष्ण के पास आ पहुँचा और कृष्ण को मार डालने का मौका देखने लगी। कुछ देर में श्रीकृष्ण जब खेलते खेलते उस गाड़ी के नीचे पहुँचे, तब शकुनी उस गाड़ी पर चढ़ गयी और उन्हें उसके नीचे दबाकर मार डालने की चेष्टा करने लगी यह देखकर श्रीकृष्ण वहां से बाहर सरक आये। बाहर पूतना उनके लिए तैयार खड़ी थी। वह कृष्ण को गोद में लेकर उन्हें अपना जहर से भरा हुआ स्तन पिलाने लगी। परन्तु उसकी भी यह चाल बेकार हो गयी। कृष्ण की रक्षा करने के लिए जो देवता सदा उपस्थित रहते थे, उन्होंने इसी समय उस गाड़ी द्वारा प्रहार कर उन दोनों की जीवन लीला समाप्त कर दी।

इस घटना के कुछ देर बाद वहां नन्द आ पहुँचे। सबसे पहले उनकी दृष्टि उस गाड़ी पर जा पड़ी, जो शकुनि और पूतना पर प्रहार करने से चूर-चूर हो गयी थी। इसके बाद उन्होंने बड़े बड़े लोचनवाली राक्षसी समान उन दोनों विद्याधरियों को देखा, जिसका प्राण पंखेरू तन पिंजर को वहीं छोड़कर न जाने कहाँ प्रयाण कर गये थे। यह देखते ही नन्द के प्राण सूख गये। किसी अज्ञात शंका से उनका हृदय कांप उठा वे अपने मन में कहने लगे—“मालूम होता है कि आज श्रीकृष्ण की खैर नहीं।” उन्होंने उसी समय उनकी खोज की। वे कहीं खेल रहे थे। उनको सकुशल देखकर नन्द के मृत शरीर में मानो फिर से प्राण आ गये। पृच्छताछ करने पर उन्हें ग्वाल बालों ने बतलाया कि “कृष्ण ने ही उस गाड़ी को तोड़ डाला था और उन्होंने उन राक्षसियों को मारकर अपनी प्राण रक्षा की थी।”

नन्द-ने बड़े आश्चर्य के साथ यह समाचार सुना। उन्होंने श्रीकृष्ण का समूचा शरीर टटोल कर देखा कि उन्हें कहीं चोट तो नहीं आयी है। इसी समय वहां यशोदा आ पहुँची। श्रीकृष्ण को अकेला छोड़ने के लिए नन्द ने उनको सख्त उलाहना देते हुए कहा—“प्यारी तुमने आज कृष्ण को अकेला क्यों छोड़ दिया। तुम्हारे ऐसे काम का परिणाम किसी समय बहुत ही भयानक हो सकता है। देख, आज ही भगवान ने इसकी रक्षा न की होती तो न जाने क्या हो गया होता! चाहे जितना मुकसान हो रहा हो। धी के घड़े ही क्यों न लुढ़के जा रहे हों, परन्तु कृष्ण को अकेला छोड़कर तुम्हें कहीं न जाना चाहिए।”

यशोदा भी उस गाड़ी और विद्याधरियों को देखकर सहम गयी। उन्होंने बड़े प्रेम से कृष्ण को अपनी गोद में उठाकर उनके शरीर की जांच की। जब उन्हें विश्वास हो गया, कि कृष्ण को कहीं चोट नहीं आयी, तब उनका हृदय शान्त हुआ। उन्होने बार-बार कृष्ण के कपोल पर चुम्बन कर उन्हें गले से लगा लिया। इस दिन से वे कृष्ण को बड़े यत्न से रखने लगी। अपनी समझ में वे उन्हें कभी भी अकेला न छोड़ती थी, परन्तु कृष्ण बहुत ही उत्साही और चञ्चल प्रकृति के बालक थे, इसलिए वे मौका मिलते ही यशोदा की नजर बचाकर इधर उधर निकल जाया करते थे।

कृष्ण की इस आदत से यशोदा बहुत आजिज हो गयी। एक दिन उन्हें कार्यवश अपनी पड़ोसिन के यहां जाना था। वे जानती थी, कि कृष्ण घर में बैठने वाला जीव नहीं है, इसलिए उन्होंने उनकी कमर में एक रस्सी बांधकर उस रस्सी का दूसरा छोर एक बहुत बड़े ऊखल से बांध दिया। इतना करने पर उन्हें विश्वास हो गया कि कृष्ण अब उस स्थान को छोड़कर और कहीं नहीं जा सकते, इसलिए वे पड़ोसिन के यहां चली गयी। श्रीकृष्ण को अकेले देखकर उसी समय सूर्यक का पौत्र अपने दादा का बदला चुकाने के लिये वहां आ पहुंचा। उसने श्रीकृष्ण के दोनों ओर अर्जुन के वृक्ष उत्पन्न किये। इसके बाद कृष्ण को ऊखल समेत पीस डालने के लिए वह विद्याधर उन्हें उन दोनों वृक्षों के बीच में ले गया। परन्तु उसके कुछ करने के पहले ही, कृष्ण की रक्षा के लिये वहां जो देवता नियुक्त थे, उन्होंने उन दोनों वृक्षों को उखाड़ डाला और उस विद्याधर को मारकर वहां से खदेड़ दिया। उस समय वहां कोई उपस्थित न था, किसी को भी यह भेद मालूम न हो सका।

थोड़ी देर में कुछ ग्वाल बाल खेलते हुए वहां आ पहुँचे, उन्होंने उन वृक्षों को देखकर समझा कि कृष्ण ने ही उन वृक्षों को उखाड़ डाला है। वे तुरन्त यशोदा के पास दौड़ गये। उन्होंने यशोदा से कहा—“कृष्ण ने दो वृक्षों में ऊखल फँसाकर उन्हें उखाड़ डाला है।” यशोदा यह आश्चर्यजनक संवाद सुनकर उसी समय वहां आ पहुँची। नन्द भी कहीं से दौड़ आये। कृष्ण को सकुशल देखकर उनके आनन्द का वारापार न रहा। उन्होंने धुलि धूसरित कृष्ण को गले से लगाकर बार-बार उनके मस्तक पर चुम्बन किया। उस दिन कृष्ण के उदर में दाम (रस्सी) बांधा गया था, इसलिए उस दिन से सब ग्वाल बाल कृष्ण को दामोदर कहने लगे।

श्रीकृष्ण गोप गोपियों को बहुत ही प्यार करते थे, इसलिए वे उन्हें रात दिन गोद में लिये घूमा करती थी। ज्यों ज्यों वे बड़े होते जाते थे, त्यों-त्यों उनके प्रति लोगों का स्नेह भी बढ़ता जाता था। कृष्ण का स्वभाव बहुत ही चञ्चल था, इसलिए जब वे कुछ बड़े हुए, तब गोपियों की मटकियों से दूध दही उठा लाने लगे, ऐसा करते समय वे कभी कभी उनकी मटकियाँ भी फोड़ डालते थे, तथापि गोपियाँ उनसे असन्तुष्ट न होती थी। वे चाहे बोलते, चाहे भारते, चाहे दही मक्खन खा जाते, चाहे कोई नुकसान कर डालते, किन्तु हर हालत में नन्द, यशोदा और समस्त गोपगोपियाँ उनसे प्रसन्न ही रहते थे। उनकी बाललीला में, उनके क्रीड़ा कौतुकों में कोई किसी प्रकार की बाधा न देते थे, बल्कि उनके प्रेम के कारण, सब लोग मन्त्र मुग्ध की भांति उनके पीछे लगे रहते थे।

धीरे धीरे कृष्ण के अतुल पराक्रम की, शकुनि और पूतना को मारने, शकट तोड़ने और अर्जुन वृक्षों को उखाड़ डालने की बातें चारों ओर फैल गयी। जब यह बातें वसुदेव ने सुनी, तब उन्हें बड़ी चिन्ता हो गयी। वे अपने मन में कहने लगे—“मैं अपने पुत्र को छिपाने के लिए नन्द के यहां छोड़ आया था, परन्तु अब वह अपने बल से प्रकट होता जा रहा है। यदि कंस को उस पर सन्देह हो जायगा, तो वह उसका अमंगल किये बिना न रहेगा। इसके लिए पहले ही से सावधान हो जाना उचित है। यदि कृष्ण की रक्षा के लिए मैं अपने किसी पुत्र को उसके पास भेज दूँ तो बहुत ही अच्छा हो सकता है। परन्तु अक्रुरादि पुत्रों को तो क्रूर मति कंस जानता है, इसलिए उन्हें भेजना ठीक

नहीं। राम को वह नहीं पहचानता, अतः उसे वहां पर जाने का आदेश दिया जा सकता है।

इस प्रकार विचार कर वसुदेव ने कोशल नगरी से राम सहित रोहिणी को बुलाकर उन्हें शौर्यपुर भेज दिया। इसके बाद एक दिन राम को बुलाकर, उनको सब मामला समझा, उन्हें भी नन्द और यशोदा के हाथों में सौंप, पुत्र की ही भाँति रखने का अनुरोध किया। नन्द और यशोदा ने इसमें कोई आपत्ति न की। उन्होंने कृष्ण की भाँति राम को भी पुत्र रूप में अपना लिया।

राम और कृष्ण दोनों भाई दस धनुष ऊँचे और देखने में अत्यन्त सुन्दर थे। वे जिधर खेलने के लिए निकल जाते, उधर की ही गोपिकाएं सारा कामकाज छोड़कर, उनको देखने में लीन हो जाती थी। कृष्ण जब कुछ बड़े हुए, तब नन्द ने उनको शिक्षा के उपकरण दिये और वे राम के निकट धनुर्वेद तथा अन्यान्य कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने लगे। राम और कृष्ण कभी एक दूसरे के भाई, कभी मित्र और कभी गुरु शिष्य बनते। वे खाते पीते, उठते बैठते, सोते जागते, खेलते कूदते सदा एक दूसरे के साथ ही रहते। यदि एक क्षण के लिए भी कोई किसी से अलग हो जाता तो वह उनके लिए असह्य हो पड़ता था।

कृष्ण बहुत ही बलवान थे। उनके शरीर में कितना बल है, इसकी कभी किसी को थाह न मिलती थी। बीच बीच में वे ऐसे कार्य कर दिखाते थे, जिससे लोगों को दांतो तले अंगुली दबानी पड़ती थी। बड़े-बड़े उत्पाती वृषभों को, जिन्हें कोई काबू में न कर सकता था, उन्हें वे केवल पूंछ पकड़कर खड़े कर देते थे। ऐसे ऐसे कार्य उनके लिए बायें हाथ के खेल थे। अपने भाई के यह कार्य देखकर राम को बड़ा ही आनन्द और आश्चर्य होता था, परन्तु वे अपने मुख से कुछ भी न कहकर, उदासीन की भाँति सब कुछ देखा करते थे।

धीरे धीरे कृष्ण की अवस्था जब कुछ बड़ी हुई, तब उनका अलौकिक रूप देखकर गोपियों के हृदय में काम विकार उत्पन्न होने लगा। वे जब तब कृष्ण को अपने बीच में बैठाकर रास और वसन्त क्रीड़ा करने लगती। जिस प्रकार भ्रमरदल एक क्षण के लिए भी कमल से अलग नहीं होता, उसी प्रकार गोपियां भी कृष्ण से कभी अलग न होती। कृष्ण को देखते ही उनकी पलकों

का गिरना बन्द हो जाता, उनकी दृष्टि स्थिर बन जाती और उनकी जिह्वा भी कृष्ण का ही जप करने लगती। कभी कभी वे कृष्ण के ध्यान में इस प्रकार तन्मय बन जाती, कि उन्हें सामने रखे हुए पात्रों का भी ध्यान न रहता और वे अनेक बार भूमि पर ही गायों को दुह देती। कृष्ण सदा दीन दुःखियों की आततायियों से रक्षा करने के लिए प्रस्तुत रहते थे, इसलिए कृष्ण को अपने पास बुलाने के लिए अनेक बार गोपियां भीत और त्रस्त मनुष्यों की भांति झुठमुठ चीत्कार कर उठती थी। कृष्ण जब उनके पास जाते तब वे हँस पड़ती और तरह तरह से अपना प्रेम व्यक्त कर, अपने हृदय को शान्त करती।

कभी कभी गोपियां निर्गुण्डी आदि पुष्पों की माला बनाती और कृष्ण के कण्ठ में उसे जयमाल की भांति पहनाकर आनन्द मनाती। कभी वे गीत और नृत्यादिक द्वारा कृष्ण का मनोरंजन करती और उनके शिक्षा वचन सुनकर अपने कर्णों को पावन करती। कृष्ण समस्त गोपालों के अग्रणी थे, इसलिए उन्हें गोपेन्द्र के नाम से भी सम्बोधित करती थी। जिस समय कृष्ण मोरपंख धारण कर मधुर स्वर से मुरली बजाते, उस समय गोपियों का हृदय भी थिरक थिरक कर नाचने लगता। कभी कभी गोपियां कृष्ण से कमल ला देने की प्रार्थना करती तो वे उन्हें लाकर देते। गोपियाँ इससे बहुत ही सन्तुष्ट रहती थी। कभी कभी वे मधुर शब्दों में राम को उलाहना देते हुए कहने लगती—“हे राम! तुम्हारा भाई ऐसा है कि यदि हम उसे देख लेती है, तो वह हमारा चित्त हरण कर लेता है और यदि हम उसे नहीं देखती, तो वह हमारा जीवन ही नष्ट कर देता है।”

कभी कभी कृष्ण पर्वत के शिखर पर चढ़े जाते और वहाँ से वंशी बजाकर राम का मनोरंजन करते थे। कभी कभी कृष्ण नृत्य करते, गोपियाँ गायन गाती और राम तबलची की भांति हस्तताल देते थे। इस प्रकार विविध क्रीड़ा करते हुए राम और कृष्ण के म्यारह वर्ष देखते ही देखते सानन्द व्यतीत हो गये।



ग्यारहवाँ परिच्छेद नेमिनाथ भगवान का जन्म



उधर शौर्यपुर नगर में समुद्रविजय राजा की शिवादेवी रानी ने एक दिन प्रभात के समय ¹गज, ²वृषभ, ³सिंह, ⁴लक्ष्मी, ⁵पुष्प माला, ⁶चन्द्र, ⁷सूर्य, ⁸ध्वज, ⁹कुम्भ, ¹⁰पद्मसरोवर, ¹¹श्रीसागर, ¹²देवविमान, ¹³रत्नपुञ्ज और ¹⁴निर्धूम अग्नि-यह चौदह महास्वप्न देखे। उस दिन कार्तिक कृष्ण द्वादशी और चित्रा नक्षत्र था। उस नक्षत्र से चन्द्रमा का योग होने पर अपराजित अनुत्तर विमान से शंख का जीव ज्युत होकर शिवादेवी के उदर में आया। उस समय तीनों लोक प्रकाशित हो उठे और अन्तर्मुहूर्त तक नारकीय जीवों को भी सुख हुआ। तीर्थंकरों के जन्म के समय इतना तो अवश्य ही होता है।

स्वप्न देखते ही शिवादेवी की निद्रा टूट गयी। उन्होंने तुरन्त शैय्या त्यागकर अपने पति से इन स्वप्नों का हाल कह सुनाया। राजा ने उनका फल जानने के लिए एक क्रोष्टुकि नामक स्वप्न पाठक को बुला भेजा। उसी समय अचानक एक मुनिराज भी वहां आ गये। राजा ने उन दोनों का सत्कार कर उनसे उस स्वप्न का फल पूछा, इस पर मुनिराज ने कहा—“हे राजन्! यह स्वप्न बहुत ही उत्तम है। तुम्हारी रानी एक ऐसे पुत्र को जन्म देगी, जो तीनों लोक का स्वामी तीर्थंकर होगा।”

यह स्वप्न फल सुनकर राजा और रानी बहुत ही प्रसन्न हुए। रानी उस दिन से रत्न की भांति यत्नपूर्वक उस गर्भ की रक्षा करने लगी। उस गर्भ के प्रभाव से रानी के अंग प्रत्यङ्ग का लावण्य और सौभाग्य बढ़ गया। गर्भकाल पूर्ण होने पर शिवादेवी ने श्रावण शुक्ल पञ्चमी को मध्य रात्रि के समय चित्रा

नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। उसके शरीर की कांति मरकत रत्न के समान और देह शंख लाञ्छन से सुशोभित हो रही थी। राजा और रानी के नेत्र इस पुत्र-रत्न को देखते ही मानो शीतल और तृप्त हो गये।

इस पुत्र का जन्म होते ही छप्पन दिशीकुमारिकाओं ने अपने-अपने स्थान से आकर शिवादेवी का प्रसूति—कर्म किया। इसके बाद पञ्चरूप धारण कर सौधमैन्द्र भी वहां आये। उन्होंने एक रूप से प्रभु का प्रतिबिम्ब माता के पास रखकर, उन्हें अपने हाथों में उठा लिया, और दो रूपों से दोनों ओर दो चमर, तथा एक से छत्र धारण किया, और पांचवें रूप से उनके आगे आगे वज्र उछालते हुए, उन्हें भक्ति पूर्वक मेरु पर्वत के शिर पर अति पाण्डुकबला नामक शिला पर ले गये। वहां प्रभु को अपनी गोद में स्थापित कर शक्र में एक सिंहासन पर स्थान ग्रहण किया और अच्युत आदि तिरसठ इन्द्रों ने भक्ति पूर्वक भगवान को पक्षाल कराया। फिर शक्रेन्द ने भी भगवान को ईशानेन्द्र की गोद में बिठाकर उन्हें विधि पूर्वक पक्षाल कराया।

भगवान को पक्षाल कराने के बाद शक्रेन्द ने दिव्य पुष्पों द्वारा उनकी पूजा और आरती की। इसके बाद हाथ जोड़कर उन्होंने इस प्रकार उनकी स्तुति की—

“हे मोक्षगामिन्! हे शिवादेवी की कुक्षिरूपी सीप के मुक्ताफल! हे प्रभो! हे शिवादेवी के रत्न! आपके द्वारा हमारा कल्याण हो! हे बाईसवें तीर्थकर! मोक्षसुख जिसके करतल में है, जिसे समस्त पदार्थों का ज्ञान है, जो विविध लक्ष्मी के निधान रूप हैं, ऐसे आपको अनेकानेक नमस्कार हो! हे जगद्गुरु! यह हरिवंश आज पवित्र हुआ, यह भारतभूमि भी आज पावन हुई, क्योंकि आप जैसे चरम शरीरी तीर्थाधिराज का इसमें जन्म हुआ है। हे त्रिभुवन वल्लभ! जिस प्रकार लता समूह के लिए मेघ आधार रूप होते हैं। उसी प्रकार संसार के लिए आप आधार रूप हैं। आप ब्रह्मचर्य के स्थान और ऐश्वर्य आश्रय रूप हैं। हे जगत्पत! आपके दर्शन से भी प्राणियों का मोह नष्ट होकर उन्हें दुर्लभ ज्ञान की प्राप्ति होती है। हे हरिवंशरूपी वन के-लिए जलधर समान! आप अकारण ज्ञाता हैं, अकारण वत्सल हैं और अकारण समस्त

जीवों के प्रालन करने वाले हैं। हे प्रभो! आज भरत क्षेत्र अपराजित विमान से भी अधिक महिमावंत बन गया है, क्योंकि लोगों को सम्यक्त्व देने वाले आपने इसमें जन्म लिया है। हे नाथ! अब आप से मेरी यही प्रार्थना है कि आपके चरण मेरे मन रूपी मान सरोवर में राज हंस की भांति सदा निवास करें और मेरी जिह्वा निरन्तर आपका गुणगान किया करें!”

इस प्रकार जगत् प्रभु की स्तुति कर शक्रेन्द पुनः उन्हें शिवावेदी के पास उठा ले गये और उन्हें यथास्थान रख आये। इसके बाद भगवान के लिए पांच अप्सराओं को धात्रि के स्थान में नियुक्त कर, वे नन्दीश्वर की यात्रा कर अपने स्थान को वापस चले गये।

इसके बाद राजा समुद्रविजय ने भी पुत्र के जन्मोपलक्ष में एक महोत्सव मनाया और अपने इष्टमित्र, सभाजन तथा आश्रितों को दानादि द्वारा सम्मानित किया। जिस समय यह बालक गर्भ में आया, उस समय उसकी माता ने पहले चौदह स्वप्न और बाद में अरिष्टरत्न की चक्रधारा देखी थी, इसलिए राजा ने उस बालक का नाम अरिष्टनेमि रक्खा। अरिष्टनेमि के जन्म का समाचार सुनकर वसुदेव आदि राजाओं को भी अत्यन्त आनन्द हुआ और उन्होंने भी मथुरा नगरी में बड़ी धूम के साथ उसका जन्मोत्सव मनाया।



बारहवाँ परिच्छेद

कंस-वध



एक दिन देवकी को देखने के लिए कंस वसुदेव के घर गया। वहां पर उसने देवकी की उस कन्या को देखा, जिसकी नासिका छेदकर उसने जीवित छोड़ दिया था। उसे देखकर कंस के हृदय में कुछ भय का संचार हुआ, इसलिए घर आने पर उसने एक अच्छे ज्योतिषी को बुलाकर उससे पूछा कि मुनिराज ने जो यह कहा था कि “देवकी का सातवां गर्भ-तुम्हारा भानजा-तुम्हारी मृत्यु का कारण होगा, यह बात झूठ है या सच है?”

ज्योतिषी ने कुछ सोच विचारकर कहा—“हे राजन्! मुनि का वचन मिथ्या नहीं हो सकता। देवकी का सातवां गर्भ, जो तुम्हारी मृत्यु का कारण होगा, कहीं न कहीं जीवित अवस्था में अवश्य विद्यमान होगा। वह कहां है, यह जानने के लिए तुम अपने अरिष्ट नामक वृषभ, केशी नामक अश्व, दुर्दान्त गर्दभ तथा दुर्दमनीय मेष को वृन्दावन में छोड़ दो और उन्हें स्वच्छन्द विचरण करने दो। जो इन चारों को मारे, उसे ही देवकी का सातवां पुत्र समझना। निःसन्देह उसी के हाथ से तुम्हारी मृत्यु होगी।”

कंस ने पूछा—“क्या इसके अतिरिक्त उसकी और भी कोई पहचान है?”

ज्योतिषी ने कहा—“हां, अवश्य है। आपके यहां शारंग नामक जो धनुष है, आपकी बहिन सत्यभामा जिसकी नित्य पूजा करती है, उसे जो चढ़ायगा, वही आपके प्राणों का घातक होगा। ज्ञानियों का कथन है कि वह धनुष वासुदेव के सिवा और कोई धारण न कर सकेगा। इसके अतिरिक्त वही

कालीयनाग का दमन करेगा और चाणूर मल्ल तथा आपके पद्मोत्तर तथा चम्पक नामक हाथियों को मारेगा। जो यह सब कार्य करेगा, उसी के द्वारा आपकी भी मृत्यु होगी।”

ज्योतिषी के यह वचन सुनकर कंस का हृदय भय से कांप उठा। उसने अपने शत्रु को खोज निकालने के लिए उसी समय अरिष्ट आदि को वृन्दावन में छोड़ दिया। अरिष्ट वास्तव में बड़ा ही भीषण पशु था, वह जहां जाता, वहां के लोगों को अत्यन्त दुःखित कर देता। मनुष्यों की कौन कहे, बड़े बड़े गाय बैलों को भी वह अपने सींगों से पंक की भांति उठाकर दूर फेंक देता था। यदि किसी के घर में वह घुस जाता, तो वहां से किसी प्रकार भी निकाले न निकलता और दही दूध या घृतादिक के जो पात्र सामने पड़ते, उन्हें तोड़ फोड़ कर मिट्टी में मिला-देता।

एकदिन अरिष्ट घूमता घामता गोकुल में जा पहुंचा और वहां पर गोप गोपियों के घर में घुसकर इसी तरह के उत्पात मचाने लगा। उसने किसी के बच्चों को उठा पटक़ा, किसी के गाय बैलों को जल्मी कर डाला, किसी का घी दूध मिट्टी में मिला दिया और किसी की खाद्य सामग्री नष्ट भ्रष्ट कर दी। उसके इन उत्पातों से चारों ओर हाहाकार मच गया। गोपियां दीन बन गयीं। वे दुःखित होकर राम और कृष्ण को पुकारकर कहने लगीं—“हे राम! हे कृष्ण! हमें बचाओ। इस आफत से हमारी रक्षा करो!”

गोपियों की यह करुण पुकार शीघ्र ही राम और कृष्ण के कानों में जा पड़ी। वे उसी समय उनकी रक्षा के लिए दौड़ पड़े। परन्तु बुढ़े मनुष्यों ने उनको रोका। वे जानते थे कि अरिष्ट कंस का साढ़ है। वह बड़ा ही भयंकर है, एक तो उसे मारना ही कठिन है और यदि कोई किसी तरह उसे मारेगा भी, तो वह कंस का कोप भाजन हुए बिना न रहेगा। इसलिए उन्होंने राम और कृष्ण से कहा—“जो कुछ होता हो, होने दो! वहां जाने की जरूरत नहीं। हमें घी दूध न चाहिए, गाय बैल न चाहिए, उनकी सब हानि हम बर्दाश्त कर लेंगे, परन्तु हम तुम्हें वहां न जाने देंगे। वहां जाने से तुम्हारी खैर नहीं!”

परन्तु राम और कृष्ण ऐसी बातें सुनकर भला क्यों रुकते? वे शीघ्र ही साढ़ के पास जा पहुंचे। कृष्ण ने उसे ललकारा। उनकी ललकार सुनते ही रोष

पूर्वक अपने सींग और पूछ उठाकर वह कृष्ण की ओर झपटा। कृष्ण भी तैयार खड़े थे। नजदीक आते ही उन्होंने उसके दोनों सींग पकड़ कर उसकी गर्दन इस तरह ऐंठ दी, कि वह वहीं जमीन पर गिर पड़ा और उसकी जीवन लीला समाप्त हो गयी। अरिष्ट की इस मृत्यु से गोप गोपियों को बड़ा ही आनन्द हुआ और वे देवता की भांति कृष्ण की पूजा करने लगे। कृष्ण पर अब तक उनका जो प्रेम था, वह इस घटना के बाद दूना हो गया।

इसके बाद एक दिन कृष्ण अपने इष्ट मित्रों के साथ वन में क्रीड़ा कर रहे थे। इसी समय कंस का वह केशी नामक अश्व वहां आ पहुंचा। उसके बड़े बड़े दांत, काल समान शरीर और भयंकर मुख देखकर सब लोग भयभीत हो गये। वह छोटे छोटे बछड़ों को मुख से काटने और गाय बैलों को लातों से मारने लगा। कृष्ण ने उसे कई बार खदेड़ा, परन्तु वह किसी प्रकार भी वहां से न गया। अन्त में जब कृष्ण ने बहुत तर्जना की, तब वह मुख फैलाकर उन्हीं को काटने के लिए झपट पड़ा। उसके तीक्ष्ण दांतों को देखकर सबको शंका हुई, कि अब वह कृष्ण को कदापि जिन्दा न छोड़ेगा, परन्तु उसके समीप आते ही कृष्ण ने अपनी वज्र समान भुजा इतनी तेजी के साथ उसके मुख में डाल दी कि उसका मुख गर्दन तक फट गया और उसी पीड़ा के कारण तत्काल उसकी मृत्यु हो गयी। इसी प्रकार कंस के उस दुर्दान्त गर्दभ और मेष को भी कृष्ण ने क्षणमात्र में मारकर गोकुल और वृन्दावन को सदा के लिए उनके भय से मुक्त कर दिया।

इन सब बातों का पता लगाने के लिए कंस के गुप्तचर सदैव चारों ओर विचरण किया करते थे। उन्होंने यथासमय कंस को इन सब घटनाओं की सूचना दी। इससे कंस का सन्देह दूर हो गया और यह समझ गया कि नन्द के यहां कृष्ण नामक जो बालक है, वही मेरा शत्रु है फिर भी विशेष रूप से इसकी परीक्षा करने के लिए उसने एक उत्सव का आयोजन किया। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि उसके यहां शारंग नामक एक धनुष था, जिसकी सत्यभाषा पूजा किया करती थी। उसने उस धनुष को राजसभा में स्थापित कराया और सत्यभामा को वहाँ बैठकर उसकी पूजा करने का आदेश दिया। इसके बाद उसने चारों ओर घोषणा कर दी कि जो शारंग धनुष को उठाकर

उसकी प्रत्यश्चा चढ़ा देगा, उसी के साथ मैं अपनी बहिन सत्यभामा का विवाह कर दूंगा।

सत्यभामा परम सुन्दरी रमणी थी। देखने में देवाङ्गनाओं को भी मात करती थी। उसके विवाह की बात सुनते ही चारों ओर से दूर-दूर के राजा महाराजा वहां आ आकर अपना भाग्य अजमाने लगे परन्तु उस धनुष की प्रत्यश्चा चढ़ाना तो दूर रहा, कोई उसको उसके स्थान में तिल भर भी इधर उधर न कर सका। जो लोग आते थे, वे इसी तरह विफल हो होकर लौट जाते थे। मानो उस धनुष का चढ़ाने वाला इस धरा धाम में उत्पन्न ही न हुआ था।

धीरे धीरे यह समाचार अनाधृष्टि के कानों तक जा पहुंचा। अनाधृष्टि वसुदेव का पुत्र था और मदनवेगा के उदर से उत्पन्न हुआ था। वह अपने को बड़ा ही बलवान मानता था और इसके लिए उसे अभिमान भी था। उसने धनुष चढ़ाने का विचार किया और एक तेज रथ पर बैठा कर शीघ्र ही मथुरा के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में उसे गोकुल गांव मिला। वह राम और कृष्ण से मिलने के लिए वहां एक रात ठहर गया। उनसे बहुत दिनों के बाद मुलाकात होने के कारण वह अत्यन्त आनन्दित हुआ।

दूसरे दिन सुबह अनाधृष्टि वहां से मथुरा जाने को निकला। राम और कृष्ण प्रेमपूर्वक उसे नगर के बाहर पहुँचाने आये। अनाधृष्टि को मथुरा का रास्ता मालूम न था, इसलिए उसने राम को तो बिदा कर दिया, किन्तु कृष्ण को रास्ता दिखाने के लिए अपने साथ ले लिया।

मथुरा का मार्ग बहुत ही संकीर्ण था और उसमें जहां तहां बड़े बड़े वृक्ष खड़े थे। गोकुल से कुछ ही दूर आगे बढ़ने पर अनाधृष्टि का रथ एक विशाल वट वृक्ष में फँस गया। अनाधृष्टि ने उसे बाहर निकालने की बड़ी चेष्टा की, बहुत हाथ पैर मारे, किन्तु किसी तरह भी वह रथ बाहर न निकल सका। यह देखकर कृष्ण रथ पर से नीचे कूद पड़े और उन्होंने क्षणमात्र में उस वृक्ष को उखाड़कर रथ का रास्ता साफ कर दिया। कृष्ण का यह बल देखकर अनाधृष्टि को बड़ा ही आनन्द हुआ और उसने प्रेमपूर्वक कृष्ण को गले से लगा लिया। इसके बाद वे दोनों रथ पर बैठकर पुनः आगे बढ़े और क्रमशः यमुना नदी पारकर निर्विघ्न रूप से मथुरा जा पहुंचे।

मथुरा पहुँचने के बाद दोनों जन यथासमय कंस की राजा सभा में गये। उस समय भी वहाँ पर अनेक राजा धनुष चढ़ाने के लिए उपस्थिति थे। धनुष के पास ही साक्षात् लक्ष्मी के समान कमलनयनी सत्यभामा बैठी हुई थी। जो उसे देखता था, वही उस पर मुग्ध हो जाता था। सत्यभामा ने भी कृष्ण को देखा। देखते ही वह उन पर आशिक हो गयी। उसने मन ही मन अपना तनमन उनके चरणों में समर्पण कर दिया। साथ ही उसने भगवान से प्रार्थना की कि—“हे भगवान्! मैं कृष्ण को अपना हृदय हार बनाना चाहती हूँ। तुम उन्हें ऐसी शक्ति दो कि वे धनुष चढ़ाने में सफलता प्राप्त कर सकें।”

इधर अनाधृष्टि ने धनुष चढ़ाने की तैयारी की, परन्तु ज्योंही वह धनुष को उठाने गया, त्योंही उसका पैर बेतरह फिसल गया और वह ऊंट की तरह मुँह के बल जमीन पर गिर पड़ा। इससे अनाधृष्टि का हार टूट गया, मुकुट सरक गया और कुण्डल कान से निकल गये। उसकी यह अवस्था देखकर सत्यभामा कुछ लज्जित हो गयी, इसलिए उसने अपना मुख फेर लिया, किन्तु अन्य नरेश अपनी हँसी न रोक सके और वे ठठाकर हँस पड़े। अनाधृष्टि भी इससे कुछ लज्जित हो गया और एक और जाकर अपने गहने-कपड़े ठीक करने लगा।

परन्तु राजाओं की यह हँसी कृष्ण को बहुत ही बुरी और अपमानजनक मालूम हुई। उन्होंने उसी समय पुष्पमाल की भाँति अनायास उस धनुष को उठा लिया और उसे एक ओर से झुकाकर क्षणमात्र में उसकी प्रत्यक्षा चढ़ा दी। कृष्ण वैसे भी परमतेजस्वी थे, किन्तु इस समय उनका चेहरा और भी चमक उठा। धनुष की प्रत्यक्षा चढ़ाने के लिए झुके हुए कृष्ण इस प्रकार शोभा देने लगे, जिस प्रकार वर्षाकाल में इन्द्रधनुष से युक्त मेघ शोभा देते हैं। धनुष की प्रत्यक्षा चढ़ाने के बाद कृष्ण ने उसे उसी स्थान में पूर्ववत् रख दिया और वे वहाँ से चुपचाप बाहर निकल आये।

यह सब बातें इतनी जल्दी हो गयी, कि धनुष किसने चढ़ाया, यह भी लोगों को अच्छी तरह मालूम न हो सका। कृष्ण राजसभा से बाहर निकल कर अनाधृष्टि के पास आये और दोनों जन रथपर बैठकर वसुदेव के पास आये। वहाँ कृष्ण को रथपर छोड़ कर अनाधृष्टि अकेला ही पिता से मिलने गया। उसे

यह कहने में लज्जा मालूम हुई कि मैं धनुष को न उठा सका, इसलिए उसने अपने पिता से कहा—“हे पिताजी! अन्यान्य राजा जिसे छू भी न सके थे, उस शारंग धनुष को मैंने अनायास चढ़ा दिया है।”

पुत्र के यह वचन सुनकर वसुदेव ने घबड़ा कर कहा—“यदि यह बात ठीक है, तो है अनाधृष्टि! तुम इसी समय मथुरा से चले जाओ। यहां तुम्हारी खैर नहीं है। ज्योंही कंस को यह हाल मालूम होगा त्योंही यह तुम्हें मरवा डालेगा।”

पिता की यह बात सुनकर अनाधृष्टि ने कृष्ण के साथ उसी समय मथुरा नगरी छोड़ दी। वह वहां से गोकुल में आया और राम तथा कृष्ण से बिदा ग्रहण कर चुपचाप शौर्यपुर चला गया।

अनाधृष्टि ने यद्यपि अपने पिता से कहा था, कि धनुष मैंने चढ़ाया है, तथापि सत्य बात अधिक समय तक छिपी न रह सकी। चारों ओर यह बात जाहिर हो गयी कि नन्द कुमार ने धनुष चढ़ाया है। यह समाचार सुनते ही कंस आग बबूला हो गया। उसने समारम्भ को रोककर समस्त मल्लों को मल्लयुद्ध का आयोजन करने की आज्ञा दी। जो राजा शारंग के उत्सव में भाग लेने आये थे, वे भी यह मल्लयुद्ध देखने को ठहर गये। इस मल्लयुद्ध के अन्दर कंस की क्या दुरभिसन्धि छिपी है, यह वसुदेव को भली भांति मालूम थी। वे जानते थे कि इसके बहाने उनके प्रिय पुत्र का प्राण लेने की चेष्टा की जायगी। संभव है कि इस समय कोई और भी अनर्थ हो जाय, वह सोचकर उन्होंने इस अवसर पर अपने समस्त ज्येष्ठ और अकूर आदि पुत्रों को मथुरा बुला लिया। कंस जिसे मारने की तैयारी कर रहा था, वसुदेव भीतर ही भीतर उसे बचाने की तैयारी करने लगे।

धीरे-धीरे मल्लयुद्ध का दिन भी आ पहुंचा। अखाड़े के चारों ओर दर्शकों के बड़े बड़े सुशोभित मंच तैयार कराये गये थे। कंस ने अपने लिये भी एक ऊंचा मंच बनवाया था। नियत समय पर वसुदेव और उनके पुत्रादिक अन्यान्य राजाओं के साथ यथोचित स्थान में बैठाये गये और सब लोग बड़ी उत्सुकता के साथ मल्लों के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

उधर गोकुल में राम और कृष्ण ने भी इस उत्सव का समाचार सुना।

कृष्ण इसे देखने के लिए लालायित हो उठे। उन्होंने बलराम से कहा—
“भाई! मुझे यह उत्सव देखने की बड़ी इच्छा है। तुम कहो तो हम लोग आज
मथुरा चलें और इस उत्सव को देख आयें!”

कृष्ण के इस प्रस्ताव से, राम सहमत हो गये। दोनों जन शीघ्रतापूर्वक
घर आये और मथुरा जाने की तैयारी करने लगे। कृष्ण की इच्छा थी, कि
स्नानादिक से निवृत्त होकर मथुरा के लिए प्रस्थान किया जाय, इसलिए उन्होंने
यशोदा से स्नान की तैयारी कर देने को कहा। परन्तु यशोदा दूसरे काम में
लगी हुई थी, इसलिए कृष्ण की बात पर वे ध्यान न दे सकी। इधर राम की
बहुत दिनों से इच्छा थी कि कृष्ण को उनके बन्धुओं के वध का समाचार
बतलाकर यशोदा का प्रकृत परिचय दे दिया जाय। उन्होंने इस अवसर से
लाभ उठाकर हँसते हुए यशोदा से कहा—“मालूम होता है कि तुम अपने
पिछले दिन भूल गयी हो, इसीलिए हमारी बातों पर अब ध्यान नहीं देती
हो।”

इतना कह राम ने कृष्ण से कहा—“चलो, यशोदा मैया को आज
फुसरत नहीं है। हम लोग यमुना में स्नान कर लेंगे।”

भाई की वह बात सुनकर कृष्ण उनके साथ चल तो दिये, किन्तु उन्होंने
यशोदा को जो शब्द कहे थे, वह उन्हें अच्छे न लगे। इससे उनका चेहरा कुछ
उतर गया। यमुना के तटपर पहुंचने पर बलराम ने कृष्ण से पूछा—“भाई!
अभी तक तो तुम बहुत प्रसन्न थे। अब उदास क्यों दिखाई देते हो?”

कृष्ण ने गद्गद् स्वर से कहा—“माता यशोदा को मैं बड़े आदर की
दृष्टि से देखता हूँ। तुम भी अब तक ऐसा ही करते थे, किन्तु आज तुमने उनसे
कठोर वचन कहकर अच्छा नहीं किया।”

बलराम ने कहा—“भाई कृष्ण! मैंने यशोदा से जो कुछ कहा था, वह
हंसी में कहा था, उनका दिल दुखाने के लिए नहीं। मेरा विश्वास है कि उन्हें
इससे बुरा भी न लगा होगा।”

कृष्ण ने कहा—“वे हमारी माता हैं, इसलिए हमें ऐसे वचन न कहने
चाहिए।”

बलराम ने नम्रतापूर्वक कहा—“भाई! तुम्हारा कहना ठीक है, यशोदा

भी हमारी माता ही है, परन्तु हमारे प्रकृत माता पिता तो ओर ही हैं।”

कृष्ण यह सुनकर चकित हो गये। बलराम ने धीरे से कहा—“यशोदा हमारी प्रकृत माता और नन्द हमारे प्रकृत पिता नहीं है। तुम्हारी प्रकृत माता का नाम देवकी है, जो देवक राजा की पुत्री है। हमारे पिता संसार में वीर शिरोमणि और परम सुन्दर माने जाते हैं। उनका नाम वसुदेव है। माता देवकी गो पूजन के बहाने प्रतिमास एक बार यहां आती हैं और तुम्हें देख जाती है। जिस समय वे यहां आती है, उस समय उनके स्तनसे झरने वाले दुग्ध और अश्रुओं से जमीन तक भीग जाती है। हमारे पिता वसुदेव कंस के आग्रह से इस समय मथुरा में ही रहते हैं, क्योंकि दाक्षिण्यता के भण्डार हैं। मैं तुम्हारा सौतेला भाई हूँ, किन्तु उग्र में तुमसे बड़ा हूँ। इसीलिए पिताजी ने तुम्हारे साथ रहने का आदेश दिया है।”

कृष्ण का आश्चर्य और भी बढ़ गया। उन्होंने विकसित नेत्रों से पूछा—“पिताजी ने मुझे अपने पास न रखकर यहां क्यों भेज दिया है?” इस प्रश्न के उत्तर में बलराम ने कृष्ण को अपने भाईयों के मारे जाने का सारा हाल कह सुनाया। कृष्ण ज्यों ज्यों वह हाल सुनते जाते थे, त्यों त्यों क्रोध और घृणा के कारण उनके शरीर में कम्पन्न उत्पन्न होता जाता था। बलराम की बातें जिस समय पूर्ण हुई, उस समय कृष्ण की अवस्था कुचले हुए सर्प की सी हो रही थी। उन्होंने हाथ में यमुना का जल लेकर उसी समय कंस को मारने की प्रतिज्ञा की।

इसके बाद दोनों भाई यमुना के जल में उतरकर प्रसन्नता पूर्वक स्नान करने लगे। उसी स्थान पर कालियनाग भयंकर सर्प रहता था। वह कृष्ण को देखते ही उनकी ओर झपट पड़ा। बलराम सावधान थे, इसलिए कालियनाग के फन पर मणि की चमक देखकर वे चोंक पड़े। उन्होंने चिल्लाकर कृष्ण का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करना चाहा, परन्तु कृष्ण इसके पहले ही उसे देख चुके थे। इसलिए उन्होंने उसी समय कमल की भांति एक हाथ से उसे पकड़ लिया और कमलनाल द्वारा दूसरे हाथ से उसे नाथ डाला। इसके बाद उसकी पीठ पर बैठकर उन्होंने बड़ी देर तक उसे जल में घुमाया। अन्त में कालियनाग जब थककर परेशान हो गया, तब कृष्ण ने उसे छोड़ दिया। इसके बाद वे भी स्नान कर जल से बाहर निकल आये।

इसी समय और भी अनेक लोग यमुना में स्नान करने आये थे। कृष्ण का यह अद्भुत कार्य देखकर वे सब चकित हो गये। ज्योंही कृष्ण जल से बाहर निकले, त्योंही उन्होंने चारों ओर से उनको घेर लिया। सब लोग कृष्ण पर मुग्ध हो रहे थे और मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा कर रहे थे। वहां स्नान करने वाले ब्राह्मणादि ने कालिय नाग दमन की बात चारों फैदा दी। कृष्ण ने शीघ्र ही अपने गोपबन्धुओं के साथ वहां से मथुरा के लिए प्रस्थान किया।

यथासमय दोनों भाई मथुरा जा पहुँचे। वहां पर नगर के मुख्य द्वार पर पद्मोत्तर और चम्पक नामक दो मदोन्मत्त हाथी कंस ने खड़े करवा दिये थे। महावतों का संकेत पाते ही वे बलराम और कृष्ण की ओर झपट पड़े। कृष्ण ने पद्मोत्तर का सामना किया और बलराम ने चम्पक का, दोनों ने दोनों के दांत उखाड़ डाले और मुष्टि प्रहार द्वारा उनकी जीवन लीला वहीं समाप्त कर दी। लोग उनका यह पराक्रम देखकर चकित हो गये। उन्हें जब यह मालूम हुआ कि यही नन्द के दोनों पुत्र हैं और इन्होंने ही अरिष्टादि का संहार किया है, तब उन्हें और भी आश्चर्य हुआ और वे उनकी ओर संकेत कर करके आपस में काना फुसी करने लगे।

इसी प्रकार लोगों का ध्यान अपनी और आकर्षित करते हुए राम और कृष्ण गोपमण्डली के साथ कंस के उस अखाड़े में जा पहुँचे, जहां मल्लयुद्ध का आयोजन हो रहा था। वहां उन दोनों को बैठने की कोई जगह न दिखायी दी, इसलिये उन्होंने एक सुशोभित मश्र के लोगों को ढकेल कर उस पर अधिकार जमा लिया। इसके बाद बलराम ने संकेत द्वारा कृष्ण को कंस का परिचय दिया, जो एक ऊंचे मंच पर बैठा हुआ था। कंस के पीछे वसुदेव और समुद्रविजय आदि बैठे हुए थे। बलराम ने कृष्ण को क्रमशः उनका भी परिचय दिया। इन देवकुमार सदृश दोनों बालकों की ओर शीघ्र ही सभा के समस्त लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ और वे भी आंखें फाड़कर उन दोनों को देखने लगे।

शीघ्र ही मल्लयुद्ध प्रारंभ हुआ। अखाड़े में छोटे मोटे पहलवानों के कई जोड़े उतरे और उन्होंने अपना कौशल दिखाकर दर्शकों का मनोरञ्जन किया। इसके बाद कंस के आदेश से चाणूर मल्ल खड़ा हुआ और मेघ गर्जना की भांति ताल ठोक कर अखाड़े में चारों ओर चक्कर काटने लगा। उसे अपने जोड़ का

कोई मल्ल न दिखायी दिया इसलिए उसने सभाजनों को चुनौती देते हुए कहा—“जो वीर कुल में उत्पन्न हुआ हो या जो अपने को वीर मानता हो, उसमें मैं युद्ध के लिए निमन्त्रित करता हूँ। वह अखाड़े में कूदकर मेरे साथ अपना बल आजमाये और मेरी युद्ध पिपासा को पूर्ण करे!”

चाणूर की यह ललकार सुनकर सब लोग चुप हो गये। सभा में घोर सन्नाटा छा गया। किसी में भी ऐसी शक्ति न थी, जो उसकी चुनौती स्वीकार करे परन्तु महाभुज कृष्ण के लिए चाणूर का यह गर्वपूर्ण वचन असह्य हो पड़ा। वे अपना पीताम्बर दूर फेंककर अखाड़े में कूद पड़े और ताल ठोंककर चाणूर के सामने खड़े हो गये। उनका यह कार्य देखकर सब लोग बड़े आश्चर्य में पड़ गये। वे कहने लगे—“कहाँ चाणूर और कहां कृष्ण। चाणूर अवस्था और डील डौल में बहुत बड़ा है। उसका शरीर भी कर्कश हैं। मल्ल युद्ध उसका व्यवसाय है, उसी पर उसकी जीविता निर्भर करती है, इसलिए उसकी प्रकृति में क्रूरता आ गयी है किन्तु यह नन्दकुमार तो अभी दुग्धमुँहा बच्चा है। इसका शरीर कमल गर्भ से भी अधिक कोमल है। इसलिए चाणूर और इसका जोड़ बहुत ही अनुचित है। इनकी कुरती इनका युद्ध देखना भी सभ्य समाज के लिए पाप रूप है!”

इस प्रकार की चर्चा के कारण चारों ओर भयंकर कोलाहल मच गया। कंस भला इसे कैसे पसन्द कर सकता था? कृष्ण को किसी न किसी तरह मरवा डालना, यह तो उसका अभीष्ट ही था। उसने क्रुद्ध होकर कहा—“इन उन्मत्त गोप बालकों को यहां किसने बुलाया है? मालूम होता है कि यह अपने आप ही यहां आये हैं और स्वेच्छा से ही मल्लयुद्ध करने को तैयार हुए हैं। ऐसी अवस्था में इन्हें रोकना ठीक नहीं। हां, यदि किसी को यह बुरा मालूम होता हो तो वह सामने आकर इन्हें सहर्ष रोक सकता है।”

कंस के यह क्रूरतापूर्ण वचन सुनकर सब लोग चुप हो गये, किसी को भी उसके सामने यह साहस न हुआ कि, इस अन्यायपूर्ण कार्य का विरोध करे, क्योंकि सभी लोग यह जानते थे कि कंस के कार्य का विरोध करना, मृत्यु को निमन्त्रण देना है। अन्त में इस श्मशान की सी शान्ति को भंग करते हुए कृष्ण ने गम्भीर स्वर में सभाजनों से कहा—“आप लोग चिन्ता न करें!

चाणूर का शरीर बहुत हृष्ट पुष्ट है, नित्य की कसरत के कारण इसका शरीर कसा हुआ है, कंस ने इसे न जाने कितना माल खिला दिया है, इसलिए आप लोगों की चिन्ता स्वाभाविक है। मैं एक साधारण गोप बालक हूँ, गो दुग्ध के सिवा खाने पीने की और कोई चीज मुझे नसीब भी नहीं होती, फिर भी आप लोग जरा तमाशा देखिए। इसकी भी आज वही दशा होगी, जो सिंहशावक के सामने मदोन्मत्त हाथी की होती है।”

कृष्ण के यह वचन सुनकर कंस कांप उठा। किन्तु उसने अपने इस भाव को प्रकट न करके कहा—“यह बालक बहुत ही अभिमानी मालूम होता है, इसलिए मैं मूष्टिक नामक महामल्ल को भी इसी समय इससे युद्ध करने का आदेश देता हूँ।”

कंस का यह कहना था कि मूष्टिक भी लंगोट कस कर अखाड़े में कूद पड़ा। पहले यदि अन्यान्य हो रहा था, तो अब महाअन्याय होने की तैयारी होने लगी। बलराम भला इसे कब बर्दाश्त कर सकते थे। मूष्टिक के साथ ही वे भी मध्य पर से अखाड़े में कूद पड़े। कृष्ण ने चाणूर को और बलराम ने मूष्टिक को अपने साथ युद्ध करने को ललकारा। दोनों जोड़ बेजोड़ होने पर भी देखने लायक थे। समस्त सभा की आंखें उधर ही जाकर स्थिर हो गयी। कृष्ण और बलराम दोनों अपने प्रतिस्पर्धा से नागपाश की तरह उलझ गये और बेतरह भुजायुद्ध करने लगे। युद्ध क्या आरम्भ हुआ, मानो प्रलय उपस्थित हो गया। जिस समय वे भूमिपर दृढ़ता पूर्वक अपने चरण स्थापित करते, उस समय मानो पृथ्वी हिल उठती और जिस समय ताल ठोकते या विभिन्न अंगों पर हाथ की थपकी लगाते, उस समय मानो ब्रह्माण फटने लगता। जिस समय कृष्ण और बलराम उन महामल्लों को गेंद की तरह अनायास ऊपर उछाल देते, उस समय लोगों के आनन्द का वारापार न रहता और उनके मुख से हर्ष की किलकारियाँ निकल पड़ती। चाणूर और मूष्टिक भी उन वीर बालकों को उठा फेंकने की चेष्टा करते, किन्तु उन्हें इसमें लेशमात्र भी सफलता नहीं मिल रही थी।

दोनों ओर से इसी तरह के दांवपेंच बहुत देर तक चलते रहे। अन्त में जिस प्रकार गजराज अपने दन्तशूलों द्वारा पर्वत पर प्रहार करता है, उसी प्रकार

कृष्ण ने चाणूर के हृदय पर एक जबर्दस्त मुक्का जमाया। महामानी चाणूर इससे तिलमिला उठा और उसने भी कृष्ण के हृदय पर एक ऐसा मुक्का जमाया कि, कृष्ण को चक्करसा आ गया और वे अर्धमूर्छित अवस्था में भूमि पर गिर पड़े।

कंस बड़ा ही पापी और कपटी था। उसने इसी अवस्था में कृष्ण पर प्रहार करने का चाणूर को संकेत किया। चाणूर संकेत पाते ही कृष्ण की ओर लपका। लोगों को भय हुआ कि वह अब उन्हें कदापि जिन्दा न छोड़ेगा और शायद होता भी ऐसा ही, किन्तु बलराम का ध्यान इसी समय उसकी ओर आकर्षित हुआ और वे मुष्टिक को छोड़कर चाणूर पर टूट पड़े। उन्होंने चाणूर के हृदय पर चन्द्र समान एक घूसा जमाया, जिससे वह सात धनुष दूर जा गिरा। इसी बीच कृष्ण भी सावधान हो गये और उन्होंने ताल ठोककर फिर चाणूर को युद्ध के लिये ललकारा। चाणूर उनकी ललकार सुनकर फिर उनसे आ भिड़ा। इस बार महापराक्रमी कृष्ण ने घुटने से उसके शरीर का मध्यभाग दबा, हाथ से उसका शिर झुकाकर उसके ऐसा मुक्का मारा कि उसके मुख से रक्त की धारा बह निकली, हाथ पैर झीले पड़ गये और दोनों नेत्र निस्तेज हो गये। उसने कृष्ण को छोड़ दिया और दूसरे ही क्षण उसके प्राणपंखेरू सदा के लिये इस संसार से विदा हो गये।

कृष्ण की इस विजय से यद्यपि दर्शकों को असीम आनन्द हुआ, किन्तु कंस के भय से किसी को हर्षध्वनि तक करने का साहस न हुआ। कंस तो चाणूर की मृत्यु देखकर भय और क्रोध से कांप उठा। उसने कहा—“इन दोनों गोप बालकों को शीघ्र ही मार डालो और इन दोनों सर्पों को दूध पिलाकर बड़ा करने वाले नन्द को भी मार डालो। उस पापी की समस्त सम्पत्ति लूट लो! जो उसे बचाने की चेष्टा करे या उसके पक्ष की कोई बात कहे, उसे भी उसी क्षण मार डालो।”

उसके यह वचन सुनकर कृष्ण को क्रोध आ गया। उनके दोनों नेत्र रक्त कमल की भांति लाल हो गये। उन्होंने गर्जना कर कहा—“हे पापिष्ठ! चाणूर की मृत्यु हो जाने पर भी तेरा होश अभी ठिकाने नहीं आया? हे दुष्ट! पहले तू अपनी रक्षा कर ले, फिर नन्दादिक को मरवाने की फिक्र करना! अब मैं तुझे भी कदापि जिन्दा न छोड़ूंगा।”

इतना कहकर कृष्ण उछलकर कंस के मथ पर चढ़ गये और उसके केश पकड़कर उसे भूमि पर गिरा दिया। भूमि पर गिरते ही कंस का मुकुट टूट कर चूर चूर हो गया और उसके कपड़े फट गये। उसकी अवस्था ठीक वैसी ही हो गयी, जैसी वध स्थान में बँधे हुए बकरे की होती है। कृष्ण ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—“हे दुष्ट! तूने अपनी रक्षा के लिए व्यर्थ ही बाल हत्याएँ की। देख, अब तेरा काल तेरे सामने खड़ा है। हे दुष्ट! हे नीच! हे नराधम! अब तू अपने कर्म का फल भोगने को तैयार हो जा!”

इतना कहकर कृष्ण, कंस की ओर झपटे। इसी समय बलराम ने मुष्टिक मल्ल को मार डाला। कंस की ओर कृष्ण को अग्रसर होते देखकर कंस के अनेक सैनिक विविध शस्त्र लेकर उन्हें मारने दौड़े, किन्तु बलराम ने मथ के स्तम्भ उखाड़ कर उनको इस तरह मारा कि वे छते पर बैठी हुई मधु मक्खियों की भांति भाग खड़े हुए। इसी समय कृष्ण ने कंस के शिर पर पैर रखकर उसे भूमि पर गिरा दिया, और मुष्टि प्रहार द्वारा उसकी इहलोक लीला समाप्त कर दी। उसके बाद उसके केश पकड़कर वे उसे मण्डप के बाहर घसीटकर ले गये। कंस की यह दुर्दशा देखकर जरासन्ध के सैनिक, जिन्हें, कंस ने अपनी रक्षा के लिए बुला रखा था, राम और कृष्ण से युद्ध करने के लिए तैयार हुए। यह देखकर राजा समुद्रविजय भी सामने आ खड़े हुए। जरासन्ध की सेना को युद्ध के लिए प्रस्तुत देखकर उन्होंने भी अपनी सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दी। इससे जरासन्ध के सैनिकों की हिम्मत टूट गयी और वे उसी क्षण वहाँ से भाग खड़े हुए।

इस प्रकार मैदान साफ हो जाने पर समुद्रविजय के आदेश से अनाघृष्टि, बलराम और कृष्ण को रथ में बैठाकर वसुदेव के वासस्थान में छोड़ आया। वहाँ पर समस्त यादवों की एक सभा एकत्र हुई, जिसमें वसुदेव ने बलराम और कृष्ण को अपनी गोद में बिठाकर, उनका दुलारकर, उनके बल विक्रम की भूरि भूरि प्रशंसा की। वसुदेव का यह कार्य देखकर उनके भाईयों ने भी आश्चर्य प्रकट किया और बलराम तथा कृष्ण का वास्तविक परिचय पूछा। इस पर वसुदेव ने अतिमुक्तक मुनि के आगमन से लेकर कृष्ण के जन्म आदिक का सारा हाल उन्हें कह सुनाया।

वसुदेव के मुख से यह सब हाल सुनकर समुद्रविजय के हृदय में वात्सल्य का स्रोत उमड़ पड़ा। उन्होंने भी कृष्ण को अपनी गोद में बिठाकर उनका बड़ा प्यार किया और यत्नपूर्वक उनकी रक्षा करने के लिए बलराम की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। वसुदेव के अन्यान्य भाई भी इसी तरह उन दोनों को गोद में ले लेकर उनकी प्रशंसा करने लगे। इसी समय देवकी भी वहां आ पहुंची। उनके साथ वह कन्या भी थी, जिसे कंस ने नासिका छेदकर जीवित छोड़ दिया था। उन्होंने भी कृष्ण को गले लगाकर बड़ा प्यार किया।

यादवों ने आश्चर्य के साथ वसुदेव से पूछा—“हे महाभुज! आप अकेले ही समूचे जगत को जीतने में समर्थ हैं, फिर भी आप अपने पुत्रों को जन्मते ही मारने के लिए निर्दय कंस के हाथ में क्यों सौंप देते थे? उसका यह कार्य आप कैसे सहन कर लेते थे?”

वसुदेव ने कहा—“संसार में सत्य से बढ़कर और कोई चीज नहीं है। सत्य की रक्षा करने के लिए ही मैंने उसका यह दुष्कर्म सहन किया है। मैं तो कृष्ण को भी जन्मते ही उसके हाथों में सौंप देता, परन्तु देवकी के आग्रह से मैं इसे गोकुल में रख आया था और वहां से नन्द पुत्री को अपने यहां ले आया था। कंस ने जाकर देखा कि देवकी के सातवें गर्भ से कन्या उत्पन्न हुई है, तब उसने उपेक्षा के भाव से उसकी नाक छेदकर उसे जीवित छोड़ दिया। देवकी के साथ तुम लोग इस समय जिस कन्या को देख रहे हो, वह वही कन्या है।”

इसके बाद राजा समुद्रविजय ने अपने बन्धुओं की सम्पत्ति से राजा उग्रसेन को बन्दीगृह से मुक्त कराया और उसके साथ समुद्रविजय आदि राजाओं ने यमुना नदी के तट पर कंस की उत्तर क्रिया की। कंस की माता और पत्नी आदि ने भी यमुना में स्नानकर उसे जलाञ्जली दी किन्तु जीवयशा ने लोगों के हजार समझाने बुझाने पर भी अपने पति को जलाञ्जली न दी। उसने सबके सामने उच्च स्वर से प्रतिज्ञा की कि बलराम और कृष्ण तथा समस्त सन्तान सहित दसों दशाहों को मरवाने के बाद ही मैं अपने पति की उत्तर क्रिया करूंगी। अन्यथा मैं स्वयं चिता में जल मरूंगी।”

इस प्रकार प्रतिज्ञा कर वह अपने पिता के घर राजगृह नगर में चली गयी। इसके बाद बलराम और कृष्ण की इच्छानुसार राजा समुद्रविजय ने उग्रसेन को

मथुरा का राजा बनाया। राजा उग्रसेन ने इसी समय अपनी पुत्री सत्यभामा के साथ कृष्ण का ब्याह भी कर दिया। थोड़े ही दिनों पहले जहां उत्पात और अशान्ति का वायुमण्डल था, वहीं अब शान्ति, सुख और आनन्द की छटा दिखायी देने लगी।

उधर मथुरा से प्रस्थान कर जीवयशा यथासमय अपने पिता जरासन्ध के पास पहुंची। उसके बिखरे हुए केश, रोषपूर्ण, लाल लाल नेत्र और मूर्तिमान दरिद्रता का सा भयंकर रूप देखकर वे विचाराधीन हो गये। पूछताछ करने पर जीवयशा ने अतिमुक्तक मुनि के आगमन से लेकर कंस की मृत्यु पर्यन्त का सारा हाल उन्हें कह सुनाया। सुनकर जरासन्ध से कहा—“हे पुत्री! कंस ने आरम्भ में ही भूल की थी। उसे देवकी को मार डालना चाहिए था। न रहता बांस न बजती बांसुरी। यदि खेत न रहता तो अनाज ही क्यों पैदा होता? परन्तु हे पुत्री! अब तू रुदन मत कर। मैं कंस के घातकों को सपरिवार मारकर उनकी स्त्रियों को अवश्य रुलाऊंगा। यदि मैंने ऐसा न किया, तो मेरा नाम जरासन्ध नहीं।”

इस प्रकार पुत्री को सान्त्वना देने के बाद जरासन्ध ने सोम नामक एक राजा को दूत बनाकर राजा समुद्रविजय के पास मथुरा भेजा। उसने वहां जाकर उनसे कहा—“हे राजन्! राजा जरासन्ध ने कहलाया है कि मेरी पुत्री जीवयशा मुझे प्राण से भी अधिक प्यारी है। उसके कारण उसका पति भी मुझे वैसा ही प्यारा था। आप और आपके सेवक सहर्ष रह सकते हैं, परन्तु कंस को मारने वाले इन बलराम और कृष्ण नामक क्षुद्र बालकों को हमारे हाथों में सौंप दीजिए। देवकी का सातवां गर्भ तो कंस को देने के लिए आप लोग पहले ही से बाध्य थे। खैर तब न सही, अब उसे दे दीजिए। बलराम ने कृष्ण की रक्षा की है, इसलिए वह भी अपराधी है।”

समुद्रविजय ने उत्तर दिया—“जरासन्ध हमारे मालिक है, परन्तु उनकी अनुचित आज्ञा हम लोग कैसे पालन कर सकते हैं? वसुदेव ने अपनी सरलता के कारण देवकी के छः गर्भ कंस को सौंप दिये, सो उसने कोई अच्छा कार्य नहीं किया। बलराम और श्रीकृष्ण ने कंस को मारकर अपने उन्हीं भाईयों का बदला लिया है, इसलिए वे अपराधी नहीं कहे जा सकते। यदि वसुदेव बाल्यावस्था से स्वेच्छचारी न होता और हमारी सम्मति से सब काम करता

रहता, तो उसके छः पुत्र कंस के हाथ से कभी न मारे गये होते। अब तो यह बलराम और कृष्ण हमें प्राण से भी अधिक प्रिय हैं। इनका प्राण लेने के लिए इनकी याचना करना घोर अन्याय और धृष्टता है। स्वामी की यह आज्ञा हमलोग कदापि नहीं मान सकते।”

यह सुनते ही कृष्ण ने क्रुद्ध होकर कहा—“हे सोम! हम लोगों ने शिष्टाचार के कारण तुम्हारे स्वामी के प्रति जो आदरभाव दिखलाया, उससे क्या वह हमारा स्वामी हो गया? जरासन्ध को हम लोग किसी तरह अपना स्वामी नहीं मान सकते। तुम्हारे स्वामी ने जो सन्देश भेजा है, उससे मालूम होता है, कि वह भी अपनी वही गति कराना चाहता है, जो कंस की हुई है। इससे अधिक हमें कुछ नहीं कहना है। तुम्हें जो इच्छा हो, उससे जाकर कह सकते हो?”

यह सुनकर सोम और भी क्रुद्ध हो उठा। उसने समुद्रविजय से कहा—“हे दशार्ह! तुम्हारा यह पुत्र कुलाङ्गार है। इसकी ऐसी धृष्टता कदापि क्षम्य नहीं हो सकती। तुम इसे हमारे हाथों में सौंप दो, फिर यह अपने आप ठीक हो जायगा।”

यह सुनकर अनाधृष्टि ने लाल लाल आँखें निकाल कर कहा—“पिता से बार-बार दोनों पुत्रों को मांगते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती? यदि अपने जामाता की मृत्यु से जरासन्ध को दुःख हुआ है, तो क्या हमें अपने छः भाइयों के मरने से दुःख नहीं हुआ? तुम्हारी इस धृष्टता को हम लोग कदापि क्षमा नहीं करेंगे।”

राजा समुद्रविजय ने भी इसी प्रकार सोम की बहुत भर्त्सना की। इससे सोम क्रुद्ध होकर राजगृही को वापस चला गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी मांग बहुत ही अनुचित थी और वह कभी भी पूरी न की जा सकती थी। इस अवस्था में समुद्रविजय ने उसे जो उत्तर दिया था, वह सर्वथा उचित ही था। फिर भी इस विचार से वे व्याकुल हो उठे, कि जरासन्ध को इस उत्तर से सन्तोष न होगा और यदि उसने हम लोगों पर आक्रमण कर दिया, तो उससे लोहा लेना भी कठिन हो जायगा।

इन्हीं विचारों के कारण राजा समुद्रविजय चिन्ता में पड़ गये। अन्त में

उन्होंने क्रोष्टुकि नामक ज्योतिषी को बुलाकर पूछा—“हे भद्र! तीन खण्ड के स्वामी राजा जरासन्ध से हमारा विग्रह उपस्थित हो गया है। कृपया बतलाइए कि अब क्या होगा?”

ज्योतिषी ने कहा—“कुछ ही दिनों के अन्दर यह महाबलवन्त राम और कृष्ण जरासन्ध को मारकर तीनों खण्ड के स्वामी होंगे। परन्तु आप लोगों का अब यहाँ रहना अच्छा नहीं। आप अपने समस्त बन्धु बान्धव और परिवार को लेकर समुद्र के किनारे पश्चिम दिशा को चले जाइए। यहाँ से प्रस्थान करते ही आपके शत्रुओं का नाश होना आरम्भ हो जायगा। आप लोग तब तक अपनी यात्रा में बराबर आगे बढ़ते जायें, जब तक सत्यभामा दो पुत्रों को जन्म न दे। इसके बाद जहाँ वह दो पुत्रों को जन्म दे, वहीं आप लोग नगर बसाकर बस जायें। ऐसा करने पर कोई भी आपका बाल बांका न कर सकेगा और उत्तरोत्तर आपका कल्याण ही होता जायगा।”

यह सुनकर राजा समुद्रविजय बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने उसी दिन डुगी पिटवाकर अपने प्रयाण की घोषणा करवा दी। इसके बाद मथुरा नगरी से अपने ग्यारह कोटि बन्धु बान्धवों को साथ लेकर वे शौर्यपुर गये और वहाँ से सातकोटि यादवों का दल विन्ध्याचल के मध्यभाग में होकर पश्चिम दिशा की ओर आगे बढ़ा। राजा उग्रसेन ने भी मथुरा में रहना उचित न समझा, इसलिए वे भी उन्हीं के साथ चल दिये।

उधर राजा सोम ने राजगृही में जाकर, समुद्रविजय की सब बातें जरासन्ध को कह सुनायी। सुनते ही जरासन्ध क्रोध से आग बबूला हो उठा। उसे क्रुद्ध देखकर उसके पुत्र कालकुमार ने कहा—“हे तात! आपके सामने वे डरपोक यादव किस हिसाब में हैं? यदि आप आज्ञा दें, तो मैं उन्हें समुद्र या अग्नि से भी खींचकर मार सकता हूँ। यदि मैं इस प्रतिज्ञा के अनुसार काम न करूँगा, तो अग्निप्रवेश कर अपना प्राण दे दूँगा और आपको भी अपना मुख न दिखाऊँगा।”

पुत्र के यह विरोचित वचन सुनकर जरासन्ध बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय कालकुमार को पांचसौ राजा और अगणित सेना के साथ यादवों पर आक्रमण करने के लिए रवाना किया। कालकुमार के साथ उसका भाई यवन सहदेव भी था। इन लोगों को चलते समय तरह तरह के अपशकुन हुए। यवन

सहदेव ने उनकी ओर कालकुमार का ध्यान भी आकर्षित किया, किन्तु उसने उसकी एक न सुनी। वह तेजी के साथ रास्ता काटते हुए सदलबल शीघ्र ही विन्ध्याचल की तराई में यादवों के समीप जा पहुंचा।

कालकुमार को समीप आया जानकर बलराम और कृष्ण के अधिष्ठायक देवताओं को यादवों की रक्षा करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इसलिए उन्होंने अपनी माया से एक पर्वत खड़ा कर, उसमें दावानल और एक बड़ी सी चिता का दृश्य उपस्थित किया और उस चिता के पास एक रोती हुई स्त्री को बैठा दिया। इस मायाविनी रमणी को देखते ही कालकुमार ने पूछा—“भद्रे! तुम कौन हो और इस प्रकार क्यों रुदन कर रही हो?”

उस रमणी ने दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बहाते हुए कहा—“मैं बलराम और कृष्ण की बहिन हूँ। जरासन्ध के भय से समस्त यादव इस ओर को भाग आये थे। किन्तु उन्होंने जब सुना कि कालकुमार अपनी विशाल सेना के साथ समीप आ पहुंचा है, तब वे भयभीत होकर इस दावानल में घुस गये। मैं समझती हूँ कि वे सब उसी में जल-मरे होंगे। बलराम, कृष्ण तथा समुद्रविजय आदि दशार्ह भी इससे बड़ी चिन्ता में पड़ गये। उन्हें अपनी रक्षा का कोई उपाय न सूझ पड़ा। इसलिए अभी कुछ ही क्षण पहले उन्होंने भी इस चिता में प्रवेश किया है। हे भद्र! मैं उन्हीं के दुःख से दुःखित हो रही हूँ और इस चिता में प्रवेश कर अपना प्राण देने जा रही हूँ।”

इतना कह, वह मायाविनी स्त्री उस चिता में कूद पड़ी। उसकी यह हरकत देख, कालकुमार को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया। उसने अपने पिता तथा बहिन के सामने यह प्रतिज्ञा की थी कि—“मैं यादवों को अग्नि या समुद्र से भी खींचकर मारूंगा, इसलिए उसने मन में कहा—“अब अग्निप्रवेश किये बिना काम नहीं चल सकता। किसी तरह हो, मैं अपनी प्रतिज्ञा अवश्य पूर्ण करूंगा।”

इतना कह कालकुमार अपनी तलवार खींचकर उस चिता में घुस पड़ा। उसके समस्त संगी साथी भी देवताओं की माया से मोहित हो रहे थे, इसलिए उन्होंने भी उसे न रोका और वह उनके सामने ही उस चिता में जलकर भस्म हो गया। इतने ही में सूर्यास्त होकर रात हो गयी, इसलिए यवन सहदेव ने सेना

सहित वहीं पर वास किया। किन्तु दूसरे दिन सुबह उठकर उन्होंने देखा, तो न कहीं वह पर्वत था, न कहीं वह चिता। उस स्थान पर केवल राजकुमार की मुट्टी भर हड्डियाँ पड़ी हुई थी। पता लगाने पर उन्हें यह भी मालूम हुआ कि यादव तो इस स्थान से बहुत दूर निकल गये हैं, और यह सब देव माया थी। यह जानकर यवन सहदेवादिक हताश हो गये और यादवों का पीछा छोड़कर, राजगृह को लौट आये।

कालकुमार की मृत्यु का समाचार सुनकर जरासन्ध मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। कुछ देर में जब उसकी मूर्च्छा दूर हुई, तब वह बहुत ही करुण क्रन्दन करने लगा। किसी ने ठीक ही कहा है, कि संसार में नाना प्रकार के भयंकर दुःख हैं, किन्तु पुत्र वियोग उन सब में बढ़कर है!

उधर यादवों ने जब कालकुमार की मृत्यु का समाचार सुना, तब उनको कुछ धैर्य आया। उन्होंने आनन्दपूर्वक क्रोष्टुकि ज्योतिषी का पूजन किया। इसी समय वहां अतिमुक्तक मुनि का आगमन हुआ। उन्हें देखकर समुद्रविजय ने वन्दना करते हुए नम्रतापूर्वक पूछा—“हे स्वामिन् इस संकट के कारण हम लोग बड़ी चिन्ता में पड़ गये हैं। इससे हम लोग किस प्रकार उद्धार पायेंगे।”

मुनिराज ने कहा—“हे राजन्! भय करने का कोई कारण नहीं है। यह तुम्हारा अरिष्टनेमि बाईसवां तीर्थकर और अद्वितीय बलवान होगा। यह बलराम और कृष्ण भी परम प्रतापी निकलेंगे। द्वारिकापुरी में रहते हुए वे जरासन्ध का वध कर अर्ध भरत के स्वामी होंगे।”

यह सुनकर राजा समुद्रविजय को अत्यन्त आनन्द हुआ, और उसने मुनिराज का यथोचित आदर सत्कार कर उन्हें आनन्दपूर्वक विदा किया। इसके बाद प्रयाण करते हुए यादवों का यह दल सौराष्ट्र देश में पहुंचा और वहां गिरनार के उत्तर पश्चिम में उसने डेरा डाला। यहीं पर कृष्ण की पत्नी सत्यभामा ने भानु और भाभर नामक परम रूपवान दो पुत्रों को जन्म दिया। इनका जन्म होने पर क्रोष्टुकी के आदेशानुसार कृष्ण ने स्नान और बलिकर्म कर अष्टम तप किया और उसके साथ ही समुद्र की भी पूजा की।

इस पूजा से प्रसन्न हो, तीसरे दिन रात्रि के समय सुस्थित नामक लवण समुद्र का अधिष्टायक देवता उपस्थित हुआ। उसने कृष्ण को पांच जन्म शंख

दिया तथा बलराम को सुघोष नामक शंख और दिव्य रत्न, माला और वस्त्रादिक दिये तदनन्तर उसने कृष्ण से कहा—“हे केशव! मैं सुस्थित नामक देव हूँ। आपने मुझे क्यों याद किया है? आपको जो काम हो, वह शीघ्र ही बतलाइए, मैं करने को तैयार हूँ।”

इस पर कृष्ण ने कहा—“प्राचीनकाल में यहां वासुदेवों की द्वारिका नामक जो नगरी थी और जो जल में विलीन हो गयी थी, उसमें हमलोग बसना चाहते हैं, इसलिये आप उसे समुद्रगर्भ से बाहर निकाल दीजिए!”

सुस्थित, देव तथास्तु कह, वहां से इन्द्र के पास गया और उनसे यह समाचार निवेदन किया। सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने उसी समय वहां बारह योजन लम्बी और नव योजन चौड़ी रत्नमयी द्वारिका नगरी निर्माण कर दी। उसके चारों ओर एक बड़ा भारी किला बनाया। साथ ही एक खण्ड से लेकर सात खण्ड तक के बड़े महल भी बना दिये, और हजारों जिन चैत्य भी निर्माण किये।

इन महलों में से एक महल का नाम स्वस्तिक था और वह नगर के अग्रिकोण में अवस्थित था। वह सोने का बना हुआ था और उसके चारों ओर एक किला भी बनाया गया था। यह महल राजा समुद्रविजय के लिए निर्माण किया गया था। इसी महल में समीप अक्षोभ्य और स्तिमित के लिए नन्दावर्त्त तथा गिरिकूट नामक महल बनाये गये थे। नगर के नैऋत्य कोण में सागर के लिए अष्टांश नामक महल बनाया गया था। हिमवान और अचल के लिए भी दो अलग महल बनाये गये और उनका नाम वर्धमान रक्खा गया था। वायव्य कोण में धरण के लिए पुष्पत्र, पूरण के लिए आलोक दर्शन और अभिचन्द्र के लिए विमुक्त नामक महल बनाये गये थे। ईशान कोण में वसुदेव का विशाल महल कुबेरच्छन्द नाम का बनवाया। इसी तरह नगर के मुख्य मार्ग पर राजा उग्रसेन के लिए भी स्त्री विहार क्षम नामक एक भारी महल बनाया गया था। यह सभी महल गढ़ द्वारा सुरक्षित और कल्पवृक्ष, गजशाला, अश्वशाला, सिंहद्वार तथा ध्वजादिक से सुशोभित थे।

इन सबों के मध्यभाग में बलदेव का पृथ्वीजय नामक बहुत बड़ा महल बनाया गया था। उससे कुछ दूरी पर अठारह खण्ड का सर्वतोभद्र नामक महल वासुदेव कृष्ण के लिये बनाया गया था। इस महल के सामने रत्न और मणि

मणिक्यमय सर्व प्रभासा नामक एक सभा गृह भी बनाया गया, जो बहुत ही मनोरम और दर्शनीय था।

इन चीजों के अतिरिक्त विश्वकर्मा ने एक सौ आठ हाथ ऊँचा जिन, प्रतिमा से विभूषित, और मेरु शिखर के समान ऊँचा एक जैन मन्दिर भी बनाया था। तालाब, कूप और उद्यान आदि तो स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार बना दिये गये। यह सब कुबेर ने केवल एक दिन और एक रात्रि अर्थात् 24 घण्टे में बना दिया। इस नगरी के पूर्व में गिरनार, दक्षिण में माल्यवान, पश्चिम में सौमनस और उत्तर में गन्धमादन नामक बड़े बड़े पर्वत अवस्थित थे। जिस समय यह मनोहर नगरी बनकर तैयार हुई, उस समय इन्द्रपुरी भी उसके सामने तुच्छ प्रतीत होने लगी।

प्रभात होने पर कुबेर ने कृष्ण को दो पीताम्बर, नक्षत्रमाला, मुकुट, कौस्तुभ नामक महारत्न, शारंग धनुष, अक्षय बाणवाले दो भाले, नन्दक नामक खड्ग, कौमोदकी नामक गदा और गरुड़ ध्वज नामक रथ दिया तथा बलराम को वनमाला नामक आभरण, हल, मूशल नामक दो आयुध दो वस्त्र, दो अक्षय भाले, एक धनुष और तालध्वज नामक रथ आदि वस्तुएं प्रदान की। इसके बाद अन्यान्य राजा जो कृष्ण और बलराम के पूज्य थे, उन्हें भी उस देव ने अनेक रत्न और आभूषण दिये।

तदनन्तर समस्त यादवों ने आनन्द पूर्वक पश्चिम समुद्र के तट पर कृष्ण का राज्याभिषेक कर नगर प्रवेश की तैयारी की। बलराम सिद्धार्थ सारथी के साथ और कृष्ण दारुक सारथी के साथ अपने अपने रथ पर आरूढ़ हुए। अन्यान्य राजाओं ने भी इच्छानुसार घोड़े, हाथी और रथादिक पर स्थान ग्रहण किया। इसके बाद उन दोनों वीरों ने गगनभेदी जयध्वनि के साथ नगर प्रवेश किया। इस अवसर पर कुबेर ने साढ़े तीन दिन तक नगर में रत्न मणि, मणिक्य, काशन, रजत, धन धान्य और उत्तमोत्तम वस्त्रों की वृष्टि की। इसके बाद पूर्वकथित विभिन्न महलों में कुबेर ने सबको वासस्थान दिया। इस प्रकार समस्त यादव आनन्द पूर्वक उस नगरी में बस गये और कुबेर उनकी मनोकामना पूर्ण करने लगे। थोड़े ही दिनों में यह द्वारिका नगरी सुख, शान्ति और सम्पदा की आगान बन गयी और यादवगण उसमें आनन्द पूर्वक निवास करने लगे।

तेरहवाँ परिच्छेद रुक्मिणी-हरण और प्रद्युम्न-जन्म



बलराम और कृष्ण अपने गुरुजनों की आज्ञा पालन करते हुए द्वारिकापुरी में आनन्दपूर्वक निवास करने लगे। बालक श्रीनेमिनाथ भगवान भी सब लोगों के साथ यहीं चले आये थे। उनका शरीर अब दिन प्रतिदिन उसी तरह बढ़ता जाता था, जिस तरह शुक्ल पक्ष में चन्द्र की कला बढ़ती है। बलराम और कृष्ण आदि भ्राता बड़े होने पर भी छोटे बनकर उद्यान और पर्वतों पर उनके साथ क्रीड़ा किया करते थे। क्रमशः जब उनका शरीर दस धनुष ऊँचा हुआ, तब उन्होंने यौवनावस्था में पदार्पण किया, परन्तु जन्म से ही कन्दर्प विजयी होने के कारण उनके हृदय में विकार का भाव जरा भी न दिखायी देता था। उनके माता पिता और राम कृष्णादिक बन्धव उनसे नित्य ही ब्याह के लिए प्रार्थना किया करते थे, किन्तु वे किसी भी कन्या का पाणिग्रहण करना स्वीकार न करते थे।

बलराम और कृष्ण अपना सारा समय क्रीड़ा कौतुक में ही व्यतीत करते थे। उन्होंने आस पास के अनेक छोटे बड़े राजाओं को अपने अधिकार में कर, द्वारिका में एक साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इस साम्राज्य पर कृष्ण का एकाधिपत्य था और वे बलराम की सहायता से उसका शासनकार्य सुचारु रूप से संचालन करते थे।

एक दिन नारद मुनि विचरण करते हुए कृष्ण के राजप्रसाद में जा पहुँचे। उन्हें देखकर कृष्ण और बलराम ने उनका बड़ा ही आदर सत्कार किया। तदन्तर वे वहाँ से प्रसन्न हो कृष्ण के अन्तःपुर में गये। वहाँ सत्यभामा दर्पण में

अपना मुख देख रही थी। वह इस कार्य में इस प्रकार तन्मय हो रही थी, कि नारद की ओर उसका ध्यान भी आकर्षित न हुआ। इससे नारद रुष्ट हो गये और चुपचाप वहां से बाहर निकल आये। वे अपने मन में कहने लगे—
 “वासुदेव के अन्तःपुर में सदा नारद को सम्मान मिलता रहा है, परन्तु आज सत्यभामा ने न तो मुझे आसन ही दिया, न मेरा आदर सत्कार ही किया। एक तो वह रूपवती है, दूसरे अपने पति को अत्यन्त प्यारी है। मालूम होता है कि इसी से इसे गर्व हो गया है। यदि कृष्ण का ब्याह किसी ऐसी रमणी से करा दिया जाय, जो इससे भी अधिक सुन्दर हो, तो इसका यह गर्व नष्ट हो सकता है। मेरा सम्मान करना तो दूर रहा, उसने मेरी और आंख उठाकर देखा भी नहीं। इस अपराध के लिए मैं उसे अवश्य दण्ड दूंगा।”

इस प्रकार विचार करते हुए नारद मुनि कुण्डिनपुर पहुँचे। वहां के राजा का नाम भीष्मक और राणी का नाम यशोमती था। उनके रुक्मी नामक एक पुत्र और रुक्मिणी नामक एक सुन्दर पुत्री थी। भीष्मक के राजमन्दिर में पदार्पण करते ही रुक्मिणी से नारद की भेट हो गयी रुक्मिणी ने आदरपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। नारद ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा—“अर्धभरत के स्वामी कृष्ण तुझे वर रूप में प्राप्त हो!”

रुक्मिणी ने चकित हो नम्रता पूर्वक पूछा—“मुनिराज! कृष्ण कौन हैं और कहां रहते हैं?”

रुक्मिणी का यह प्रश्न सुनकर नारद ने कृष्ण का परिचय देते हुए उनके अद्भुत और असाधारण शौर्यादिक गुणों का हाल उसे कह सुनाया। अपना उद्देश्य पूर्ण करने के लिए उन्होंने यह सब बातें इस ढंग से वर्णन की कि उनका निशान ठीक स्थान पर जा लगा और रुक्मिणी मन ही मन कृष्ण पर अनुरक्त हो गयी। उसने निश्चय किया कि जहां तक हो सके, कृष्ण से ही ब्याह करना चाहिए।

इसी समय नारद ने एक पट पर रुक्मिणी का चित्र अंकित कर लिया और रुक्मिणी के हृदय में अनुराग का बीज बोकर वे कृष्ण के पास लौट आये। पश्चात् उन्होंने उनको वह चित्र दिखाया। चित्र देखकर कृष्ण ने पूछा—“हे भगवान्! यह किस देवी का चित्र है?”

नारद ने कहा—“हे केशव! यह चित्र किसी देवी का नहीं, किन्तु कुण्डिनपुर की राजकुमारी रुक्मिणी का है। यह अभी अविवाहिता है।”

इसके बाद नारद ने उसके रूप और गुणों का वर्णन कर, कृष्ण के हृदय में भी उसके प्रति अनुराग उत्पन्न कर दिया। यही उनका उद्देश्य था। इतना कर वे अपनी वीणा बजाते हुए अन्यत्र के लिए प्रस्थान कर गये।

नारद के चले जाने पर कृष्ण ने रुक्मिणी के पिता के पास एक दूत भेजकर, मधुर शब्दों में रुक्मिणी की याचना की। रुक्मि दूत की बातें सुनकर हँस पड़ा। उसने कहा—“हे दूत! कृष्ण गोपाल अपने हीन कुल का विचार किये बिना; मूढ़ता पूर्वक मेरी बहिन की याचना करता है! उसके साथ मैं अपनी बहिन का ब्याह कदापि न करूँगा। मैंने तो उसका ब्याह राजा शिशुपाल के साथ करना स्थिर किया है। यह योग मणिकाशन की भांति शोभाप्रद प्रमाणित होगा।”

रुक्मि के यह वचन सुनकर कृष्ण का दूत द्वारिका लौट आया। उधर रुक्मिणी की धात्रीने यह हाल सुनकर स्नेहपूर्वक रुक्मिणी को अपने पास बुलाया और उससे कहा—“हे पुत्री! बाल्यावस्था में तुझे एकबार मेरी गोद में देखकर अतिमुक्तक मुनि ने कहा था कि यह कृष्ण की पटरानी होगी। मैंने पूछा—“हे भगवन्! कृष्ण को हम लोग किस प्रकार पहचानेंगे?” उन्होंने कहा—“पश्चिम में समुद्रतट पर जो द्वारिका नगरी बसाये, उसीको कृष्ण समझना!” तब से मेरी यही धारणा थी कि तुम्हारा ब्याह कृष्ण से ही होगा, परन्तु आज मैंने खेद के साथ सुना है कि तुम्हारे भाई ने कृष्ण के दूत को कटु वचन कह कर लौटा दिया और तुम्हारा ब्याह उसने दमघोष के पुत्र शिशुपाल के साथ करना निश्चित किया है।”

यह सुनकर रुक्मिणी हँस पड़ी। उसने कहा—“माता! क्या मुनि का वचन कभी मिथ्या हो सकता है? क्या प्रातः काल का मेघगर्जन भी कभी निष्फल होता है?”

रुक्मिणी के यह वचन सुनकर धात्री उसका आन्तरिक भाव समझ गयी। उसने गुप्तरूप से कृष्ण के पास एक दूत भेजकर उनसे कहला दिया कि माघ शुक्ला अष्टमी को मैं नागपूजा के बहाने रुक्मिणी के साथ उद्यान की ओर

जाऊंगी। यदि आप उससे ब्याह करना चाहते हों तो वहां उपस्थित रहें, वना उसका ब्याह शिशुपाल के साथ हो जायगा।”

उधर रुक्मि ने, रुक्मिणी से ब्याह करने के लिए शिशुपाल को निमन्त्रण दिया और वह यथासमय अपनी सेना के साथ कुण्डिनपुर आ पहुंचा। कलह प्रेमी नारद ने शीघ्र ही यह समाचार कृष्ण को जाकर सुनाया। सुनते ही कृष्ण भी बलराम के साथ एक रथ में बैठकर शीघ्रता पूर्वक कुण्डिनपुर जा पहुंचे। वहां से अपने साथ सेना या नौकर चाकरों को भी न लाये थे, इसलिए किसी को उनके आगमन का समाचार मालूम न हो सका।

धीरे धीरे माघ शुक्ल अष्टमी का दिन आ पहुंचा। रुक्मिणी की धात्री उस दिन अपने वचनानुसार नागपूजा के बहाने रुक्मिणी को उद्यान में ले गयी। वहां पहले से ही कृष्ण का रथ खड़ा था। कृष्ण रथ से उतर कर रुक्मिणी के पास गये। उसको अपना परिचय देते हुए कृष्ण ने कहा—“हे सुन्दरी! जिस प्रकार मालती की और भ्रमर खिंच आता है, उसी प्रकार तुम्हारे रूप और गुणों पर मुग्ध होकर मैं बहुत दूर से यहां खिंच आया हूँ। अब विलम्ब करने का समय नहीं है। तुम मेरे रथ में बैठ जाओ। हम लोग शीघ्र ही सुरक्षित रूप में द्वारिका पहुंच जायेंगे।”

धात्री को तो सब हाल पहले ही से मालूम था, इसलिए उसने रुक्मिणी को रथ पर बैठने का संकेत किया। रुक्मिणी का समूचा शरीर इस समय रोमाञ्चित हो उठा। उसे कुछ कुछ लज्जा और संकोच भी हो रहा था, फिर भी वह अपने हृदय को कड़ाकर उस रथ में बैठ गयी। कृष्ण ने उसी समय घोड़ों की लगाम ढीली कर दी और वे रथ को यहां से ले उड़े।

जब कृष्ण का रथ कुछ दूर निकल गया, तब उस धात्री तथा अन्यान्य दासियों ने अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने के लिए हल्ला मचाना आरम्भ किया। वे कहने लगी—“हे रुक्मिन्! हे रुक्मिन्! देखो बलराम और कृष्ण चोर की भांति बलपूर्वक तुम्हारी बहिन को हरण किये जा रहे हैं। जल्दी दौड़ो और उसे बचाओ।”

दासियों की यह पुकार सुनकर चारों ओर हाहाकार मच गया। महापराक्रमी रुक्मि और शिशुपाल शीघ्र ही अपनी अपनी सेना लेकर कृष्ण के पीछे दौड़

पड़े। तूफान की तरह उनको समीप आते देखकर रुक्मिणी घबड़ा उठी। उसने कृष्ण से कहा—“हे नाथ! मेरा भाई अत्यन्त क्रूर और महाबलवान है। शिशुपाल भी वैसा ही है। मालूम होता है कि वे दोनों विशाल सेना के साथ हमारे पीछे आ रहे हैं। आप तो केवल दो ही जन हैं, इसलिए मुझे चिन्ता हो रही है, कि हमारी न जाने क्या गति होगी।”

कृष्ण ने हँसकर कहा—“हे सुन्दरि! तुम्हें चिन्ता करने का कोई कारण नहीं। तुम क्षत्रिय पुत्री हो। यदि हम लोगों पर कोई विपत्ति भी आ पड़े, तो तुम्हें धैर्य से काम लेना चाहिए। वैसे, मैं तुम्हें बतला देना चाहता हूँ कि बेचारे यह रुक्मिणी आदि मेरे सामने किसी हिसाब में नहीं है। देखो, मैं तुम्हें अपने बल का एक छोटा सा नमूना दिखलाता हूँ।

इतना कह कृष्ण ने एक अर्धचन्द्र बाण उठाया और उस एक ही बाण से ताल वृक्षों की एक श्रेणी को कमलनाल की भांति काट कर उसे धराशायी बना दिया। इसके बाद उन्होंने अपनी अंगूठी से एक छोटा सा हिरा निकाला और रुक्मिणी के सामने ही चुटकी से उसे इस तरह मसल दिया कि, यह पके हुए, चावल की भांति पिस कर चूर्ण विचूर्ण बन गया। कृष्ण का यह बल देखकर रुक्मिणी को अत्यन्त आनन्द हुआ और उसे विश्वास हो गया कि रुक्मिणी और शिशुपाल आदि उनका बाल भी बांका नहीं कर सकते।

इसके बाद कृष्ण ने बलराम से कहा—“भाई! आप रुक्मिणी को लेकर आगे चलिए मैं रुक्मिणी आदि को पराजित कर शीघ्र ही आपसे आ मिलूंगा।”

बलराम ने कहा—“नहीं भाई! आप चलिए, उन सबों को परास्त करने के लिए मैं ही काफी हूँ!”

कृष्ण और बलराम की यह बातचीत सुनकर रुक्मिणी डर गयी। उसने कृष्ण से प्रार्थना कि—“प्राणनाथ! चाहे सबको मार डालिए। परन्तु मेरे भाई को अवश्य बचाइए! मैं नहीं चाहती कि मेरे पीछे उसका प्राण जाय और मेरे शिर पर कलंक का टीका लगे!”

रुक्मिणी की यह प्रार्थना सुनकर कृष्ण ने इसके लिए बलराम को सूचना दे दी। इसके बाद बलराम वहीं खड़े होकर शत्रु सेना की प्रतीक्षा करने लगे

और कृष्ण रुक्मिणी को लेकर शीघ्रता के साथ आगे बढ़ गये।

कुछ ही देर में रुक्मि और शिशुपाल एक बहुत बड़ी सेना लिये वहां आ पहुँचे। बलराम उनके स्वागत के लिए पहले ही खड़े थे। उन्होंने मूशलायुध फेंक कर बात ही बात में समस्त सेना को अस्तव्यस्त कर डाला। यदि वह हाथी और घोड़ों पर जा गिरता तो वे वहीं कुचल कर रह जाते और यदि रथ पर जा गिरता, तो वे घड़े की तरह टूट कर चूर्ण विचूर्ण हो जाते। इस प्रकार बलराम ने जब समस्त सेना को पराजित कर दिया, तब अभिमानी रुक्मि ने उनको ललकार कर कहा—“हे राम! केवल सेना को ही पराजित करने से काम न चलेगा। यदि तू अपने को वीर मानता हो, तो मेरे सामने आ! मैं तेरा मान मर्दन करने के लिए यहां तैयार खड़ा हूँ!”

रुक्मि की यह ललकार सुनकर बलराम को बड़ा क्रोध आया। वे चाहते तो उसी समय मूशल प्रहार द्वारा उसका प्राण ले लेते, परन्तु उन्हें कृष्ण की सूचना याद आ गयी, इसलिए उन्होंने मूशल को किनारे रख बाणों से उसका रथ तोड़ डाला, बख्तर तोड़ डाला और अश्वों को भी मार डाला। बलराम की इस मार से रुक्मि बहुत ही परेशान हो गया। बलराम ने इसी समय उस पर क्षुरप्र बाण छोड़कर उसके केश मूंड लिये। इसके बाद उन्होंने हँसते हुए कहा—“हे रुक्मि! तुम मेरे भाई की पत्नी के भाई हो, इसलिए मारने योग्य नहीं हो! तुम अब यहां से चले जाओ! तुम्हारा शिर मूंडकर मैं तुम्हें जीता छोड़ देता हूँ। तुम्हारे लिये इतना ही दण्ड काफी है।”

इतना कह बलराम ने उसे छोड़ दिया। किन्तु रुक्मि अपनी इस दुर्दशा से इतना लज्जित हो गया, कि उसे कुण्डिनपुर जाने का साहस ही न हुआ। उसने वहीं भोजकट नामक एक नया नगर बसाया और वहीं अपने बाल बच्चों को बुलाकर अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

उधर कृष्ण रुक्मिणी के साथ सकुशल द्वारका पहुँच गये। नगर प्रवेश करते समय कृष्ण ने रुक्मिणी से कहा—“हे देवि! देखो, यही देव निर्मित रत्नमय मेरी द्वारिका नगरी है यहां कल्पवृक्षों से विराजित सुरम्य उद्यान में, तुम्हारे रहने की व्यवस्था मैं कर दूंगा। तू वहां इच्छानुसार सुख भोग कर सकोगी।”

रुक्मिणी ने कहा—“हे नाथ! यह सब तो ठीक है, परन्तु आपकी अन्यान्य स्त्रियाँ तो बड़े ठाट बाठ के साथ यहां आयी है, उनके पिता तथा गुरुजनों ने बड़ी धूम के साथ, आपको विपुल सम्पत्ति देकर आपका ब्याह किया है, किन्तु मुझे तो आप अकेले ही एक बन्दिनी की भांति यहां ले आये हैं। हे प्रियतम! इससे आपकी वह स्त्रियां मेरा उपहास तो न करेंगी?”

कृष्ण ने कहा—“नहीं प्रिये! तुम्हारा कोई उपहास न करेगा। अन्तःपुर में मैं तुमको औरों से अधिक ऊंचा स्थान प्रदान करूंगा, ताकि किसी को वैसा करने का साहस ही न होगा।”

इस प्रकार रुक्मिणी को सान्त्वना देते हुए कृष्ण अपने राजमन्दिर में आ पहुँचे। तदनन्तर उन्होंने सत्यभामा के महल के निकट श्रीप्रासाद नामक महल में रुक्मिणी के लिये रहने की व्यवस्था कर दी और उसके साथ गान्धर्व विवाह कर वह रात्रि क्रीड़ा कौतुक में व्यतीत की।

कृष्ण ने रुक्मिणी के वासस्थान में जाने की सबको मनाई कर दी थी, इसलिए कोई भी उसे देख न पाता था। यह प्रतिबन्ध सत्यभामा के लिये असह्य हो पड़ा। वह रुक्मिणी, को देखने के लिए व्याकुल हो उठी, उसने देखने के लिए कृष्ण से अत्यन्त आग्रह किया। इस पर कृष्ण ने कहा—“अच्छा, कल तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण कर दूंगा।”

सत्यभामा से यह वादा करने के बाद कृष्ण को एक दिव्यगी सूझी। श्रीप्रासाद में लक्ष्मी की एक सुन्दर प्रतिमा थी। उन्होंने सज्जित कराने के बहाने, चतुर कारीगरों द्वारा उस प्रतिमा को वहां से हटवा दिया और उस स्थान में उस प्रतिमा की ही भांति रुक्मिणी को बैठा दिया इसके बाद उन्होंने रुक्मिणी से कहा—“सत्यभामा के साथ अन्य रानियाँ जिस समय तुम्हें देखने आयें, उस समय तुम इस तरह स्थिर हो जाना, जिससे वे यह समझ सकें कि तुम लक्ष्मी की मूर्ति हो?”

इस प्रकार व्यवस्था करने के बाद कृष्ण ने सत्यभामा आदि से कह दिया कि—“तुम श्रीप्रासाद में जाकर रुक्मिणी को सहर्ष देख सकती हो।” कृष्ण का यह वचन सुनकर वे सब रुक्मिणी को देखने गयीं। श्रीप्रासाद में प्रवेश करने पर पहले श्री मन्दिर पड़ता था। सत्यभामा ने सोचा कि चलो

पहले लक्ष्मीजी के दर्शन कर लें। यह सोच कर वे सब लक्ष्मी के मन्दिर में गयी और वहां सिर झुका झुका कर लक्ष्मी की प्रतिमा (रुक्मिणी) को प्रणाम करने लगी। सत्यभामा ने तो हथ जोड़कर यह भी प्रार्थना की कि—“हे देवि! तुम ऐसा करो कि मैं प्राणनाथ की नवीन पत्नी को रूप में जीत लूं। यदि मेरा यह मनोरथ सफल होगा, तो मैं भक्ति पूर्वक तुम्हारी पूजा करूंगी।”

इस प्रकार मित्रत मान, सत्यभामा अन्यान्य रानियों के साथ, रुक्मिणी को देखने के लिए, श्रीप्रसाद में उसकी खोज करने लगी। वे सब महल का कोना कोना खोज आयीं, परन्तु कहीं भी रुक्मिणी का पता न चला। पता चल भी कैसे सकता था? रुक्मिणी ने तो लक्ष्मी का स्थान ग्रहण कर लिया था। वहां से सब पहले ही हो आयी थी, किन्तु किसी को खयाल तक न आया था, कि यही रुक्मिणी है। अन्त में जब वे निराश हो गयी, तब कृष्ण के पास वापस लौट गयी। वहां कृष्ण से अपनी परेशानी का हाल उन्होंने कह सुनाया। सुनकर कृष्ण हँस पड़े। उन्होंने कहा—“अच्छा चलो, मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ।”

इतना कह कृष्ण उन सबों को अपने साथ लेकर श्रीप्रसाद में आये। रुक्मिणी इस समय भी पूर्व की ही भांति लक्ष्मी के स्थान में बैठी हुई थी। किन्तु इस बार कृष्ण को देखकर वह खड़ी हो गयी और उसने कृष्ण से कहा—“हे नाथ! मुझे मेरी इन बहिनों का परिचय दीजिए। जिससे मैं अपनी बड़ी बहिन को प्रणाम कर सकूँ।”

कृष्ण ने यह सुनकर रुक्मिणी को सत्यभाषा का परिचय देकर कहा—“यही तुम्हारी बड़ी बहिन है।”

यह सुनकर रुक्मिणी सत्यभामा को प्रणाम करने को उद्यत हुई, किन्तु सत्यभामा ने उसे रोक कर कहा—“नाथ! अब यह सर्वथा अनुचित होगा, क्योंकि अज्ञानता के कारण मैं इन्हें पहले ही प्रणाम कर चुकी हूँ।”

कृष्ण ने हँस कर कहा—“खैर, कोई हर्ज नहीं। बहिन को प्रणाम करना अनुचित नहीं कहा जा सकता।”

यह सुनकर सत्यभामा को बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और वह बिलखती हुई अपने स्थान को चली गयी। कृष्ण की इस युक्ति से रुक्मिणी अनायास

पटरानी बन गयी। कृष्ण ने उसके लिए ऐश्वर्य और ऐश आराम की समस्त सामग्रियाँ जुटा दी और वह वहीं रह कर कृष्ण के साथ आनन्द पूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगी।

कुछ दिनों के बाद, एक दिन नारद मुनि वहां आये। कृष्ण ने उनका पूजन कर पूछा—“हे भगवन्! आप तीनों लोक में सर्वत्र विचरण किया करते हैं। यदि कहीं कोई आश्चर्यजनक वस्तु दिखायी दी हो, तो उसका वर्णन कीजिए।”

नारद ने कहा—“हे केशव! मैंने हाल ही में एक आश्चर्यजनक वस्तु देखी है। वैताढ्य पर्वत पर जाम्बवान नामक एक विद्याधर राजा राज्य करते हैं। उनकी पत्नी का नाम शिवचन्द्रा है। उनके विश्वक् सेन नामक एक पुत्र और जाम्बवती नामक एक पुत्री हैं। वह अभी तक कुमारी है। उसके समान-रूपवती रमणी तीनों लोक में न तो मैंने देखी है, न सुनी ही है। वह राजहंसी की भांति क्रीड़ा करने के लिए सदा गंगा में जाया करती है। उसका अद्भुत सौन्दर्य देखकर ही मैं तुम्हें उसकी सूचना देने आया हूँ।”

कृष्ण को यह संवाद सुनाकर नारद तो अन्यत्र प्रस्थान कर गये। इधर कृष्ण ने जाम्बवती को अपनी रानी बनाने का निश्चय किया इसलिए वे अपनी सेन्य को लेकर वैताढ्य पर्वत पर जा पहुँचे। वहां पर उन्होंने देखा कि जाम्बवती अपनी सखियों के साथ खेल रही है। वह वास्तव में वैसी ही रूपवती थी, जैसा नारद ने बतलाया था। मौका मिलते ही उसे अपने रथ पर बैठाकर कृष्ण ने द्वारिका की राह ली। इससे चारों ओर घोर कोलाहल मच गया। जाम्बवान ने तलवार खींचकर कृष्ण का पीछा किया, किन्तु अनाधृष्टि ने उसे पराजित कर बन्दी बना लिया। वह उसी अवस्था में उसे कृष्ण के पास ले गया। जाम्बवान ने देखा कि अब कृष्ण से विरोध करने में कोई लाभ नहीं है, तब उसने जाम्बवती का विवाह उनके साथ सहर्ष कर दिया। इसके बाद अपने इस अपमान से खिन्न हो, उसने दीक्षा ले ली।

जाम्बवान् के पुत्र विश्वक् सेन और जाम्बवती को अपने साथ लेकर कृष्ण द्वारिका लौट आये। वहां उन्होंने रुक्मिणी के निकट एक पृथक् महल में रुक्मिणी की ही भांति जाम्बवती के रहने की व्यवस्था कर दी। जाम्बवती का

स्वभाव बहुत ही मिलनसार था, इसलिए उसने शीघ्र ही रुक्मिणी से मित्रता कर ली। इससे उसके दिन भी आनन्द में कटने लगे।

एक बार सिंहलद्वीप के राजा लक्ष्मरोमन ने कृष्ण की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया, इसलिए कृष्ण ने उसे समझाने के लिए उसके पास एक दूत भेजा। कुछ दिनों के बाद उस दूत ने वहाँ से वापस आकर कृष्ण से कहा—
“हे स्वामिन्! लक्ष्मरोमन आपकी आज्ञा मानने को तैयार नहीं है। परन्तु उसे नीचा दिखाने की एक और युक्ति मैंने खोज निकाली है। उसके लक्ष्मणा नामक एक कन्या है, जो बहुत ही सुन्दर है और सर्वथा आपकी रानी बनने योग्य है, वह इस समय दुमसेन नामक सेनापति की संरक्षका में सागर स्नान करने के लिए यहाँ आयी हुई है। वह सात दिन यहाँ रहेगी। यदि आप चाहें तो इस बीच उसका हरण कर सकते हैं। सम्भव है कि इससे लक्ष्मरोमन भी आपकी अधीनता स्वीकार कर ले।”

दूत की यह सलाह कृष्ण को पसन्द आ गयी। वे उसी समय बलराम को साथ लेकर समुद्र तट पर गये और सेनापति को मारकर लक्ष्मणा का हरण कर लाये। तदनन्तर द्वारिका आकर उन्होंने उसके साथ ब्याह कर दिया और दास दासी आदि का प्रबन्ध कर रत्नगृह नामक महल में उसके रहने की व्यवस्था कर दी। फिर लक्ष्मरोमन ने भी अधीनता स्वीकार कर ली।

इसके बाद राष्ट्रवर्धन नामक राजा की पारी आयी। वह सुराष्ट्र देश के आयुस्वरी नामक नगर में राज्य करता था। उसकी रानी का नाम विजया था। उसके नमुचि नामक एक महाबलवान पुत्र और सुसीमा नामक परम रूपवती एक कुमारी भी थी। नमुचि ने दिव्य आयुध सिद्ध किये थे, उसे अपने बल का बड़ा अभिमान था, इसलिए वह कृष्ण की आज्ञा न मानता था। एक बार सुसीमा को साथ लेकर वह प्रभास तीर्थ में स्नान करने गया। इसी समय कृष्ण ने उस पर आक्रमण कर उसे मार डाला और सुसीमा का हरण कर लिया। तदनन्तर द्वारिका आकर कृष्ण ने उससे विवाह कर उसे रत्नगृह के निकट एक सुन्दर महल में रहने को स्थान दिया। कृष्ण ने उसके लिए भी दास दासियों का समुचित प्रबन्ध कर दिया। सुसीमा के विवाह के समय राष्ट्रवर्धन राजा ने भी अनेक दास दासी और हाथी घोड़े आदि कृष्ण के पास भेजकर उनसे

मित्रता कर ली।

इसके बाद वितभय नगर के स्वामी मेरु राजा की गौरी नामक कन्या से कृष्ण ने विवाह किया। पश्चात् कृष्ण ने सुना कि अरिष्टपुर में राजा हिरण्यनाभ की पद्मावती नामक पुत्री का स्वयंवर होने वाला है। इसलिए बलराम और कृष्ण दोनों जन उस स्वयंवर में भाग लेने को पहुंचे। राजा हिरण्यनाभ रोहिणी के भाई थे और उस नाते कृष्ण तथा बलराम उनके भानजे लगते थे। इससे हिरण्यनाभ ने उन दोनों वीरों का बहुत ही स्वागत किया। हिरण्यनाभ के बड़े भाई रैवत ने अपने पिता के साथ नेमिनाथ तीर्थ में दीक्षा ले ली थी किन्तु दीक्षा लेने के पहले ही उन्होंने रेवती, रामा, सीता और बन्धुमती नामक अपनी चार पुत्रियों का विवाह बलराम के साथ कर दिया था। उस समय कृष्ण ने समस्त राजाओं के सामने ही पद्मावती का हरण कर लिया। कृष्ण के इस कार्य से स्वयंवर में आये हुए राजा रुष्ट हो गये, किन्तु कृष्ण ने उन सभी को युद्ध में पराजित कर अपना रास्ता साफ कर लिया। बलराम के साथ द्वारिका लौटने पर कृष्ण ने पद्मावती से विवाह कर लिया और गौरी के महल के निकट उसके रहने का प्रबन्ध कर दिया।

एक समय गन्धार देश की पुष्कलावती नगरी में राजा नम्रजीत राज्य करते थे। उनके पुत्र का नाम चारुदत्त था। पिता की मृत्यु के बाद वही अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ, किन्तु शक्ति सम्पन्न न होने के कारण उसके भाई बन्धुओं ने उसका राज्य छीन लिया। इससे वह भागकर कृष्ण की शरण में आया और अपना राज्य वापस दिलाने के लिए उसने कृष्ण से प्रार्थना की। कृष्ण उसकी प्रार्थना स्वीकार कर गान्धार गये। वहां उन्होंने शत्रुओं को मारकर चारुदत्त का राज्य वापस दिलाया। इस उपकार के बदले चारुदत्त ने कृष्ण के साथ अपनी बहिन गान्धारी का विवाह कर दिया। तदनन्तर कृष्ण गांधारी के लिए द्वारिका लौट आये और उसे एक स्वतन्त्र महल में रखा। इस प्रकार कृष्ण ने आठ रानियों से विवाह किया और वे उनकी आठ पटरानियों के नाम से विख्यात हुईं।

एक दिन रुक्मिणी के यहां अतिमुक्तक मुनि का आगमन हुआ उन्हें देखकर सत्यभामा भी वहां पहुंची। रुक्मिणी ने मुनि से वन्दना कर पूछा

कि—“हे भगवन्! मुझे पुत्र होगा या नहीं?” इस पर मुनिराज ने आशीर्वाद देते हुए कहा—“हां, तुझे श्रीकृष्ण के समान एक सुन्दर और बलवान पुत्र होगा।”

यह सुनकर रुक्मिणी बहुत प्रसन्न हुई। उसने भोजनादि द्वारा मुनि का सत्कार कर, बड़े सम्मान के साथ उनको बिदा किया। उनके चले जाने पर सत्यभामा ने रुक्मिणी से कहा कि मुनिराज ने तो मेरी ओर देखकर कहा था, कि तुझे कृष्ण के समान पुत्र होगा, इसलिए पुत्र की माता बनने का सौभाग्य मुझे ही प्राप्त होगा। यह सुनकर रुक्मिणी ने कहा—“नहीं, मुनिराज ने तो मेरे प्रश्न के उत्तर में मुझसे ही यह बात कही थी। तुम छल कर रही हो, इसलिए तुम्हें कोई लाभ न होगा।”

अन्त में इस विवाद का निर्णय करने के लिए वे दोनों कृष्ण के पास गयीं। उसी समय वहां सत्यभामा का भाई दुर्योधन आया हुआ था। उसे सत्यभामा ने कहा—“यदि मेरे पुत्र होगा, तो मैं उसे तुम्हारा दामाद बनाऊंगी।” इस पर रुक्मिणी ने कहा—“यदि मेरे पुत्र होगा, तो मैं भी यही करूंगी। दोनों की बात सुनकर दुर्योधन ने कहा—“मुझे यह स्वीकार है। तुम दोनों में से यदि किसी के भी पुत्र होगा, तो मैं उससे अपनी कन्या का विवाह कर दूंगा।”

सत्यभामा ने कहा—“यह तो होगा ही, किन्तु इतने ही से मुझे सन्तोष नहीं है। मैं यह भी चाहती हूँ कि हम दो में से जिसके पुत्र का विवाह पहले हो, उसके विवाह में दूसरी अपने केश दे दे। कृष्ण, बलराम और दुर्योधन यह तीनों जन इसके साक्षी रहें।”

इस प्रकार वाद विवाद कर वे दोनों अपने अपने स्थान को वापस चली गयीं।

एक दिन प्रभात के समय रुक्मिणी ने एक स्वप्न देखा। उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो वह धवल वृषभ पर स्थित एक विमान में बैठी हुई है। यह स्वप्न देखते ही उसकी निद्रा भंग हो गयी और उसी समय महाशुक्र विमान से च्युत होकर एक महर्द्धिकदेव रुक्मिणी के उदर में आया। सुबह उसने उस स्वप्न का हाल कृष्ण से कह सुनाया। इस पर कृष्ण ने कहा—“प्यारी! यह स्वप्न बहुत ही शुभ है। मालूम होता है कि तुम शीघ्र ही एक प्रतापी पुत्र को जन्म दोगी।”

जिस समय कृष्ण और रुक्मिणी में यह बातचीत हुई, उस समय सत्यभामा की एक दासी भी वहाँ उपस्थित थी। उसने सत्यभामा के पास जाकर उससे यह सब बातें बतला दी।

इससे सत्यभामा के हृदय में खलबली मच गयी। उसने कृष्ण के पास आकर कहा—“आज मुझे ऐरावत समान एक हाथी स्वप्न में दिखायी दिया है।” उसकी बाह्य चेष्टा देखकर कृष्ण समझ गये, कि वास्तव में इसने कोई स्वप्न नहीं देखा है, बल्कि यह सब यों ही कह रही है। इस पर भी उन्होंने उसे प्रसन्न रखने के लिए कह दिया, कि तुम एक अच्छे पुत्र की माता होगी। यह सुनकर सत्यभामा परम प्रसन्न हुई। यद्यपि उसने कृष्ण से झूठी ही बात कही थी, फिर भी दैवयोग से वह भी इसी समय गर्भवती हो गयी।

परन्तु सत्यभामा का गर्भ साधारण होने के कारण वह ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, त्यों-त्यों उसका उदर भी बढ़ता चला गया। रुक्मिणी का गर्भ उत्तम था, इसलिये गर्भ बढ़ने पर भी उसका उदर जैसे का तैसा ही बना रहा। इस अन्तर को लक्ष्य कर सत्यभामा ने कृष्ण से कहा—“देव! मालूम होता है कि रुक्मिणी ने गर्भ की बात आपसे झूठ ही कही है। यदि उसके गर्भ होता, तो क्या मेरी ही तरह उसका भी उदर न बढ़ गया होता।”

जिस समय सत्यभामा कृष्ण से यह बात कह रही थी, उसी समय दौड़ती हुई एक दासी वहाँ आ पहुँची। उसने कृष्ण को बधाई देकर कहा—“राजन्! रुक्मिणी ने अभी-अभी एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया है। हे स्वामिन्! उसकी कान्ति तपाये हुए स्वर्ण के समान है। मानो उसके जन्म से राजमन्दिर जगमगा उठा है।”

कृष्ण को यह संवाद सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई, परन्तु सत्यभामा का तो चेहरा ही उतर गया। वह झनक कर उसी समय वहाँ से उठकर अपने महल में चली गयी। वहाँ पहुँचते ही उसने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम उसने भानुकर रक्खा।

उधर कृष्ण सत्यभामा के पास से उठकर, रुक्मिणी के पास गये। वहाँ पर उन्होंने एक सिंहासन पर स्थान ग्रहण किया। तदनन्तर उनके आदेश से रुक्मिणी की एक दासी उस नवजात बालक को उनके पास ले आयी। कृष्ण ने

उसे गोद में लेकर देखा। वही वास्तव में वैसा ही रूपवान था, जैसा दासी ने बतलाया था। उसकी कान्ति से समस्त दिशाएं प्रद्योदित हो रही थी, इसलिए कृष्ण ने उसका नाम प्रद्युम्न रक्खा।

इसी समय पूर्वजन्म के वैर के कारण, धूमकेतु नामक एक देव रुक्मिणी का वेश धारण कर वहां आया और कृष्ण के हाथ से उस बालक को लेकर वैताढ्य पर्वत पर चला गया। वहां भूत रमण उद्यान की टंक शिला पर बैठकर वह अपने मन में कहने लगा—“मैं इस बालक को छलपूर्वक यहां तो उठा ले आया, पर अब इसे क्या करूं? मैं इसे शिलापर पटककर मार सकता हूँ, परन्तु इससे इसकी शीघ्र ही मृत्यु हो जायगी और इसे कोई कष्ट न होगा हां, यदि मैं इसे इसी शिला पर छोड़कर चला जाऊं तो यह रो रोकर अवश्य मर जायगा। यही दण्ड इसके लिए उपयुक्त भी है।”

इस प्रकार विचारकर धूमकेतु प्रद्युम्न को उसी शिला पर छोड़कर अपने वासस्थान को चला गया। परन्तु प्रद्युम्न चरम शरीरी और निरूपक्रम आयुषी होने के कारण, उस शिला से लुढ़ककर एक ऐसे स्थान में जा गिरा, जहां पत्तों का ढेर लगा हुआ था। इससे उसे जरा भी चोट न आयी। इसी समय काल संवर नामक विद्याधर विमान में बैठकर उधर से आ निकला। वह अग्निज्वाल नामक नगर से अपने नगर की ओर जा रहा था। प्रद्युम्न के पास पहुंचते ही उसका विमान रुक गया। कालसंवर इसके कारण पर विचार करता हुआ भूमि पर उतरा, तो उसकी दृष्टि उस तेजस्वी बालक पर जा पड़ी। उसने अपने मन में कहा—“मालूम होता है कि यह बालक कोई महात्मा है और इसीके कारण मेरा विमान रुक गया है।” यह सोचकर उसने उस बालक को उठा लिया और उसे अपने मेघकूट नामक नगर में ले जाकर अपनी पत्नी कनकमाला को दे दिया। उसने लोगों से कहा कि मेरी पत्नी के गूढ गर्भ था और उसीने आज इस पुत्र को जन्म दिया है। बड़े समारोह के साथ उसका जन्मोत्सव मनाकर, उसने भी उसका नाम प्रद्युम्न रक्खा।

उधर थोड़ी देर में रुक्मिणी ने कृष्ण के पास आकर पूछा कि—“हे नाथ! आपका प्यारा पुत्र कहां हैं?”

कृष्ण ने चकित होकर कहा—“अभी अभी तो तुम मेरे पास से ले गयी

हो, फिर उसे क्यों मांगने आयी हो?”

रुक्मिणी ने कहा—“नहीं नाथ, मैं कब ले गयी हूँ? आज आप ऐसी बात क्यों कहते हैं?”

रुक्मिणी का यह उत्तर सुनकर कृष्ण ने दांतों तले अंगुली दबा ली। वे कहने लगे—“मैं जो कहता हूँ वह ठीक ही कहता हूँ। परन्तु यदि तुम उसे मेरे हाथों से नहीं ले गयी हो, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई दूसरा ही तुम्हारा वेश धारण कर, उसे छल पूर्वक मेरे हाथों से छीनकर ले गया है।

इतना कह कृष्ण ने उसी समय दूतों को चारों ओर दौड़ाकर उस बालक की खोज करायी, किन्तु कहीं भी उसका पता न चला। इससे रुक्मिणी विलाप करने लगी और विलाप करते-करते अन्त में वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। इससे समस्त यादवों को दुःख हुआ। समस्त द्वारका नगरी में एक सत्यभामा ही ऐसी थी, जिसे इस घटना से जरा भी दुःख या आश्चर्य न हुआ। बल्कि मन ही मन इससे वह आनन्दित हुई, किन्तु अपना यह भाव उसने प्रकट न होने दिया।

प्रद्युम्न के खो जाने से रुक्मिणी की प्रसन्नता तो मानो सदा के लिए गायब हो गयी। साथ ही कृष्ण भी रात दिन उदास रहने लगे। इतने ही में एक दिन उनकी राजसभा में कहाँ से घूमते घामते नारदमुनि आ पहुँचे। कृष्ण को उदास देखकर नारद ने उनके उद्वेग का कारण पूछा। कृष्ण ने कहा—“भगवान्! आपसे मैं क्या कहूँ, रुक्मिणी के नवजात पुत्र को कोई छल पूर्वक मेरे हाथों से हरण कर ले गया है। उसी घटना से हम सब लोग दुःखित हो रहे हैं। यदि आपको आपका कुछ पता मालूम हो, तो बतलाने की दया करें।”

नारदमुनि ने कहा—“हे केशव! यहां पर अतिमुक्तक मुनि महाज्ञानी थे, किन्तु वे तो मोक्ष के अधिकारी हो गये। इस समय भरतक्षेत्र में उनके समान दूसरा कोई ज्ञानी नहीं है। पर हां, श्री सीमन्धर स्वामी उसका पता बतला सकते हैं। यदि आप कहें तो मैं पूर्व महा विदेह में जाकर, उनसे पूछ आऊँ!”

श्रीकृष्ण तथा अन्यान्य यादवों को यह सुनकर अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्होंने नारदमुनि की पूजा कर, उनसे इतना काम कर देने की प्रार्थना की।

नारद उनकी प्रार्थना स्वीकार कर तुरन्त श्री सीमन्धर स्वामी के पास गये। वहां पर उन्होंने उनसे पूछा—“हे भगवन्! रुक्मिणी का पुत्र इस समय कहां है?”

श्री सीमन्धर स्वामी ने कहा—“हे नारद! पूर्व जन्म के वैर के कारण धूमकेतु नामक देव छलपूर्वक उस बालक को हरण कर ले गया था। वह उसे वैताढ्य पर्वत की टंक शिला पर छोड़ आया था, परन्तु वहां उसकी मृत्यु नहीं हुई, क्योंकि वह चर्म शरीरी था और चर्म शरीरी का प्राण इन्द्र भी नहीं ले सकते। इसके बाद कालसंवर नामक एक विद्याधर राजा ने उसे देखा और उसने उसे घर ले जाकर अपनी पत्नी को दे दिया। वह अब पुत्र की भांति उसका लालन पालन कर रही है। उसे वहां किसी प्रकार का कष्ट नहीं है।”

यह सुनकर नारदमुनि ने पुनः पूछा—“हे भगवन्! पूर्व जन्म में उसके साथ धूमकेतु का वैर क्यों हो गया?”

भगवान ने कहा—“इसी भरतक्षेत्र के मगध देश में शालिग्राम नामक एक ग्राम है। उसमें एक बहुत ही मनोरम उद्यान था, जिसका अधिष्ठायक सुमन नामक एक यक्ष था। उसी ग्राम में सोमदेव नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम अग्रिला था। उसके अग्निभूमि और वायुभूति नामक दो पुत्र थे, जो वेद के अच्छे ज्ञाता माने जाते थे। अपनी विद्या के कारण उन दोनों ने ऐसी कीर्ति उपार्जित की, कि उसके कारण वे बहुत ही अभिमानी हो गये।

कुछ दिनों के बाद एक बार उस मनोहर उद्यान में नन्दिवर्धन नामक एक आचार्य का आगमन हुआ। यह जानकर समस्त नगर निवासी उनकी सेवा में उपस्थित हुए और उनको वन्दन किया, किन्तु अग्निभूति और वायुभूति दोनों ने वहां जाकर अभिमान पूर्वक कहा—“हे जैनमत से वासित मतिवाले ! यदि तुम्हें कुछ शास्त्र का ज्ञान हो तो हमारे सामने आओ और अपनी विद्वता का परिचय दो, अन्यथा तुम्हारा यह धर्मोपदेश व्यर्थ है।”

उनके ऐसे वचन सुनकर नन्दिवर्धन के सत्य नामक एक अवधिज्ञानी शिष्य ने उन दोनों से पूछा—“यहां तुम दोनों का आगमन कहां से हुआ है?”

वे तुरन्त बोल उठे—“हम शालिग्राम से यहां आये हैं।”

सत्यमुनि ने कहा—“मैं यह नहीं पूछता। मैं तो यह पूछता हूं कि तुम्हें

किस जन्म के बाद यह मनुष्यत्व प्राप्त हुआ है ? यदि तुम्हें अपने पूर्वजन्म का कुछ हाल मालूम हो, तो शीघ्र कहो।”

अग्निभूमि और वायुभूति दोनों इस ज्ञान से वञ्चित थे, इसलिए लज्जा के मारे उन्होंने अपने शिर झुका लिये। उनकी यह अवस्था देखकर सत्यमुनि ने उनके पूर्वजन्म का वृत्तान्त वर्णन करते हुए कहा—“हे ब्राह्मणों! पूर्वजन्म में तुम दोनों मांस लोलुप शृगाल थे और इसी ग्राम के वन में रहते थे। एक दिन किसी किसान ने अपने खेत में चमड़े की एक रस्सी रख दी। रात में वृष्टि होने पर वह पानी से भीगकर मुलायम हो गयी और उसे वह दोनों शृगाल खा गये। यह अत्याहार के कारण उन दोनों की मृत्यु हो गयी। मृत्यु के बाद तुम दोनों अपने कर्मानुसार इस जन्म में सोमदेव विप्र के पुत्र हुए हो। उधर उस किसान ने सुबह खेत में जाकर देखा, तो उसे मालूम हुआ, कि सारी रस्सी शृगाल खा गये हैं तब वह अपने घर चला गया, और कुछ दिनों के बाद उसकी मृत्यु भी हो गयी। तदनन्तर वह अपनी पुत्र वधु के उदर से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ परन्तु जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न होने के कारण उसे यह हाल मालूम हो गया और वह इस चिन्ता में पड़ गया कि मैं अपनी पुत्रवधू को माता और अपने पुत्र को पिता किस प्रकार कहूँ। इसी कारणसे वह जन्म से ही कपट पूर्वक मूक बन गया है। यदि तुम्हें विश्वास न हो तो उसे बुलाकर पूछ लो, वह स्वयं तुम्हें सब हाल कह सुनायगा।”

सत्यमुनि की यह बातें सुनकर कुछ लोग तुरन्त उस किसान के यहां दौड़ गये और उसके मूक बालक को सत्यमुनि के पास ले आये। तदनन्तर मुनिराज ने उससे कहा—“हे वत्स! तुम अपने पूर्वजन्म का सारा वृत्तान्त इन लोगों को कह सुनाओ! इस संसार में न जाने कितनी बार पुत्र पिता और पिता पुत्र होता है। इसलिए ज्ञानी लोग इसे विचित्र कहते हैं। इसमें कोई लज्जा या संकोच करने की जरूरत नहीं है। तुम अपना मौन भंगकर सब लोगों को अपना पूरा वृत्तान्त कह सुनाओ! इससे तुम्हारा कल्याण ही होगा।”

सत्यमुनि के मुख से अपना यह हाल सुनकर उस बालक को बड़ा ही आनन्द हुआ और उसने प्रसन्नता पूर्वक अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त सब लोगों को कह सुनाया। उसका जन्म वृत्तान्त और संसार की विचित्रता देखकर अनेक

श्रोताओं को वैराग्य आ गया फलतः उन्होंने भी उसी समय दीक्षा ले ली। उस किसान को भी इन सब बातों से प्रतिबोध हो गया, परन्तु वह दोनों ब्राह्मण इससे अत्यन्त लज्जित हुए और अपनी हँसी सुन्ते हुए, उस समय तो चुपचाप अपने घर चले गये।

परन्तु सत्यमुनि के इस कार्य में उन दोनों को अपना अपमान दिखायी दिया, इसलिए उन दोनों ने उनसे बदला लेना स्थिर किया। इस निश्चय के अनुसार रात पड़ते ही वे दोनों तलवार लेकर उस उद्यान में मुनिराज को मारने के लिए जा पहुंचे। परन्तु मुनिराज को मारने के पहले ही सुमन यक्ष ने उन दोनों को स्तम्भित बना दिया। इससे उनकी चलने फिरने या कुछ करने की शक्ति नष्ट हो गयी और वे जहां के तहां खड़े रह गये। अपनी यह अवस्था देखकर वे दोनों रोने कल्पने लगे। रात तो किसी तरह बीत गयी। सवेरा होते ही उनके माता पिता और नगर निवासी उनके आस पास आकर इकट्ठे हो गये और उनकी इस दुरावस्था का कारण पूछने लगे परन्तु वे उनको कोई उत्तर न दे सके।

अग्निभूति और वायुभूति को निरुत्तर देखकर, उसी समय सुमन यक्ष प्रकट हुआ और उसने लोगों से कहा कि—“ये दोनों दुर्मति, मुनिराज को मारने आये थे, इसलिए मैंने स्तम्भित कर दिया है। अब यदि दोनों दीक्षा ग्रहण करें, तो मैं इन्हें मुक्त कर सकता हूं, अन्यथा नहीं।”

उन दोनों ने जब देखा कि दीक्षा लेने के सिवा ओर कोई गति नहीं है, तब उन्होंने कहा—“हे यक्ष! साधु धर्म अत्यन्त कठिन है, इसलिए हम लोग श्रावकधर्म ग्रहण करेंगे।”

उनका यह वचन सुनकर यक्ष ने दोनों को मुक्त कर दिया। उस समय से वे दोनों यथाविधि जैन धर्म का पालन करने लगे, परन्तु उनके माता पिता तो सर्वथा उससे वञ्चित ही रह गये कुछ दिनों के बाद अग्निभूति और वायुभूति की मृत्यु हो गयी और वे सौधर्म देवलोक में छः पत्न्योपम आयुवाले देवता हुए। वहां से च्युत होने पर गजपुर में वे अर्हद्दास सेठ के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुए और उनके नाम पूर्णभद्र तथा मणिभद्र रक्खे गये। पूर्व संचित पुण्य के कारण इस जन्म में भी वे दोनों श्रावक ही हुए।

एक दिन उस नगर में महेन्द्र मुनि का आगमन हुआ। उनका धर्मोपदेश सुनकर अर्हददास श्रेष्ठि ने उनके निकट दीक्षा ले ली। उसी समय पूर्णभद्र और मणिभद्र भी उनको वन्दन करने के लिए घर से निकले। रास्ते में उन्हें एक चण्डाल मिला, जो अपनी कुतिया को भी साथ लिये हुए था। उनको देखकर उन दोनों के हृदय में बड़ा ही प्रेम उत्पन्न हुआ, फलतः उन्होंने मुनिराज के पास आकर, उन्हें प्रणाम कर पूछा कि—“हे भगवन्! वह चाण्डाल और उसकी वह कुतिया कौन थी? उन्हें देखकर हमारे हृदय में इतना प्रेम क्यों उत्पन्न हुआ?”

मुनिराज ने कहा—“अग्निभूति और वायुभूति के जन्म में सोमदेव तुम्हारा पिता और अग्निला तुम्हारी माता थी। तुम्हारे पिता की मृत्यु होने पर वह इसी भरतक्षेत्र के शंखपुर का जितशत्रु नामक राजा हुआ, जो परस्त्री में अत्यन्त आसक्त रहता था। अग्निला की मृत्यु होने पर वह भी नगर में सोमभूमि ब्राह्मण की रुक्मिणी नामक स्त्री हुई। एक बार जितशत्रु की दृष्टि रुक्मिणी पर जा पड़ी। उसे देखते ही वह उस पर आसक्त हो गया। उसने सोमभूति के शिर मिथ्या दोषारोपण कर रुक्मिणी को अपने अन्तःपुर में बन्द कर दिया। सोमभूति उसके वियोग से अत्यन्त व्याकुल हो गया और जीवितअवस्था में ही मृत मनुष्य की भांति किसी तरह अपने दिन बिताने लगा। राजा जितशत्रु ने हजार वर्ष तक रुक्मिणी के साथ आनन्द भोग किया। इसके बाद उसकी मृत्यु हो गयी और वह नरक में तीन पत्थोपम की आयुवाला नारकी हुआ। वहां से च्युत होने पर वह एक मृग हुआ किन्तु शिकारियों ने उसे मार डाला। वहां से वह एक श्रेष्ठी का पुत्र हुआ और वहां से मृत्यु होने पर वही फिर एक हाथी हुआ। दैवयोग से इस जन्म में उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे अनशन कर अठारहवें दिन उसने वह शरीर त्याग दिया। इसके बाद वह तीन पत्थोपम की आयुष्यवाला वैमानिक देव हुआ। वहां से च्युत होने पर वही अब यह चाण्डाल हुआ है और वह रुक्मिणी अनेक जन्मों के बाद कुतिया हुई है इसी पूर्व सम्बन्ध के कारण उनको देखकर तुम्हारे हृदय में प्रेम उत्पन्न हुआ है।”

मुनिराज के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर पूर्णभद्र और मणिभद्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और उन्होंने उस चाण्डाल तथा कुतिया को

धर्मोपदेश दिया। उसे सुनकर उस चाण्डाल को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह एक मास के अनशन द्वारा शरीर त्यागकर नन्दीश्वरद्वीप में एक देव हुआ। धर्मोपदेश सुनने के कारण उस कुतिया को भी ज्ञान उत्पन्न हुआ और वह भी अनशन द्वारा शरीर त्यागकर उसी शंखपुर में सुदर्शना नामक राजकुमारी हुई।

कुछ दिनों के बाद फिर वहां महेन्द्र मुनि का आगमन हुआ। पूर्णभद्र और मणिभद्र के पूछने पर उस समय भी मुनिराज ने उनकी गति का सारा हाल उनको कह सुनाया। इसी समय राजकुमारी सुदर्शना ने मुनिराज का धर्मोपदेश सुन, उनके निकट दिक्षा ले ली, जिससे यथा समय उसे देवलोक की प्राप्ति हुई। उधर पूर्णभद्र मणिभद्र आजीवन श्रावक धर्म का पालन करते रहे। अन्त में मृत्यु होने पर वे दोनों सौधर्म देवलोक में सामानिक देव हुए। वहां से च्युत होने पर वे दोनों हस्तिनापुर में विष्वकसेन राजा के मधु और कैटभ नामक पुत्र हुए।

यथासमय नन्दीश्वरद्वीप का वह देव भी ज्यवन होकर अनेक जन्मों के बाद अन्त में पाटपुर का कनकप्रभ नामक राजा हुआ। उधर सुदर्शना स्वर्ग से च्युत होकर अनेक जन्मों के बाद राजा कनकप्रभ की चन्द्रोभा नामक पटरानी हुई।

उधर हस्तिनापुर में राजा विष्वकसेन ने मधु को अपना राज्य और कैटभ को युवराज पद देकर स्वयं दीक्षा ले ली, जिसके फलस्वरूप वह ब्रह्मदेवलोक का अधिकारी हुआ।

तदनन्तर मधु और कैटभ दोनों अपने राज्य का प्रबन्ध बड़ी उत्तमता से करने लगे, परन्तु भीम नामक एक पल्लीपति उनकी अधीनता स्वीकार नहीं करता था और वह उन्हें हमेशा तंग किया करता था। इसलिए मधु ने उसे दण्ड देने के लिए एक बड़ी सेना के साथ हस्तिनापुर से प्रस्थान किया। मार्ग में उसे वटपुर मिला। वहां राजा कनकप्रभ ने भोजनादिक द्वारा उसका बड़ा सत्कार किया, जिससे मधु को भी अत्यन्त आनन्द हुआ।

भोजनादि ने निवृत्त होने पर कनकप्रभ ने मधु को अपने महल में बुलाकर उसे एक सिंहासन पर बैठाया। इसके बाद अपनी स्वामी भक्ति दिखाने के लिये वह अपनी पत्नी के साथ तरह तरह की भेंट लेकर उसकी

सेवा में उपस्थित हुआ। चन्द्राभा तो भेट की चीजें उसके चरणों के पास रख, उसे वन्दन कर अन्तःपुर में वापस चली गयी, किन्तु कनकप्रभ उसके चरणों के पास बैठकर अपने योग्य कार्य सेवा पूछने लगा। मधु चन्द्राभा को देखकर उस पर आसक्त हो गया था, इसलिए उसने कनकप्रभ से उसकी याचना की। कनकप्रभ उसके अनुचित प्रस्ताव से भला कब सहमत हो सकता था? उसने नम्रता पूर्वक इन्कार कर दिया। इस पर मधु उसे कल बलपूर्वक अपने साथ ले जाने को तैयार हुआ, किन्तु उसके मन्त्री ने उसे समझाया कि इस समय हम लोग रण यात्रा कर रहे हैं, इसलिए इस समय उसे साथ लेना अच्छा न होगा। इससे उस विचार को छोड़कर वह वहां से आगे बढ़ा और शीघ्र ही पल्लीपति भीम के प्रदेश में जा पहुंचा।

पल्लीपति को पराजित कर कुछ दिनों के बाद मधु उसी रास्ते से वापस लौटा। अभिमानी तो वह था ही, इस बार विजय के कारण वह और भी अधिक उन्मत्त हो रहा था। कनकप्रभ ने पूर्ववत् इस बार भी उसका स्वागत सत्कार कर उसकी सेवा में बहुमूल्य भेंट उपस्थित की, किन्तु मधु ने कहा—
“मुझे तुम्हारी यह भेंट नहीं चाहिए। मुझे चन्द्राभा दे दो, वही मेरे लिए सर्वोत्तम भेंट है।”

कनकप्रभ ने इस बार भी नम्रतापूर्वक इन्कार किया, किन्तु मधु ने उसकी एक न सुनी। वह चन्द्राभा को बल पूर्वक रथ में बैठाकर अपने नगर की ओर चलता बना। कनकप्रभ में इतनी शक्ति न थी, कि वह उसके इस कार्य का पूरी तरह विरोध कर सके वह अपनी प्रियतमा के वियोग से मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। कुछ समय के बाद जब उसकी मूर्च्छा दूर हुई, तब वह उच्च स्वर से विलाप करने लगा। उसके लिए वास्तव में यह दुःख असह्य था। वह इसी दुःख के कारण पागल हो गया और चारों ओर भटक कर अपने दिन बिताने लगा।

उपर मधुराजा चन्द्राभा को अपने अन्तःपुर में रख, उसके साथ आनन्द करने लगा। एक दिन उसकी राजसभा में एक पर स्त्री हरण का मामला पेश हुआ। मधु ने अपने मन्त्रियों के साथ उसका निर्णय करने की बड़ी चेष्टा की, किन्तु वह मामला इतना उलझनदार था, कि उस दिन उसका अन्त न आ

सका। निदान, उसे अधूरा ही छोड़कर वह राजसभा से चन्द्राभा के पास चला आया। उसे विलम्ब से आया देखकर चन्द्रभा ने पूछा—“आज इतनी देर क्यों हुई?”

मधु ने कहा—“आज मैं एक स्त्री हरण का मामला निपटा रहा था। उसीमें देर हो गयी।

चन्द्राभा ने हंस कर कहा—“क्या आप उस अत्याचारी को दण्ड देंगे? ऐसे पुरुष तो आपके लिए परम पूज्य होने चाहिए।”

मधु ने कहा—“क्यों? ऐसी बात किसलिए कहती हो? मैं तो परायी स्त्री भगाने वाले को कभी भी दण्ड दिये बिना नहीं रहता।”

चन्द्राभा ने कहा—“यदि यही बात होती, तो आप अपने को भी कोई दण्ड, अवश्य देते। क्या आप पर स्त्री वंचक नहीं है?”

यह सुनकर मधु को ज्ञान उत्पन्न हुआ, और वह लज्जित हो गया। इसी समय गाता, नाचता और पागलों की सी चेष्टा करता हुआ कनकप्रभ भी उधर से आ निकला। उसे बालकों का एक दल चारों ओर से घेर कर तंग कर रहा था। उसकी यह-दशा देखकर चन्द्राभा को बड़ा ही दुःख हुआ। वह अपने मन में कहने लगी—“मेरे ही वियोग से पतिदेव की यह दुर्दशा हो गयी है। यह आज दुःखितावस्था में दर दर भटक रहे हैं और मैं राजमहल में बैठी हुई हूँ। धिक्कार है, मेरे इस जीवन और ऐश्वर्य को।”

कनकप्रभ महल के समीप आया तब मधु को भी उसकी अवस्था दिखायी दी। उसे देखकर मधु को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ और वह बार-बार अपनी निन्दा करने लगा। अन्त में इसी घटना को सोचते हुए उसे वैराग्य आ गया और अपने धुन्धु नामक पुत्र को राज्यभार सौंप, अपने भाई कैटभ के साथ विमल वाहन गुरु के निकट दीक्षा ले ली। तदनन्तर हजारों वर्ष तक उग्र तप कर, द्वादशाङ्गी को धारण करते तथा साधुओं की वैयावच्च साधते हुए अन्त में अनशन कर उन दोनों ने आलोचना पूर्वक शरीर त्याग दिये और महाशुक्र देवलोक में सामानिक देवे हुए।

उधर क्षुधा और तृषा के कारण तीन हजार वर्षों के बाद राजा कनकप्रभ

की भी मृत्यु हो गयी ओर वह ज्योतिषी देवों में धूमकेतु नामक देव हुआ।

धूमकेतु को अवधिज्ञान से यह बात मालूम हो गयी, कि पूर्वजन्म में मधु के साथ उसका विकट वैर था। इसलिए उसने मधु का पता लगाया, किन्तु वह महर्द्धिक होने के कारण, उसे उसका पता मालूम न हो सका। तदनन्तर धूमकेतु वहां से च्युत होकर, मनुष्यत्व प्राप्त कर तापस हुआ। वहां बाल तप करने के बाद उसकी मृत्यु हो गयी और वह वैमानिक देव हुआ। इस अवस्था में भी वह महर्द्धिक मधु को देखने में समर्थ न हो सका। कुछ दिनों के बाद वहां से च्युत होकर अनेक जन्मों के बाद वह कर्मवशात् फिर ज्योतिषी देवों में धूमकेतु नामक देव हुआ।

इसी समय मधु का जीव महाशुक्र देवलोक से च्युत होकर कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी के उदर से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। अब धूमकेतु को अपना बदला लेने का मौका मिला इसलिए वह उस बालक को जन्मते ही हरण कर ले गया। उस दुष्ट ने उसे मार डालने के लिए टंक शिला पर रख दिया था परन्तु पूर्व संचित पुण्य के कारण उसका बाल भी बांका न हुआ। वहां से उसे कालसंवर उठा ले गया है। अब वह सोलह वर्ष के बाद रुक्मिणी को प्राप्त होगा।”

श्री सीमन्धर स्वामी के यह वचन सुनकर नारद ने पुनः पूछा—“हे भगवन्! इस प्रकार रुक्मिणी का पुत्र वियोग किस कारण से हुआ है?”

भगवान ने कहा—“इसी भरतक्षेत्र के मगधदेश में लक्ष्मीग्राम नामक एक ग्राम है वहां पर एक समय सोमदेव नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम लक्ष्मीवती था। वह एक बार किसी उद्यान में गयी। वहां पर मयूर के एक अण्डे को देखकर उसके हृदय में कुतूहल उत्पन्न हुआ और उसने कुंकुम से रंगे हुए हाथों से उसे स्पर्श कर लिया इस स्पर्श के कारण उसके वर्ण और गन्ध में अन्तर आ गया और उसकी माता ने यह समझ कर कि यह मेरा अण्डा नहीं है, सोलह घड़ी तक उसे स्पर्श भी न किया। इसके बाद अचानक वृष्टि होने पर जब वह धुलकर अपने मूल रूप में आ गया, तब उसकी माता ने उसे पहचान कर अपने पास रक्खा।

यथा समय उस अण्डे से मयूर उत्पन्न हुआ। इसी समय वह लक्ष्मीवती

फिर एक दिन उस उद्यान में आयी और उस मयूर की रमणीयता देखकर उस पर मुग्ध हो गयी। वह मयूर की माता को रोती हुई छोड़, उस मयूर को अपने घर पकड़ ले गयी। वहां उसे एक सुन्दर पींजरे में बन्दकर वह उसे नाना प्रकार के पदार्थ खिलाने लगी। धीरे धीरे उसने उस मयूर को ऐसा बढ़िया नाच सिखाया, कि उसे जो देखता, वही उस पर मुग्ध हो जाता।

दूसरी और उसकी माता मयूरी किसी तरह भी उसे न भूल सकी। पुत्र स्नेह के कारण वह रात दिन करुण पुकार करती हुई उस मकान के चारों ओर चक्कर काटा करती। उसकी यह अवस्था देखकर आस पास के लोगों को उस पर दया आ गयी और वे लक्ष्मीवती से कहने लगे कि तुम्हारे लिये तो यह मयूर मनोरञ्जन की एक सामग्री बन गया है, परन्तु इसकी माता इसके वियोग से मरी जा रही है। यदि तुम इसे छोड़ देगी तो उसके प्राण बच जाएँगे, वना वह इसी तरह किसी दिन मर जायगी।”

लोगों की इन बातों से उसे भी उस मयूरी पर दया आ गयी और उसने उसे सोलह मास के मयूर को बन्धन मुक्त कर दिया। इसी प्रमाद के कारण लक्ष्मीवती ने ऐसा कर्म सञ्चित किया, जिसके फलस्वरूप उसे सोलह वर्ष तक पुत्र वियोग सहने के लिए बाध्य होना पड़ा।

इसके बाद एक दिन लक्ष्मीवती दर्पण में अपना रूप और शृंगार देख रही थी। इसी समय समाधिगुप्त नामक एक साधु उसके यहां भिक्षा लेने पधारे। लक्ष्मीवती का पति उन्हें भिक्षा देने के लिये उससे कह ही रहा था, कि इतने में किसी ने उसे पुकारा, जिससे वह बाहर चला गया। पीछे से लक्ष्मी ने उस साधु को देखा, किन्तु भिक्षा देने के बदले, दुर्वचन कहकर उसने उसे बाहर निकाल दिया और मकान का दरवाजा बन्द कर लिया।

इस निन्दित कर्म के कारण सातवें दिन उसके शरीर में गलित कुष्ठ हो गया। उसकी वेदना से दुःखित हो वह अग्नि में जल मरी और उसी ग्राम में धोबी के यहां एक गधी के रूप में उत्पन्न हुई। वहां से मृत्यु होने पर वह एक शूकरी और शूकरी के बाद एक कुतिया हुई। एकदिन दवाग्नि में फंस जाने के कारण उसका शिर अध जला हो गया और उसकी वेदना के कारण अन्त में उसकी मृत्यु हो गयी।

इसके बाद भृगुकच्छ नगर में नर्मदा के तटपर वह एक धीवर के यहां पुत्री रूप में उत्पन्न हुई और उसका नाम काना रक्खा गया। परन्तु दुर्गन्धा और दुर्भंगा होने के कारण उसके माता पिता उसे नर्मदा के तटपर छोड़ आये। किसी तरह जब वह बड़ी और समझदार हुई, तब मुसाफिरो को नाव में बैठा कर नदी पार कराने लगी, और उसी से अपना जीवन निर्वाह करने लगी।

एक बार शीतकाल में कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। दैवयोग से उसी समय वही समाधिगुप्त मुनि वहां आ पहुंचे, जिन्हें लक्ष्मीवती ने दुर्वचन कहकर घर से निकाल दिया था। रात्रि के समय पर्वत की भांति निष्कम्प अवस्था में वे वहीं कायोत्सर्ग करने लगे। वह धीवर कन्या काना उन्हें देखकर सोचने लगी कि यह महात्मा सारी रात दुःसह शीत किस प्रकार सहन करेंगे ? इस विचार से उसका हृदय आर्द्र हो उठा और उसने मुनिराज को तृण से ढक दिया।

सुबह मुनिराज जब उस तृण से निकले, तब वह काना भक्तिपूर्वक उनके चरणों पर गिर पड़ी। मुनि ने भी भद्रक जानकर, उसे धर्मोपदेश दिया। उपदेश सुनकर काना को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो पहले भी इस मुनि को मैंने कहीं देखा है। बहुत देर तक उसने इस बात पर विचार किया, किन्तु जब कोई बात उसे याद न आयी, तब उसने मुनिराज से प्रश्न किया कि—“महाराज !” मैंने कभी-न कभी आपको देखा है।” इस पर मुनि ने उसके समस्त पूर्व जन्मों का वृत्तान्त उसे कह सुनाया। अन्त में उन्होंने कहा—“हे भद्रे ! साधु की निन्दा करने के कारण तू इस जन्म में दुर्गन्धा हुई है, क्योंकि इस संसार में सब कुछ कर्मानुसार ही होता है तुझे अब उस कर्म को क्षय करने की चेष्टा करनी चाहिए।”

मुनिराज की सारी बातें सुनकर काना को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसे साधु निन्दा की भी वह सब बातें स्पष्ट दिखायी देने लगी, जो उसने पूर्वजन्म में की थी। उसने बार-बार आत्मनिन्दा कर मुनिराज से अपने अपराध के लिए क्षमाप्रार्थना की। उस समय से वह श्राविका बन गयी और मुनिराज ने उस पर दयाकर उसे धर्मश्री नामक आर्या के सुपर्द कर दिया। तदनन्तर साध्वी के साथ विचरण करती हुई वह सुख से अपना जीवन व्यतीत करने लगी।

बहुत दिनों तक अपने साथ रखने के बाद धर्मश्री ने उसे नायल नामक

एक श्रावक के सुपर्द किया। वहां एकान्तर उपवास और जिनपूजा करते हुए उसने बारह वर्ष सानन्द व्यतीत किये। अन्त में अनशन द्वारा शरीर त्याग कर, वह इन्द्र की पचपन पत्न्योपम आयुवाली प्रधान इन्द्राणी हुई। वहां से च्युत होकर वह कृष्ण की रुक्मिणी नामक पटरानी हुई है। पूर्वजन्म में मयूरी के बच्चे का विरह कराया था, इसलिए उसे भी सोलह वर्ष तक पुत्र का विरह सहन करना होगा।”

सीमन्धर स्वामी के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर नारदमुनि आकाश मार्ग द्वारा वैताढ्य पर्वत के मेघ तट नामक नगर में गये। वहां पर कालसंवर ने उनका आदर सत्कार कर, उन्हें अपने यहां पुत्र जन्म होने का संवाद सुनाया। साथ ही उसने प्रद्युम्नकुमार को भी मुनिराज के पास लाकर उनके चरणों पर रक्खा। रुक्मिणी से मिलती जुलती उस बालक की मुखाकृति देखकर नारद को विश्वास हो गया, कि यही कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्नकुमार है। इसके बाद कालसंवर से विदा ग्रहणकर वे द्वारिका लौट आये और कृष्ण को प्रद्युम्न के सम्बन्ध की सारी बातें कह सुनायी। तत्पश्चात् रुक्मिणी को भी लक्ष्मीवती से लेकर अब तक के समस्त जन्मों का वृत्तान्त कह सुनाया। रुक्मिणी को वह वृत्तान्त सुनकर सीमन्धर स्वामी के प्रति गाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई और उसने वहां से हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। सोलह वर्ष के बाद वह अपने पुत्र को पुनः देख सकेगी। इस आर्हत वचन से उसके व्यथित हृदय को बड़ी सान्त्वना मिली और वह अपने दिन शान्तिपूर्वक व्यतीत करने लगी।



चौदहवाँ परिच्छेद पाण्डव-जन्म और द्रौपदी-स्वयंवर



प्राचीनकाल में श्रीऋषभस्वामी के कुरु नामक एक पुत्र था, जिसके नाम पर से भारत के एक प्रदेश का नाम कुरुक्षेत्र पड़ा है। कुरुराज के हस्ती नामक एक पुत्र था, जिसके नाम से हस्तिनापुर नगर विख्यात हुआ। उसी के वंश में आगे चलकर अनन्तवीर्य नामक राजा हुआ, जिससे कृतवीर्य और कृतवीर्य से सुभूम नामक चक्रवर्ती राजा हुआ। सुभूम के बहुत दिन बाद उसी वंश में शान्तनु नामक एक राजा हुए, जिनके गंगा और सत्यवती नामक दो रानियाँ थीं। गंगा के गंगेय नामक एक पुत्र हुआ और सत्यवती के चित्रांगद तथा चित्रवीर्य नामक दो पुत्र हुए। चित्रवीर्य के अम्बिका, अम्बालिका और अम्बा नामक तीन स्त्रियाँ थीं। उन तीनों के तीन पुत्र हुए, जो धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर के नाम से विख्यात हुए।

धृतराष्ट्र बड़े थे, इसलिए वे गद्दी पर आसीन हुए और पाण्डु शिकार के शौकीन निकले। धृतराष्ट्र ने गान्धार देश के राजा सबल की गान्धारी आदि आठ कन्याओं से विवाह किया। गान्धारी आदि के शकुनी नामक एक भाई भी था, जो प्रायः हस्तिनापुर में ही रहता था और अपने प्रपञ्ची स्वभाव के कारण बहुत विख्यात था। धृतराष्ट्र के इन आठ पत्नियों से दुर्योधन प्रभृति सौ पुत्र उत्पन्न हुए, जो आगे चलकर कौरव नाम से प्रसिद्ध हुए।

पाण्डु की एक पत्नी का नाम कुन्ती था। उससे युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। दूसरी पत्नी का नाम माद्री था, जो राजा शल्य की बहिनि थी। उससे नकुल और सहदेव नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए यह

पांचों भाई पाण्डव कहलाते थे। यह पांचों सिंह के समान शूरवीर, युद्ध में विद्याधरों को भी नीचा दिखाने वाले विद्या तथा बाहुबल में बहुत बड़े चढ़े थे वे अपने बड़े भाईयों का आदर करते हुए सदा न्याय और नीति के मार्ग पर ही चलते थे, जिससे प्रजा उन्हें प्राण से भी अधिक चाहती थी।

एक दिन काम्पिल्य नगर से राजा द्रुपद का एक दूत हस्तिनापुर आया और उसने राजा पाण्डु को प्रणाम कर कहा—“हे राजन्! यह तो आप जानते ही होंगे कि राजा द्रुपद के धृष्टद्युम्न नामक एक पुत्र और द्रौपदी नामक एक कन्या है। इस समय उस कन्या के स्वयंवर का आयोजन किया गया है। उसमें भाग लेने के लिए दसदशार्ह, बलराम, कृष्ण, दमदन्त, शिशुपाल, रुक्मि, कर्ण, दुर्योधन तथा और भी अनेक बलवान राजा एवम् राजकुमार निमन्त्रित किये गये हैं। इनमें से अनेक तो पहले ही वहां पहुंच गये हैं और जो अभी नहीं पहुंचे हैं, उनके शीघ्र ही आ जाने की आशा है। हमारे महाराज ने आपसे अनुरोध किया है, कि आप भी अपने देवकुमार समान पांच पुत्रों को लेकर हमारी नगरी में अवश्य पधारें और स्वयंवर में भाग लेकर हमें कृतकृत्य करें।”

दूत के यह वचन सुनकर राजा पाण्डु परम प्रसन्न हुए। पंचबाणों द्वारा सुशोभित कामदेव की भांति वे अपने पांच पुत्रों को साथ लेकर तुरन्त काम्पिल्यपुर जा पहुंचे। उसी समय और भी राजा वहां पधारे थे। राजा द्रुपद ने उन सबों का सत्कार कर उन्हें यथायोग्य वासस्थान प्रदान किये।

धीरे धीरे स्वयंवर का दिन भी आ पहुंचा। उस दिन समस्त राजा और राजकुमार वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो सभामण्डप में आकर बिराजे। यथासमय द्रौपदी ने भी दिव्यवस्त्रालङ्कार धारण कर, अरिहन्त भगवान की पूजा कर देवकन्या की भांति स्वयंवर मण्डप में पदार्पण किया। उसके साथ अनेक सखियाँ भी थी। प्रधान सखी ने उसे मण्डप में घुमा घुमा कर समस्त राजाओं का परिचय दिया, किन्तु द्रौपदी ने किसी को भी पसन्द न किया। अन्त में वह वहां पहुंची जहां पाञ्च पाण्डव बैठे हुए थे, उन्हें देखकर वह प्रेमपूर्वक क्षण भर के लिए वहां रुक गयी और इसके बाद उसने उन पांचों के कण्ठ में एक साथ ही वरमाला पहना दी।¹

1. दूसरी कथा में अर्जुन के गले में वरमाला पहनाने का कथन है और पाँचों के गले गिरने का विधान है।

उसका यह कार्य देखकर दर्शक लोक स्तम्भित हो गये और आपस में कानाफुसी करने लगे कि क्या द्रौपदी पांचों भाइयों को अपना पति बनायगी? इसी समय एक चारण मुनि वहां आ पहुंचे। उन्हें देखकर कृष्णादि राजाओं ने उनसे पूछा—“हे मुनिराज! क्या यह द्रौपदी पांचों भाइयों को अपना पति बना सकती है?”

मुनिराज ने कहा—“हां, अवश्य ऐसा होगा, क्योंकि कर्म की गति बड़ी विषम है और इस संसार में जो कुछ होता है, वह पूर्वोपाजित कर्म के ही कारण होता है। आप लोगों की शंका का निवारण करने के लिए मैं द्रौपदी के पूर्वजन्म का वृत्तान्त वर्णन करता हूँ, आप लोग ध्यान से सुनें।”

इस भरतक्षेत्र में चम्पापुरी नामक एक नगरी है। उसमें एक समय सोमदेव, सोमभूति और सोमदत्त नामक तीन ब्राह्मण बन्धु रहते थे। उनकी स्त्रियों के नाम क्रमशः नागश्री, भूतश्री और यक्षश्री थे। उनमें परस्पर बड़ा प्रेम था और वे धनधान्य से सम्पन्न तथा सब बातों से सुखी थे। उन लोगों ने एक बार सलाह की कि—आपस में प्रेम बढ़ाने के लिए सब लोग पारी पारी से एक दूसरे के यहां भोजन किया करें। इस व्यवस्थानुसार एक दूसरे के यहां वे भोजन किया करते थे। एक दिन सोमदेव के यहां भोजन करने की पारी थी। इसलिए नागश्री ने बड़े प्रेम के साथ सबको भोजन कराने के लिये नाना प्रकार की चीजें तैयार की। इसमें लौकी की तरकारी भी थी। नागश्री ने बड़ी विधि के साथ उसे बनाया था, परन्तु उसे यह न मालूम था, कि यह लौकी कड़वी है। तरकारी बनाने के बाद उसने उसे चक्खा, तो वह विष के समान मालूम हुई। इससे उसे बड़ा दुःख हुआ और उसने उसे छिपाकर अलग रख दिया। उसके सिवा अन्यान्य समस्त पदार्थ उसने अपने देवर तथा पति आदि को खिलाकर उन्हें सन्तुष्ट किया।

उसी दिन दैवयोग से उस नगर के सुभूमि भाग नामक उद्यान में ज्ञानवान् धर्मघोष सूरि का आगमन हुआ। सोमदेवादि के चले जाने पर उनका धर्मरुचि नामक शिष्य सोमश्री के घर आया। उसे पारणे के लिए आहार की जरूरत थी। इसलिए नागश्री ने वह कड़वी तरकारी उसी को दे दी। उसे देखकर धर्मरुचि को परम सन्तोष हुआ और उसने समझा की भिक्षा में आज मुझे अपूर्व पदार्थ मिला है। उसने प्रसन्नता पूर्वक गुरुदेव के पास जाकर वह तरकारी

दिखायी। गुरुदेव ने उसकी गन्ध से ही उसका दोष जानकर कहा—“हे वत्स! यदि तू इसे भक्षण करेगा, तो तेरी मृत्यु हो जायगी। इसे तुरन्त परठ दे और कोई दूसरा आहार लाकर यत्न पूर्वक पारणा कर।”

गुरुदेव का यह वचन सुनकर वह तरकारी परठने के लिए उद्यान से कुछ दूर जंगल में गया। वहाँ उस तरकारी का एक कण जमीन पर गिर पड़ा। थोड़ी देर में उसने देखा कि उसमें लगनेवाली समस्त चिटियाँ मरी जा रही हैं। यह देखकर उसने अपने मन में कहा—“यदि इसके एक कण से इतने जीव मरे जा रहे हैं, तो वह सब तरकारी परठ देने से इसके पीछे न जाने कितने जीवों की हत्या होगी। इससे तो यही अच्छा है, कि मैं अकेला ही इसे खाकर मर जाऊँ ऐस करने पर अन्य जीवों के लिए कोई खतरा न रहेगा।”

इस प्रकार निश्चय कर धर्मरुचि ने स्वस्थचित्त से प्रसन्नता पूर्वक वह शाक खा डाला। इसके बाद सम्यक् प्रकार से आराधना कर, समाधि पूर्वक उन्होंने प्राण त्याग दिये। अपने पुण्य प्रभाव के कारण मृत्यु के बाद सर्वार्थ सिद्ध नामक अनुत्तर विमान में वे अहमिन्द्र नामक देव हुए।

इधर धर्मरुचि के वापस आने में जब बड़ी देर हुई, तब धर्मघोषसूरि को उनके लिए चिन्ता हुई और उन्होंने अन्यान्य साधुओं को उनका पता लगाने के लिए भेजा, वे पता लगाते हुए शीघ्र ही उस स्थान में जा पहुंचे, जहाँ धर्मरुचि का मृत शरीर पड़ा हुआ था। वे उनके रजोहरणादिक लेकर गुरुदेव के पास लौट आये और उनको सारा हाल कह सुनाया। गुरुदेव ने अतिशय ज्ञान द्वारा नागश्री का दुश्चरित्र जानकर सब बातें अपने साधुओं को कह सुनायी। साधु और साध्वियों को इससे बड़ा क्रोध आया और उन्होंने नगर में जाकर सोमदेव तथा अन्यान्य लोगों से यह हाल कह सुनाया। इससे चारों और नागश्री की घोर निन्दा होने लगी। सोमदेव आदि को भी उस पर बड़ा क्रोध आया और उन्होंने उसे घर से निकाल दिया। इससे नागश्री बहुत दुःखित हो दर दर भटकने लगी। शारीरिक और मानसिक यातना के कारण उसे खांसी, दमा, बुखार और कुष्ठ आदि भयंकर सोलह रोगों ने आ घेरा और वह इसी जन्म में घोर नरक के दुःख भोग करने लगी। कुछ दिनों के बाद भोजन और वस्त्र रहित अवस्था में भटकते भटकते उसकी मृत्यु हो गयी और वह छठें नरक की अधिकारिणी हुई।

नरक में दीर्घकाल तक घोर यातना सहन करने के बाद उसने म्लेच्छों के यहां जन्म ग्रहण किया और मृत्यु होने पर वहां से सातवीं नरक में गयी। वहां से निकलकर वह फिर मच्छ रूप में उत्पन्न हुई और वहां से फिर सातवीं नरक में गयी। वहां से निकलकर वह मत्स्य रूप में उत्पन्न हुई और नरक में गयी। इस प्रकार प्रत्येक नरक का उसे दो दो बार भोग करना पड़ा।

इसके बाद अनेक बार पृथ्वीकायादि में उत्पन्न होकर उसने अकाम निर्जरा के योग से अपने अनेक दुष्कर्मों का क्षय किया। उसके बाद वह इसी चम्पापुरी में सागरदत्त श्रेष्ठी की सुभद्रा नामक स्त्री के उदर से पुत्री रूप में उत्पन्न हुई, जहां उसका नाम सुकुमारिका पड़ा। वहीं जिनदत्त नामक एक महाधनवान सार्थवाह रहता था, जिसकी स्त्री का नाम भद्रा था। भद्रा ने सागर नामक एक पुत्र को जन्म दिया था, जो रूप और गुण में अपना सानी न रखता था।

एक दिन जिनदत्त श्रेष्ठी सागरदत्त के मकान के पास होकर अपने घर जा रहा था। अचानक उसकी दृष्टि सुकुमारिका पर जा पड़ी, जो मकान के ऊपरी हिस्से में गैद खेल रही थी। वह रूपवती तो थी ही, यौवन ने उसकी शारीरिक शोभा मानो सौ गुनी बढ़ा दी थी। जिनदत्त उसे देखकर अपने मन में कहने लगा कि यह कन्या मेरे पुत्र के योग्य है वह इसी विषय पर विचार करता हुआ अपने घर जा पहुँचा। तदनन्तर वह अपने भाई को साथ लेकर सागरदत्त के पास गया और उससे अपने पुत्र के लिए सुकुमारिका की याचना की। इस पर सागरदत्त ने कहा—“यह पुत्री मुझे प्राण से भी अधिक प्यारी है, इसलिए इसके बिना मेरे लिये जीवन धारण करना भी कठिन हो जायगा। यदि आपका पुत्र सागर मेरा घर जमाई होकर रहना स्वीकार करे तो मैं उसके साथ सुकुमारी का ब्याह कर दूंगा और उसे बहुतसा धन आदि भी दूंगा।”

यह सुनकर जिनदत्त ने कहा—“अच्छा, मैं इस विषय पर विचार करूंगा। यह कहकर वह अपने घर चला आया। घर आकर उसने अपने पुत्र सागर से इसका जिज्ञा किया, किन्तु उसने इसका कोई उत्तर न दिया। इसलिए जिनदत्त ने “मौन सम्मति लक्षणम्” मानकर सागरदत्त की मांग स्वीकार कर ली। उसने सागरदत्त को कहला भेजा कि यदि आप अपनी पुत्री का विवाह मेरे पुत्र से कर देंगे, तो मैं उसे आपके यहां घरजमाई होकर रहने की आज्ञा दे दूंगा।

यह बात तय हो जाने पर सागरदत्त सुकुमारिका के साथ सागर का ब्याह कर दिया। ब्याह के बाद सुहागरात मनाने के लिए वे दोनों एक सुन्दर कमरे में भेजे गये। वहां सागर ने ज्योंही अपनी नवविवाहिता पत्नी से स्पर्श किया, त्योंही उसके पूर्वकर्म के कारण सागर के अंगप्रत्यङ्ग में ऐसी ज्वाला उत्पन्न हुई, कि उसके लिए वहां ठहरना कठिन हो गया। परन्तु किसी तरह कुछ देर तक वह वहां रुका रहा और ज्योंही सुकुमारिका को निद्रा आयी, त्योंही वह वहां से भाग खड़ा हुआ।

कुछ देर बाद जब सुकुमारिका की निद्रा भंग हुई, उसने वहां पतिदेव को न पाया। इससे वह दुःखित होकर विलाप करने लगी। सुबह सुभद्रा ने एक दासी द्वारा उन दोनों के लिए दन्तधावन की सामग्री भेजी। सुकुमारिका उस समय भी रो रही थी और उसके पति का कहीं पता न था। उसने तुरन्त सुभद्रा से जाकर यह हाल कहा। सुभद्रा ने सागरदत्त से कहा और सागरदत्त ने जिनदत्त को उलाहना दिया। इससे जिनदत्त ने अपने पुत्र को एकान्त में बुलाकर कहा—“हे पुत्र! तुमने प्रथम रात्रि में ही सागरदत्त की कन्या का त्यागकर बहुत ही अनुचित कार्य किया है। खैर, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। तुम इसी समय उसके पास जाओ और उसे सान्त्वना देकर शान्त करो। तुम उसके निकट रहने के लिए बाध्य हो, क्योंकि मैंने अनेक सज्जनों के सामने इसके लिए प्रतिज्ञा की है।”

सागर ने हाथ जोड़कर कहा—“पिताजी! इसके लिए मुझे क्षमा करिए। मैं आपकी आज्ञा से अग्नि में प्रवेश कर सकता हूँ, परन्तु सुकुमारिका के पास जाना मुझे स्वीकार नहीं है।”

सागरदत्त भी दीवाल की ओट से अपने जमाई की यह बातें सुन रहा था, इसलिए वह निराश होकर अपने घर चला गया। उसने सुकुमारिका से कह दिया कि सागर तुझ से विरक्त है, इसलिए अब उसकी आज्ञा रखनी व्यर्थ है। तू खेद मत कर! मैं शीघ्र ही तेरे लिए अब दूसरा पति खोज दूंगा।”

सागरदत्त ने इस प्रकार के वचनों द्वारा अपनी पुत्री को तो सान्त्वना दी, किन्तु इस घटना से उसका चित्त रात दिन दुःखी रहने लगा। एक दिन वह इस दुःख से उदास हो अपने मकान के गवाक्ष पर बैठा हुआ था, इतने में एक

भिक्षुक पर उसकी दृष्टि जा पड़ी। मलीनता के कारण उसके शरीर पर सैकड़ों मक्खियां भिन भिना रही थीं। सागरदत्त को उस पर दया आ गयी इसलिए उन्होंने उसे अपने पास बुलाकर स्नान तथा भोजन कराकर उसके शरीर पर चन्दन का लेप किया। इससे भिक्षुक को बड़ा ही आनन्द हुआ और वह सुख से जीवन बिताने लगा।

एकदिन सागरदत्त ने उससे कहा—“हे वत्स! मैं अपनी सुकुमारिका नामक कन्या तुम्हें प्रदान करता हूं। तुम उसे पत्नी रूप में ग्रहण कर आनन्द पूर्वक उसके साथ रहो। तुम्हें अपने भोजन वस्त्र की चिन्ता न करनी होगी। तुम दोनों का सारा खर्च मैं ही चलाऊंगा।”

सागरदत्त की यह बात सुनकर वह भिक्षुक आनन्द पूर्वक सुकुमारिका के साथ उसके कमरे में गया, किन्तु उसको स्पर्श करते ही, उसके शरीर में भी ऐसा दाह उत्पन्न हो गया, मानो वह आग में जल गया हो। इस यातना से व्याकुल हो, वह भी उस ऐश्वर्य को ठुकराकर वहां से भाग खड़ा हुआ। इस घटना से सुकुमारिका और भी दुःखित हो गयी। उसके पिता ने यह सब समाचार सुना तो उन्होंने कहा—“हे वत्से! यह तेरे पूर्व कर्मों का उदय है, और कुछ नहीं। तुम अब धैर्य धारण कर दानादिक सत्कर्म में अपना समय बिताया करो!”

पिता के इस आदेशानुसार सुकुमारिका धर्म ध्यान में तत्पर हो, अपना समय व्यतीत करने लगी। एक दिन उसके यहां गोपालिका आदि साध्वियों का आगमन हुआ। सुकुमारिका ने शुद्ध अन्नपानादिक द्वारा उनका सत्कार कर उनका धर्मोपदेश सुना और ज्ञान उत्पन्न होने पर उन्हीं के निकट दीक्षा ले ली। इसके बाद वह छठ और अष्टम आदि तप करती हुई गोपालिका प्रभृति साध्वीओं के साथ विचरण करने लगी।

एक बार सुभूमि भाग उद्यान में रविमण्डल को देखकर उसने साध्वियों से कहा—“मेरी इच्छा होती है कि मैं यहां आतापना लूं।” साध्वियों ने इसका विरोध करते हुए कहा—“वत्से! आगम में कहा गया है, कि साध्वियों को बस्ती के बाहर आतापना लेनी उचित नहीं है।” परन्तु सुकुमारिका इन बातों को सुनी अनसुनी कर सुभूमिभाग उद्यान में चली गयी और सूर्य की ओर दृष्टि कर आतापना करने लगी।

इस उद्यान में पांच आदमी पहले ही से देवदत्ता नामक एक वेश्या को साथ लेकर क्रीड़ा करने आये थे। वे सब उद्यान के एक भाग में बैठे हुए थे। एक आदमी उस वेश्या को अपनी गोद में लिये बैठा था, दूसरा छत्र धारण कर उसके शिर पर छाया कर रहा था, तीसरा एक वस्त्र से उसे हवा कर रहा था, चौथा उसके केश सँवार रहा था और पांचवां उसके चरणों पर हाथ फेर रहा था। आतापना करते सुकुमारीका की दृष्टि उस वेश्या पर जा पड़ी, उसकी भोग अभिलाषा पूर्ण न हुई थी, इसलिए उसे देखते ही उसका चित्त चञ्चल हो उठा। उसने मन ही मन कामना की, कि इस तप के प्रभाव से इस रमणी की भांति मुझे भी पांच पति प्राप्त हो।” इसके बाद वह अपने शरीर को साफ रखने में बहुत तत्पर रहने लगी। यदि आर्याएं इसके लिए उसे मना करती, तो वह उनसे झगड़ा कर बैठती।

कुछ दिन तक उसकी यही अवस्था रही। अन्त में वह अपने मन में कहने लगी, कि पहले जब मैं गृहस्थ थी, तब ये आर्यायें मेरा बड़ा ही सम्मान करती थीं। इस समय मैं भिक्षाचारिणी और इनके वेश में हो गयी हूँ, इसलिए इनके जी में जो आता है वही कहकर यह मेरी अवज्ञा किया करती हैं। मैं अब इनके साथ कदापि न रहूंगी।”

इस प्रकार विचारकर वह उनसे अलग हो गयी और अकेली रहने लगी। इसी अवस्था में उसने चिरकाल तक दीक्षा का फलन किया। अन्त में आठ महीने की संलेखना कर, अपने पापों की आलोचनां किये बिना ही उसने वह शरीर त्याग दिया। इस मृत्यु के बाद वह सौधर्म देवलोक में देवी हुई और उसे नवपत्योपम की आयु प्राप्त हुई। वहाँ से च्युत होकर वही अब द्रौपदी हुई है। पूर्वजन्म की आन्तरिक भावना के कारण इस जन्म में इसे पांच पति प्राप्त हो रहे हैं, इसलिए इसमें किसी को आश्चर्य न करना चाहिए।”

मुनिराज के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर कृष्णादिक समस्त राजाओं को सन्तोष हो गया और वे द्रौपदी के इस कार्य की प्रशंसा करने लगे। इसके बाद पाण्डवों ने स्वयंवर में पधारे हुए समस्त राजाओं के सामने ही बड़े समारोह के साथ द्रौपदी से विवाह किया। वहाँ से राजा पाण्डु दशार्ह बलराम कृष्ण तथा अन्यान्य राजाओं को उनका स्वागत सम्मान करने के लिए अपने नगर ले गये। पाण्डवों की शादी के उपलक्ष में वहाँ भी बहुत दिनों तक धूम मंची रही। यह

महोत्सव समाप्त होने पर दशार्ह, बलराम, कृष्ण तथा अन्यान्य राजाओं ने अपने अपने नगर जाने की इच्छा प्रकट की, इसलिए पाण्डु ने उन्हें सम्मानपूर्वक विदा किया।

इसके बाद राजा पाण्डु युधिष्ठिर को अपना राज्य देकर परलोक सिंघार गये। उनके बाद माद्री ने भी अपने दोनों पुत्रों को कुन्ती के सुपुर्द कर अपनी इहलोक लीला समाप्त की। पाण्डु की मृत्यु के बाद धृतराष्ट्र के लड़के पाण्डवों को हीन दृष्टि से देखने लगे क्योंकि वे सब परम अभिमानी, राज्य लोलुप और प्रपञ्ची थे। दुर्योधन ने पाण्डवों के वृद्ध मन्त्री और पुरोहितादिक को विनय आदि से वशी भूतकर पाण्डवों को जूआ खेलने के लिए प्रेरित किया। जूए के दाव में उनका समस्त राज्य तथा द्रौपदी को भी जीत लिया।

युधिष्ठिर अग्नि चार भाईयों ने तो यह विष का घूंट पी लिया, किन्तु भीमसेन की आंखे इस अपमान के कारण क्रोध से लाल हो गयीं। उनके तेवर बदलते देख कौरव भयभीत हुए और उन्होंने द्रौपदी को वापस दे दिया। इसके बाद कौरवों द्वारा अपमानित पांचों पाण्डवों ने वनवास स्वीकार किया। वे दीर्घ काल तक एक वन से दूसरे वन में भटकते रहे। अन्त में दशार्ह की छोटी बहिन कुन्ती पाण्डवों की माता उन्हें द्वारिका ले गयी।

तदनन्तर पाण्डव वहां सबसे पहले समुद्रविजय के घर गये। वहां पर समुद्रविजय तथा अक्षोभ्यादिक दशार्हों ने अपनी बहिन तथा भानजों का बड़ा सत्कार किया। उन्होंने कहा—“कौरवों ने आप लोगों को जीता छोड़ दिया और आप लोग सकुशल यहां तक आ पहुँचे, यही परम सौभाग्य की बात है।”

कुन्ती ने विनयपूर्वक इसका उत्तर देते हुए कहा—“हे बन्धुओं! मैं तो मर ही चुकी थी, किन्तु आप लोगों पर मुझे जो आशा भरोसा है, उसी के कारण मैं अपने पुत्रों के साथ अब तक जीवित रह सकी हूँ। मैं समय समय पर तुम्हारे और बलराम कृष्ण के अद्भुत बल विक्रम की बातें सुना करती थी। उन्हीं के कारण मैं उनको देखने के लिए लालायित हो उठी थी और उसी से मार्ग की इतनी कठिनाइयां सहकर मैं अपने पुत्रों के साथ यहां आयी हूँ।”

इसके बाद कुन्ती अपने पुत्रों के साथ कृष्ण से मिलने के लिए उनके

राजमन्दिर में गयी। वहां बलराम और कृष्ण ने भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम कर उनका बड़ा आदर सत्कार किया। पाण्डवों को भी उन्होंने गले लगा लगाकर समुचित आसन पर बैठाया। तदनन्तर कृष्ण ने नम्रातपूर्वक कुन्ती से कहा—
“आप यहां चली आयी सो बहुत ही अच्छा किया। यादवों की समस्त श्री और सम्पत्ति आप अपनी ही समझिए। हमसे भेद भाव रखने की कोई आवश्यकता नहीं।”

कृष्ण के यह वचन सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—“हे कृष्ण! जिस पर तुम्हारी दया हो, उसे संसार में किसी बात की कमी नहीं रह सकती। आपके जन्म से मेरा मातृ कुल धन्य हो गया है। निःसन्देह, आप हमारे लिये एक अभिमान की वस्तु हैं। आपके कारण हमलोग संसार में अपने को सबसे अधिक बलवान मानते हैं।”

इस प्रकार की बातें करते हुए कृष्ण ने कुन्ती और उनके पुत्रों को सम्मान पूर्वक पृथक् पृथक् प्रासाद में ठहराया। इसके बाद दशार्हों ने लक्ष्मीवती, वेगवती, सुभद्रा, विजया और रति नामक अपनी पांच कन्याओं का विवाह पांचों पाण्डवों के साथ कर दिया। पाण्डवों को इस सुख और सम्मान से अत्यन्त आनन्द हुआ और वे अपना दुःख भूलकर आनन्द पूर्वक वहां विनास करने लगे।

उधर प्रद्युम्नकुमार ने समस्त विद्या और कलाओं में पारदर्शिता प्राप्त कर धीरे धीरे यौवन की सीमा में पदार्पण किया। उस समय उसका शरीर विकसित पुष्प की भांति श्रीसम्पन्न बन गया। कालसंवर की स्त्री कनकमाला ने यद्यपि पुत्र की भांति उसका लालनपालन किया था, किन्तु एक दिन उसके शरीर की अपूर्व शोभा देखकर वह उस पर मुग्ध हो गयी और अपने मन में कहने लगी—“मुझे तो कोई विद्याधर भी ऐसा रूपवान होगा या नहीं, इसमें सन्देह है। यह मेरा ही पाला हुआ वृक्ष है, इसलिए इसके यौवन का फल भी पहले मैं ही भोग करूंगी। ऐसा करने में कोई दोष भी नहीं है।”

इस प्रकार विचारकर एकदिन उसने प्रद्युम्न से कहा—“हे युवक शिरोमणि! यहीं उत्तर श्रेणी में नलपुर नामक एक नगर है। वहां पर गौरीवंश का निषध नामक राजा राज्य करता है। मैं उसकी पुत्री हूं, मेरे नैषधि नामक

एक भाई भी है। मेरे पिता ने बाल्यावस्था में ही मुझे गौरी नामक एक विद्या दी थी। इसके बाद कालसंवर ने विवाह करने के पहले मुझे प्रज्ञप्ति नामक विद्या दी थी। इन दो विद्याओं के कारण मुझ में असीम शक्ति है और उसके कारण मैं किसी की परवाह नहीं करती। हे प्रद्युम्न! तुम्हारा यह सुन्दर स्वरूप देखकर मैं तुम पर आशिक हो गयी हूँ, मेरी इच्छा है कि तुम मुझसे विवाह कर लो! हे सुभग! मेरी धारणा है कि इस कार्य के लिए तुम्हें कभी भी पछताना न पड़ेगा!”

कनकमाला का यह प्रस्ताव सुनकर प्रद्युम्न को मानो काठ मार गया। उसने कहा—“अहो! तुम यह क्या कह रही हो? क्या तुम यह नहीं जानती हो, कि मैं तुम्हारा पुत्र और तुम मेरी माता हो! यह कार्य हम दोनों के लिए परम निन्दनीय और त्याज्य है!”

कनकमाला ने कहा—“हे सुन्दर! तुम मेरे पुत्र नहीं हो! किसी ने जन्मते ही तुमको त्याग दिया था। अग्निज्वालपुर से यहां आते समय मार्ग में कालसंवर ने तुम्हें देखा था और वह तुम्हें यहां उठा लाया था। उस समय हमारे एक भी पुत्र न था, इसलिए हमने तुमको अपना पुत्र बना लिया था। इसलिए मैं कहती हूँ कि मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लेने में कोई दोष नहीं है।”

प्रद्युम्नने कहा—“हे भद्रे! संभव है कि तुम्हारी यह बातें सच हों, परन्तु तुम्हारा प्रस्ताव स्वीकारकर लेने से कालसंवर और तुम्हारे पुत्र मुझे कदापि जीता न छोड़ेंगे!”

कनकमाला ने कहा:—“हे सुभग! उनसे डरने का कोई कारण नहीं है। तुम मेरे पास से गौरी और प्रज्ञप्ति-इन दो महाविद्याओं को ग्रहण कर लो। फिर किसका सामर्थ्य है जो तुम्हारे शरीर को हाथ लगा सके। यह विद्याएं सिद्ध करने वाला किसी से हार नहीं सकता।”

प्रद्युम्न ने सोचा कि इन विद्याओं को हाथ करने का मौका खोना ठीक नहीं। विद्या ग्रहण करने के बाद भी यदि मैं इसकी बात न मानूँ तो यह मेरा क्या बिगाड़ सकती है? यह सोचकर उसने कहा—“अच्छा, पहले मुझे वह दोनों विद्याएं दे दो फिर मैं तुम्हारी बात पर विचार करूंगा।”

कनकमाला उस समय कामान्ध हो रही थी, इसलिए उसकी विचार

शक्ति नष्ट हो गयी थी। उसने प्रद्युम्न को उसी समय अपनी दोनों विद्याएँ दे दी। प्रद्युम्न के पुण्ययोग से वह उसे तुरन्त सिद्ध भी हो गयी। विद्याएँ सिद्ध हो जाने पर कनकमाला ने पुनः प्रद्युम्न के सामने वही बातें कहनी आरम्भ की। इस पर प्रद्युम्न ने कुछ सोचकर कहा—“हे अनघे! तुमने मुझे पाल पोसकर बड़ा किया है, इसलिए पहले तो तुम केवल मेरी माता ही थी, किन्तु अब तुमने मुझे यह विद्याएँ दी है, इसलिए तुम मेरी गुरुणी भी बन गयी हो। इसी कारण से मैं तुम्हारे इस पापकार्य में योगदान देने को तैयार नहीं हूँ।”

प्रद्युम्न के इस उत्तर से कनकमाला के ऊपर मानो घड़ी पानी पड़ गया। प्रद्युम्न जानता था कि वह अब कोई अनर्थ किये बिना न रहेगी, इसलिए वह उसी समय नगर के बाहर निकल कर एक बावड़ी के किनारे जा बैठा और खिन्नता पूर्वक इस घटना पर विचार करने लगा।

उधर कनकमाला ने अपने ही नखों से अपना शरीर नोच खसोट कर क्षत विक्षत बना लिया, कपड़े फाड़ डाले और केश खोल दिये। इसके बाद उसने भयंकर कोलाहल मचाया। उसका वह कोलाहल सुनते ही उसके पुत्र दौड़ आये और माता से इस दुर्दशा का कारण पूछने लगे। इस पर कनकमाला ने रोष पूर्वक अश्रुधारा बहाते हुए कहा—“दुरात्मा प्रद्युम्नकुमार आज मुझ पर बलात्कार करना चाहता था। उसी नीच ने मुझे नोच खसोटकर मेरी यह अवस्था कर डाली है।”

कनकमाला का यह वचन सुनते ही उसके समस्त पुत्र प्रद्युम्न को खोजते हुए, नगर के बाहर उस बावड़ी पर जा पहुँचे, जहाँ वह बैठा था। उसे देखते ही वे उस पर टूट पड़े और उस पर प्रहार करने की चेष्टा करने लगे। परन्तु प्रद्युम्न तो विद्याओं के बल से बलवान हो गया था, इसलिए अकेला होने पर भी वह भयभीत न हुआ। केसरी जिस प्रकार मृगों को मार डालता है, उसी प्रकार प्रद्युम्न ने कालसंवर के उन पुत्रों को क्षणमात्र में मार डाला।

कालसंवर ने जब यह समाचार सुना, तब वह क्रोध के कारण आपे से बाहर हो गया और उसी समय प्रद्युम्न को मारने के लिए वहाँ जा पहुँचा। उसने भी वहाँ जाते ही प्रद्युम्न पर वार किया, परन्तु अपनी विद्याओं के बल से उसने उसे भी पराजित कर दिया। अपनी इस पराजय से कालसंवर बहुत उदास हो

गया और स्थिर पकड़ कर बैठ गया। तदनन्तर उसने प्रद्युम्न से कहा—“मैं न जानता था कि मेरे उपकारों का बदला तुम इस तरह चुकाओगे! अज्ञात कुलशील वाले व्यक्तियों को इसलिए आश्रय देना बुरा माना गया है। वे सर्प की भांति अनेकबार अपने पालनेवालों का ही सर्वनाश करने पर तुल जाते हैं।”

प्रद्युम्नकुमार ने अब तक कनकमाला की घृणित कहानी किसी पर प्रकट न की थी। परन्तु अपने को कलंक लगता देख, उन्होंने अब कालसंवर को सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उसे सुनकर कालसंवर को अपने कार्य के लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने प्रद्युम्न को प्रेम पूर्वक गले लगा लिया।

इसी समय वहां नारदमुनि आ पहुँचे। प्रद्युम्न ने प्रज्ञप्ति विद्या से उन्हें पहचान कर उनका पूजन किया और उन्हें भी कनकमाला का वृत्तान्त कह सुनाया। उसे सुनने के बाद नारदमुनि ने भी श्री सीमन्धर स्वामी ने बतलाया हुआ प्रद्युम्न और रुक्मिणी का सब हाल प्रद्युम्न को कह सुनाया। साथ ही उन्होंने कहा—“तुम्हारी माता और सत्यभामा में यह बाजी लग चुकी है, कि यदि पहले सत्यभामा के पुत्र का पाणिग्रहण होगा तो उसमें रुक्मिणी अपने केश देगी और रुक्मिणी के पुत्र का पहले पाणिग्रहण होगा, तो सत्यभामा अपने केश देगी। इस समय सत्यभामा के भानुक पुत्र का विवाह हो रहा है। तुम्हारी माता को उसमें अवश्य अपने केश देने पड़ेंगे। तुम्हारे जीवित रहते उसे इस प्रकार अपमानित होना पड़े यह ठीक नहीं। इससे वह अपना प्राण तक दे देगी। मैं समझता हूँ कि तुम्हें वहां चलकर शीघ्र ही इस दुर्घटना को रोकना चाहिए। कृष्णादिक भी तुम्हारे दर्शन के लिए लालायित हो रहे हैं।”

नारद की यह बातें सुनकर प्रद्युम्न के मन में भी माता पिता का प्रेम उमड़ आया। उन्होंने उसी समय प्रज्ञप्ति विद्या द्वारा एक विमान बनाया और उसीमें बैठकर नारदमुनि के साथ कुछ ही देर में वे द्वारिकापुरी के निकट पहुँच गये। जब द्वारिकापुरी दिखायी दी, तब नारद ने हर्षपूर्वक कहा—“हे प्रद्युम्न कुमार! यही तुम्हारे पिता की द्वारिका नगरी है, जिसे स्वयं कुबेर ने बनाकर धनधान्य सम्पन्न किया है।”

प्रद्युम्नकुमार ने प्रसन्न होकर कहा—“हे मुनिराज! यदि आपको कोई

आपत्ति न हो, तो कुछ देर इसी विमान में आप ठहरिये, मैं तब तक द्वारिका में जाकर अपना कुछ चमत्कार दिखला आऊँ!”

नारद ने इसमें कोई आपत्ति न की, इसलिए प्रद्युम्नकुमार विमान से उतर गए और पैदल ही नगर की शोभा देखते हुए आगे बढ़े। कुछ दूर जाने पर उन्होंने देखा कि चारों ओर भानुक के विवाह की तैयारी हो रही है। यह देखकर वे सबसे पहले उस कन्या को हरण कर नारद के पास छोड़ आये, जिसके साथ भानुक का विवाह होने वाला था। वह बेचारी प्रद्युम्न और नारद को देखकर बहुत भयभीत हुई, किन्तु नारद ने उसे सान्त्वना देकर प्रद्युम्न को परिचय दिया, जिससे उसका भय दूर हो गया।

इसके बाद प्रद्युम्न, बन्दर-नचाने वाले का वेश धारण कर अपने बन्दरों के साथ वनपालक के पास गये और उससे उन बन्दरों के लिए फल मांगने लगे। इसपर वनपालक ने कहा—“इस उद्यान में फलों की कमी नहीं है, परन्तु यह सब फल भानुक के विवाह के लिए सुरक्षित रखे गये हैं, इसलिए इनमें से एक भी फल मैं नहीं दे सकता।”

उसका यह उत्तर सुन, प्रद्युम्न ने उसे विपुल धन देकर अपने बन्दरों के साथ उद्यान में प्रवेश किया और देखते ही देखते समस्त वृक्षों को फल रहित बना दिया।

इसके बाद वे घोड़े के सौदागर का रूप बनाकर घास के बाजार में गये और वहाँ अपने घोड़ों के लिए अत्यधिक परिमाण में घास खरीदने की इच्छा प्रकट की। घास के व्यापारियों ने भी उसे भानुक के निमित्त सुरक्षित बतलाकर देने से इन्कार कर दिया। इसपर प्रद्युम्न ने उन्हें भी धन का प्रलोभन दे, सब घास ले ली और उसे अपनी विद्या के बल से इस प्रकार नष्ट कर दी कि कहीं उसका नाम निशान भी न बचने पाया।

इसके बाद उन्होंने जलाशयों की ओर ध्यान दिया और विद्या के बल से एक स्थान पर बैठे बैठे ही इस प्रकार जल सोख लिया कि कूप, बावड़ी और तालाब आदि जहाँ कहीं मीठा जल था, वहाँ कीचड़ के सिवा पानी का नाम तक न रह गया।

इसके बाद प्रद्युम्न, अपनी माया से एक उत्तम अश्व बनाकर, उसे मैदान

में नचात्रे लगे। उस अश्व को देखकर भानुक उस पर मुग्ध हो गया। उसने प्रद्युम्न से पूछा—“क्यों सौदागर! यह तुम्हारा ही अश्व है?” प्रद्युम्न ने कहा—“हां। इसपर भानुक ने कहा—“यह अश्व तुम मुझे दे दो, मैं इसका मुंह मांगा मूल्य देने को तैयार हूँ।” प्रद्युम्न ने कहा—“अच्छा, मूल्य की बात पीछे होगी, पहले आप परीक्षा करके इसे देख लीजिए, यदि आपको यह पसन्द होगा, तो मैं सहर्ष दे दूंगा।”

प्रद्युम्न की यह बात सुनकर भानुक ने ज्योंही उस पर सवारी की, त्योंही उसने इतनी उछल कूद, मचायी, कि भानुक जमीन पर आ गिरा। उसके सब कपड़े खराब हो गये और आंख, नाक तथा मुख आदि में भी बेतरह धूल भर गयी। भानुक ने किसी तरह खड़े हो, आँखें मलकर देखा, तो वहां न उस अश्व का ही पता था न प्रद्युम्न का ही। वह लज्जित हो, अपना शिर धुनता हुआ अपने वासस्थान को चला गया।

इसके बाद प्रद्युम्न ने एक विदूषक का रूप धारण किया और एक भेड़ पर सवार होकर, नगर निवासियों को हंसाते हुए वे वसुदेव की राजसभा में पहुँचे। उनको विचित्र वेश देखकर वहां जितने मनुष्य थे, वे सब ठठाकर हँस पड़े। प्रद्युम्न ने अपने विविध कार्यों द्वारा उन लोगों को और भी हँसाया। जब सब लोग हँसते हँसते थक गये, तब प्रद्युम्न ने अपना वह रूप पलटकर एक वेदपाठी ब्राह्मण का वेश धारण कर लिया।

इसी वेश में प्रद्युम्न बहुत देर तक नगर में विचरण करते रहे। अन्त में सत्यभामा की एक कुब्जा दासी से उनकी भेंट हो गयी। उन्होंने अपनी विद्या के बल से उसका कुबड़ापन दूर कर दिया। इससे कुब्जा को बड़ा ही आनन्द हुआ और वह भक्तिपूर्वक उनके चरणों पर गिर कर कहने लगी—“हे भगवान्! आप कौन हैं और कहा जा रहे हैं?”

प्रद्युम्न ने कहा—“मैं वेदपाठी ब्राह्मण हूँ और भोजन के लिए बाहर निकला हूँ। मुझे जहाँ इच्छानुसार भोजन मिलेगा, वहीं पर अब मैं जाऊंगा।”

कुब्जा ने कहा—“यदि ऐसी ही बात है, तो हे महाराज! आप मेरे साथ मेरी स्वामिनी सत्यभामा के घर चलिए। वहाँ राजकुमार भानुक का विवाह होने वाला है, इसलिए विविध प्रकार के मोदकादिक तैयार किये गये हैं। उनमें से कुछ पकवान खिलाकर मैं आपको सन्तुष्ट करूंगी।”

दासी की यह बात सुनकर प्रद्युम्न उसके साथ सत्यभामा के घर गये। वहां उन्हें बाहर बैठाकर वह दासी अन्दर गयी, सत्यभामा को उसे पहचानने में भ्रम हो गया। उसने पूछा—“तू कौन है ?” दासी ने कहा—“हे स्वामिनी ! मैं आपकी वही कुब्जा दासी हूँ, जो नित्य आपके पास रहती हूँ। क्या आप मुझे नहीं पहचान सकीं ?”

सत्यभामा ने कहा—“क्या तू वही कुब्जा है ? तेरा वह कूबड़पना कहाँ चला गया ? सचमुच, आज तुझे कोई न पहचान सकेगा।”

यह सुनकर कुब्जा हँस पड़ी और उसने सत्यभामा को उस ब्राह्मण का सब हाल कह सुनाया। सत्यभामा भी उस ब्राह्मण को देखने के लिए लालायित हो उठी। उसने पूछा—“वह ब्राह्मण कहां है ?”

कुब्जा ने कहा—“वह महल के बाहर बैठा हुआ है।”

सत्यभामा ने कहा—“जा तू, उस महात्मा को शीघ्र ही मेरे पास ले आ !”

कुब्जा तुरन्त बाहर गयी और उसी मायावी ब्राह्मण को अन्दर ले आयी। वह आशीर्वाद देकर एक आसन पर बैठ गया। तदनन्तर सत्यभामा ने उससे कहा—“हे ब्रह्मदेवता ! आपने इस कुब्जा का कुबड़ अच्छा कर अपनी असीम शक्ति सामर्थ्य का परिचय दिया है। अब आप मुझ पर भी दया करिये और मुझे रुक्मिणी की अपेक्षा अधिक सुन्दर बना दीजिए। आपके लिए यह जरा भी कठिन नहीं है। हे भगवन् ! आपकी इस कृपा के लिए मैं चिरऋणी रहूंगी।”

मायाविप्र ने कहा—“तुम्हें क्या हुआ है ? मुझे तो तुम परम रूपवती दिखायी देती हो। मैंने तो अन्य स्त्रियों में ऐसा रूप कहीं नहीं देखा।”

सत्यभामा ने कहा—“हे भद्र ! आपका कहना यथार्थ है। मैं अन्य स्त्रियों को देखते हुए अवश्य रूपवती हूँ, परन्तु अब मैं ऐसा रूप चाहती हूँ, जो अलौकिक और अनुपम हो, जिसके सामने किसी का भी रूप ठहर न सके।”

मायाविप्र ने कहा—“यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है, तो पहले अपने समूचे शरीर को कुरूप बना डालो। कुरूप होने पर विशेष रूप से सुन्दर बनाया जा सकता है।”

सत्यभामा ने कहा—“हे भगवन्! शरीर को कुरूप बनाने के लिए मुझे क्या करना चाहिए।”

मायाविप्र ने कहा—“पहले तुम अपना शिर मुंडा डालो, फिर समुचे शरीर में कालिख लगाकर फटे पुराने कपड़े पहन लो। इससे तुम कुरूप दिखायी देने लगोगी। ऐसा रूप धारण कर जब तुम मेरे सामने आओगी, तब मैं तुरन्त तुम्हें रूप लावण्य और सौभाग्य की आगार बना दूंगा।

सत्यभामा ने स्वार्थवश ऐसा ही किया। इसके बाद वह जब मायाविप्र के पास गयी, तब उसने कहा—“मैं तो इस समय भूखों मर रहा हूँ। भूख के कारण मेरा चित्त ठिकाने नहीं है। पहले मुझे पेट भर खाने को दो, तब मैं दूसरा काम करूँगा।”

यह सुनकर सत्यभामा ने रसोई दारिनों को उसे भोजन कराने की आज्ञा दी। इस पर ब्राह्मण देवता भोजन करने चले, किन्तु चलते समय उन्होंने सत्यभामा के कान में कहा—“हे अनघे! जब तक मैं भोजन करके न लौटू, तब तक तुम कुलदेवी के सामने बैठकर “रुडु बुडु रुडु बुडु स्वाहा” इस मन्त्र का जप करो।” सत्यभामा ने ब्राह्मण देवता की यह आज्ञा भी चुपचाप सुन ली और मन्त्र जप करना भी आरम्भ किया।

उधर ब्राह्मणदेवता भोजन करने गये और अपनी विद्या के बल से वहां भोजन की जितनी सामग्री थी, वह सब चट कर गये। उनका यह हाल देखकर बेचारी रसोईदारिने घबड़ा गयी। वे डरने लगी, कि सत्यभामा यह हाल सुनेगी, तो न जाने क्या कहेंगी? अन्त में जब वहां जल के सिवा भोजन की कोई भी सामग्री शेष न बची, तब लाचार होकर उन्हें मायाविप्र से कहना पड़ा, कि भोजन सामग्री समाप्त हो गयी है, इसलिए महाराज अब दया करिए! महाराज तो यह सुनकर चिढ़ उठे। उन्होंने कहा—“यदि भरपेट खिलाने की सामर्थ्य नहीं थी, तो व्यर्थ ही मुझे यहां पर क्यों बुलाया? मेरा पेट अभी नहीं भरा। अब मुझे कहीं अन्यत्र जाकर अपनी उदरपूर्ति करनी पड़ेगी।”

इस प्रकार रोब दिखाकर वह ब्राह्मण वेशधारी प्रद्युम्न वहां से चलते बने और इधर बेचारी सत्यभामा सौन्दर्य प्राप्त करने की आशा में अपने रूप को विरूप बना, उस मन्त्र का जप करती ही रह गयी।

सत्यभामा के महल से निकलकर प्रद्युम्न एक बालसाधु का वेश धारण कर, उसी वेश में रुक्मिणी के महल में पहुँचे। नेत्रों को आनन्द देनेवाला उनका चन्द्रसमान रूप देखकर रुक्मिणी उठकर खड़ी हो गयी और उनको आसन देने के लिये अन्दर गयी। इतने ही में वे वहां रक्खे हुए कृष्ण के सिंहासन पर बैठ गये। आसन लेकर बाहर आने पर रुक्मिणी ने देखा, कि साधु महाराज कृष्ण के आसन पर बैठे हुए हैं, तब उनके नेत्र आश्चर्य से विकसित हो गये। उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—‘महाराज! मुझे एक बात कहने के लिए क्षमा कीजिएगा। मैंने सुना है कि इस सिंहासन पर श्रीकृष्ण या उनके पुत्र के सिवा यदि कोई ओर बैठेगा, तो देवतागण उसे सहन न करेंगे और उसका अनिष्ट होगा।’

माया साधु ने मुस्करा कर कहा—‘माता! आप चिन्ता न करें। मेरे तप के प्रभाव से देवता मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते।’

उसका यह उत्तर सुनकर रुक्मिणी शान्त हो गयी। थोड़ी देर बाद उन्होंने पूछा—‘महाराज! यहां आपका आगमन किस उद्देश्य से हुआ है? मेरा योग्य जो कार्यसेवा हो, वह निःसंकोच होकर कहिये।’

मायवी साधु ने कहा—‘हे भद्रे! मैं सोलह वर्ष से निराहार तप कर रहा हूँ। यहां तक, कि मैंने माता का दूध भी नहीं पिया। आज मैं पारणा करने के लिये यहां आया हूँ। आप मुझे जो कुछ दे सकती हो, सहर्ष दें।’

रुक्मिणी ने कहा—‘हे मुने! आज तक मैंने सोलहवर्ष का तप कहीं भी नहीं सुना। हां, उपवास से लेकर एक वर्ष का तप अवश्य सुना है।’

माया साधु ने कुछ रुष्ट होकर कहा—‘आपको इन सब बातों पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि आपके घर में कुछ हो और आप मुझे देना चाहती हो तो दे दें, अन्यथा मैं सत्यभामा के यहां चला जाऊंगा।’

रुक्मिणी ने कहा—‘नहीं महाराज, आप नाराज न होइए। असल बात तो यह है कि आज मैंने चिन्ता के कारण कुछ भी भोजन नहीं बनाया है। इसलिए ऐसी अवस्था में आपको मैं क्या दूँ?’

माया साधु ने गंभीरता पूर्वक पूछा—‘आज आपको इतनी चिन्ता क्यों हैं?’

रुक्मिणी ने कहा—“महाराज! मुझे एक पुत्र हुआ था पर उसका वियोग हो गया है। अब तक मैं उसके मिलन की आशा में कुल देवी की आराधना कर रही थी। आज मैंने कुल देवी के समक्ष अपने शिर का बलिदान चढ़ाना स्थिर किया और तदनुसार ज्योंहि मैंने अपनी गर्दन पर प्रहार किया, त्योंही देवी ने प्रसन्न होकर कहा—“हे पुत्री। इतनी शीघ्रता मत कर! जिस दिन तुम्हारे इस आम्रवृक्ष पर असमय में बौर आयेंगे, उसी दिन तुम्हारा पुत्र तुमसे आ मिलेगा। “मैं देखती हूँ कि इस आम्रवृक्ष में तो बौर लग गये, परन्तु मेरा पुत्र न आया। इसीसे मेरा जी दुःखी है, हे महात्मन्! लग्न और राशि आदि देखकर क्या आप मुझे यह बतला सकते हैं, कि मेरा पुत्र कब आयागा?”

माया साधु ने कहा—“जो मनुष्य बिना कुछ भेंट दिये ज्योतिषी से प्रश्न करता है, उसे लाभ नहीं होता।”

रुक्मिणी ने कहा—“अच्छा महाराज! बतलाइये, मैं आपको क्या दूँ?”

माया साधु ने कहा—“तपश्चर्या के कारण मेरी पाचनशक्ति बहुत कमजोर हो गयी है, इसलिये मुझे मण्डु (मांड) बना दो!”

रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण के लिए कुछ लड्डू बना रखे थे। उन्हींको तोड़कर वह मण्डु बनाने की तैयारी करने लगी, परन्तु माया साधु ने अपनी विद्या के प्रभाव से ऐसी युक्ति कर दी कि, किसी तरह आग ही न सुलग सकी। इससे रुक्मिणी बहुत चिन्तित हो उठी। यह देखकर मायासाधु ने कहा—“यदि मण्डु तैयार नहीं हो सकता, तो मुझे लड्डू ही दे दो। भूख के कारण मेरे प्राण निकले जा रहे हैं?”

रुक्मिणी ने कहा—“मुझे यह लड्डू देने में कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु यह बहुत ही गरिष्ठ हैं। कृष्ण के सिवा इन्हें शायद ही कोई दूसरा पचा सके! मुझे भय है कि आपको यह लड्डू खिलाने से मुझे कहीं ब्रह्महत्या का पाप न लग जाय।”

माया साधु ने कहा—“तपश्चर्या के कारण मुझे कभी अजीर्ण नहीं होता।”

यह सुनकर रुक्मिणी उसे डरते-डरते लड्डू देने लगी और वह एक के बाद एक अपने मुंह में रखने लगा। उसको इस तरह अनायास लड्डू खाते देखकर रुक्मिणी को अत्यन्त आश्चर्य हुआ और उन्होंने हँसकर कहा—“धन्य है महाराज! आप तो बड़े ही बलवान मालूम होते हैं।”

उधर सत्यभामा अब तक कुल देवी के सामने बैठी हुई मायाविप्र के आदेशानुसार मन्त्र का जप ही कर रही थी। उसका यह जप न जाने कब तक चला करता, परन्तु इतने ही में कुछ अनुचरों ने आकर पुकार मचायी कि—“हे स्वामिनी! नगर में आज महा अनर्थ हो गया है। फल से लदे हुए वृक्षों को न जाने किसने फल रहित कर दिये हैं। घास की दूकानों को घास रहित और जलाशयों को भी जल रहित बना दिया है। इसके अतिरिक्त भानुक को न जाने किसने एक उत्पाती अश्व दे दिया, जिस पर बैठने से उनकी दुर्गति हो गयी। पता लगाने पर उस घोड़े का ही न पता मिलता है, न उसके मालिक का ही। हम लोग इस सब घटनाओं से पूरी तरह पेशान हो रहे हैं।

यह सब बातें सुनकर सत्यभामा का ध्यान भंग हुआ। उसने दासियों से पूछा—“वह ब्राह्मण कहां है?” उत्तर में दासियों ने डरते डरते उसके भोजन करने और नाराज होकर चले जाने का हाल उसे कह सुनाया। इससे सत्यभामा मन ही मन जलकर खाख हो गयी। उसे इस बात से बड़ा ही दुःख हुआ कि वह ब्राह्मण उसे रूपवती बनाने का प्रलोभन देकर उलटा उसे विरुप बनाकर चला गया। इसलिए वह अपने मन में कहने लगी कि—“अब तो मुझे रुक्मिणी के सामने और भी नीचा देखना पड़ेगा।” उसे यह भली भाँति ख्याल था कि आज रुक्मिणी का शिर मुंडाया, जायगा, परन्तु अब तक वह चुपचाप बैठी हुई थी। ब्राह्मण देवता की कृपा से जब वह अपना शिर मुंडाकर विरूप बन गयी, तब वह कहने लगी, कि अब रुक्मिणी का शिर मुंडाने में भी विलम्ब न करना चाहिए। यह सोचकर उसने उसी समय कई दासियों को एक टोकरी देकर आज्ञा दी कि इस टोकरी में रुक्मिणी के केश ले आओ।

सत्यभामा के आदेशानुसार दासियाँ रुक्मिणी के पाय गयी और उससे कहने लगी कि हमारी स्वामिनी ने आपके केश ले आने के लिए हमें आपकी सेवा में भेजा है। उस समय मायामुनि भी वहां बैठे हुए थे। दासियों का

उपरोक्त वचन सुनकर वे उठ खड़े हुए और अपनी विद्या के बल से क्षण मात्र में उन सबों के शिर मूँडकर उन्हीं के केशों से वह टोकरी भर कर, उन्हें सत्यभामा के पास वापस भेज दिया।

दासियों की यह दुरवस्था देखकर सत्यभामा को बड़ा ही क्रोध आया। उसने दासियों से पूछा—“तुम्हारी ऐसी अवस्था किसने की?”

दासियों ने झनक कर कहा—“आप यह प्रश्न ही क्यों करती हैं? जैसा स्वामी होता है, वैसा ही उसका परिवार भी होता है!”

सत्यभामा ने इससे भ्रमित होकर इस बार कई हजारों को रुक्मिणी के केश लाने का आदेश दिया। तदनुसार वे भी रुक्मिणी के पास पहुँचे—पर मायामुनि ने उनकी भी वही गति की जो दासियों की की थी। दासियों के तो उन्होंने केवल केश ही मूँडे थे, परन्तु अबकी बार नाईयों के तो उन्होंने शिर का चमड़ा तक छील लिया!

दासियों की तरह यह हजाम भी रोते कलपते सत्यभामा के पास पहुँचे। सत्यभामा इस बार और भी क्रुद्ध हुई। उसने कृष्ण के पास जाकर कहा—“मैंने आपके सामने केश देने की बाजी लगायी थी। आज वह दिन आ पहुँचा है। यदि रुक्मिणी के पुत्र का विवाह होता, तो वह आज मुझे छोड़ न देती। अब आप उसे बुलाकर मुझे शीघ्र ही उसके केश दिलाइए!”

कृष्ण ने हँसकर कहा:—“प्यारी! मैं उसके केश क्या दिलाऊँ? तुमने तो उसके बदले पहले ही से अपना शिर मुँडवा लिया है।”

सत्यभामा ने कहा—“आज मुझे ऐसी दिल्लगीयाँ अच्छी नहीं लगती। अम शीघ्र ही मुझे रुक्मिणी के केश दिलाइए!”

कृष्ण ने कहा—“अच्छा, मैं बलराम को तुम्हारे साथ भेजता हूँ। उनके साथ जाकर तुम स्वयं रुक्मिणी के केश ले आओ।”

कृष्ण के आदेशानुसार बलराम सत्यभामा के साथ रुक्मिणी के वासस्थान में गयी। वहाँ प्रद्युम्न ने अपनी विद्या से कृष्ण का एक रूप उत्पन्न किया। बलराम उन्हें देखते ही लज्जित हो उठे और बिना कुछ कहे सुने ही चुप चाप पूर्व स्थान में लौट आये। वहाँ भी कृष्ण को देखकर वे कहने लगे—“आप यह क्या दिल्लगी कर रहे हैं? मुझे सत्यभामा के साथ रुक्मिणी के केश लेने

भेजा और आप स्वयं मेरे पहले ही वहां पहुँच गये। फिर, न वहाँ जाते देरी, न यहां आते देरी! मेरे वापस आने के पहले ही आप भी यहां वापस आ गये! रुक्मिणी के यहां आपको देखकर मेरे साथ बेचारी सत्यभामा भी लज्जित हो गयी!”

बलराम के यह वचन सुनकर कृष्ण बड़े ही चक्र में पड़ गये। वे शपथ पूर्वक कहने लगे कि—“मैं वहां नहीं गया, तुम मुझ पर क्यों संदेह करते हो।” यह सुनकर बलराम तो शान्त हो गया—“किन्तु सत्यभामा को जरा भी विश्वास न हुआ। वह क्रुधित होकर कहने लगी कि—“यह सब तुम्हारी ही माया है!” यह कहती हुई वह अपने महल को चली गयी। कृष्ण इससे बड़े असमंजस में पड़ गये और वे उसके भवन में जाकर उसे समझाने बुझाने और अपनी सत्यता पर विश्वास कराने लगे।

इधर रुक्मिणी के वहां नारद ने आकर उससे कहा कि—“हे भद्रे! तुम अपने पुत्र को भी नहीं पहचान सकती हो? यही तो तुम्हारा पुत्र प्रद्युम्नकुमार है!”

नारद ने जब यह भेद खोल दिया, तब प्रद्युम्न ने भी साधु का वेश परित्याग कर अपना देव समान असली रूप धारण कर लिया। इसके बाद वे प्रेम पूर्वक माता के पैरों पर गिर पड़े। रुक्मिणी के स्तनों से भी उस समय वात्सल्य के कारण दूध की धारा बह निकली। उन्होंने अत्यन्त स्नेह पूर्वक प्रद्युम्न को गले से लगा लिया और हर्षाश्रुओं से उसका समूचा शरीर भिगो डाला।

इस प्रेम मिलन के बाद प्रद्युम्न ने रुक्मिणी से कहा—“हे माता! जब तक मैं अपने पिता को कोई चमत्कार न दिखाऊँ तब तक आप उनको मेरा परिचय न दें!”

हर्ष के आवेश में रुक्मिणी ने इसका कुछ भी उत्तर न दिया। प्रद्युम्न उसी समय एक माया-रथ पर रुक्मिणी को बैठाकर वहाँ से चल पड़े। वे मार्ग में शंख बजा बजाकर लोगों से कहते जाते थे कि मैं रुक्मिणी को हरण किये जाना हूँ। यदि कृष्ण में शक्ति हो, तो इसकी रक्षा करे। उनके इस कार्य से चारों ओर हाहाकार मच गया। शीघ्र ही कृष्ण ने भी यह समाचार सुना। वे कहने लगे

कि, न जाने कौन दुर्मति अपना प्राण देने आया है। यह कहते हुए वे तुरन्त बलराम और कुछ सैनिकों को साथ लेकर प्रद्युम्न के पीछे दौड़ पड़े। प्रद्युम्न तो उनके आगमन की बाट ही जोह रहा था। उसने एक ही बार में समस्त सैनिकों के दांत खटे कर, कृष्ण को शस्त्र रहित बना दिया। इससे कृष्ण को बहुत ही आश्चर्य और दुःख हुआ।

इसी समय कृष्ण की दाहिनी भुजा फड़क उठी। कृष्ण ने यह हाल बलराम से कहा। इसी समय नारद ने उनके पास आकर कहा—“हे कृष्ण! अब युद्ध का विचार छोड़ दीजिए और रुक्मिणी सहित अपने इस पुत्र को अपने मन्दिर में ले जाइए। यही आपका वह खोया हुआ धन प्रद्युम्नकुमार है।”

ज्योंही नारदमुनि ने कृष्ण को प्रद्युम्न का यह परिचय दिया, त्योंही प्रद्युम्न भी रथ से उतरकर कृष्ण के चरणों पर गिर पड़ा। कृष्ण ने अत्यन्त प्रेम से उसे उठाकर अपने गले से लगा लिया। पिता और पुत्र का यह मिलन भी दर्शनीय था। जिसने उस दृश्य को देखा, उसी के नेत्र धन्य हो गये।

प्रद्युम्नकुमार को बार-बार आलिङ्गन करने के बाद कृष्ण, रुक्मिणी और प्रद्युम्न के साथ एक रथ पर सवार हुए और बड़ी धूम धाम के साथ नगर के प्रधान मार्गों से होकर उनको अपने मन्दिर में ले गये। नगर निवासियों ने उस समय उन पर पुष्पवर्षा कर, उनके जयजय कार से आकाश गुंजा दिया। आज रुक्मिणी की अराधना सफल हो गयी-देवी का वचन सत्य हो गया उसकी सूनी गोद भर गयी।



पन्द्रहवाँ परिच्छेद शाम्ब-चरित्र



प्रद्युम्न के आगमन से द्वारिका नगरी में चारों ओर आनन्द की हिलोरें उठने लगी। भानुक का ब्याह तो था ही, प्रद्युम्न के आने के उपलक्ष्य में भी कृष्ण ने एक महोत्सव मनाने का आयोजन किया। परन्तु इतने ही में दुर्योधन ने आकर कृष्ण से कहा—“हे स्वामिन्! मेरी पुत्री जो शीघ्र ही आपकी पुत्रवधु होने वाली थी, जिसका ब्याह भानुककुमार के साथ होने वाला था, उसे कोई हरण कर ले गया है। आप शीघ्र ही उसका पता लगवाइये, वरना भानुक का ब्याह ही रुक जायगा।”

कृष्ण ने कहा—“मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ, जो बतला दूँ कि इस समय वह कहाँ है। यदि मैं सर्वज्ञ होता, तो जिस समय प्रद्युम्न को कोई हरण कर ले गया था, उस समय मैं उसे क्यों न खोज निकालता!”

कृष्ण की भांति अन्यान्य लोगों ने भी इस विषय में अपनी असमर्थता प्रकट की। अन्त में प्रद्युम्न ने कहा—“मैं अपनी प्रज्ञा विद्या से उसका पता लगाकर उसे अभी लिये आता हूँ। मेरे लिये यह बायें हाथ का खेल है।”

प्रद्युम्न के यह वचन सुनकर दुर्योधन तथा कृष्णादिक को अत्यन्त आनन्द हुआ। प्रद्युम्न उसी समय उठ खड़ा हुआ और थोड़ी ही देर में उस कन्या को लाकर उसके सामने हाजिर कर दिया। यह देख कर कृष्ण परम प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रद्युम्न से कहा—“तुमने इस कन्या का पता लगाया है, इसलिए यदि तुम कहो तो इससे तुम्हारा ब्याह कर दिया जाय। परन्तु प्रद्युम्न ने कहा कि—“यह मेरे भाई की पत्नी है, इसलिए मैं इससे ब्याह कदापि नहीं

कर सकता। निदान, उसका ब्याह भानुक के साथ कर दिया गया। प्रद्युम्न की इच्छा न होने पर भी कृष्ण ने उसी समय कई विद्याधर राजकुमारियों के साथ प्रद्युम्न का भी ब्याह कर दिया। नारदमुनि ने प्रद्युम्न का पता लगाने और उसे कालसंवर के यहां से लाने में बड़ा परिश्रम किया था, इसलिए कृष्ण और रुक्मिणी उनके परम आभारी थे। विवाहोत्सव पूर्ण होने पर उन्होंने यथाविधि उनका पूजन कर सम्मान पूर्वक उन्हें विदा किया।

उधर प्रद्युम्न की सम्पत्ति और प्रशंसा से सत्यभामा को बड़ा ही सन्ताप हुआ और वह कोप गृह में जाकर एक कोने में लेट गयी। कृष्ण जब उसके भवन में गये, तब उनको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—“हे सुभगे ? तुम इस प्रकार दुःखी क्यों हो रही हो ? क्या किसीने तुम्हारा अपमान किया है ?”

सत्यभामा ने सजल नेत्रों से कहा—“नहीं, किसीने मेरा अपमान नहीं किया है, परन्तु एक आन्तरिक पीड़ा के कारण मेरा हृदय विदीर्ण हुए जा रहा है। मैं आपसे सत्य कहती हूं, कि यदि मेरे प्रद्युम्न के समान पुत्र नहीं होगा, तो मैं अवश्य प्राण त्याग दूंगी।”

उसका यह आग्रह देखकर कृष्ण ने उसे सान्त्वना दी। इसके बाद उन्होंने हरिणेगमेषी देव को उद्देस कर अष्टम तप करते हुए पौषध व्रत ग्रहण किया। इससे हरिणेगमेषी ने प्रकट होकर पूछा—“हे राजन् ! कहिये, आपका क्या काम है ? आपने मुझे क्यों याद किया है ?”

कृष्ण ने कहा—“भगवन् ! सत्यभामा को प्रद्युम्न के समान एक पुत्र चाहिए। आप उसकी यह इच्छा पूर्ण कीजिए।”

हरिणेगमेषी ने कृष्ण के हाथ में एक पुष्पहार देकर कहा—“राजन् ! यह हार पहनाकर आप जिस रमणी से रमण करेंगे, उसीके मनवाञ्छित पुत्र होगा।”

इतना कह वह देव तो अन्तर्धान हो गया। इधर प्रद्युम्न को अपनी प्रज्ञप्ति विद्या के कारण यह सब हाल मालूम हुआ। इसलिए उसने अपनी माता को उस हार की बात बतलाकर कहा कि—“हे माता। यदि आप मेरे समान दूसरा पुत्र चाहती हो, तो किसी तरह वह हार अपने हाथ कीजिए।”

रुक्मिणी ने कहा—“हे पुत्र! मैं अकेले तुमको ही पुत्र रूप में पाकर धन्य हो गयी हूँ। अब मुझे अन्य पुत्रों की जरूरत नहीं है।

प्रद्युम्न ने कहा—“अच्छा, तब यह बतलाइये, कि मेरी अन्य माताओं में कौन माता आपको अधिक प्रिय हैं? जो आपको अधिक प्रिय हो और जिसे आप कहें, उसीको मैं वह हार दिलवा दूँगा।”

रुक्मिणी ने कहा—“हे पुत्र! तुम्हारे वियोग से जिस प्रकार मैं दुःखित रहती थी, उसी प्रकार जाम्बवती भी दुःखित रहती थी। तुम उसे वह हार दिला दो। उसके पुत्र होने से मुझे प्रसन्नता ही होगी!”

इसके बाद प्रद्युम्न के कहने से रुक्मिणी ने जाम्बवती को अपने पास बुला भेजा। उसके आने पर प्रद्युम्न ने अपनी प्रज्ञप्ति विद्या के बल से उसे सत्यभामा के सदृश बना दिया। इसके बाद रुक्मिणी ने सब बातें समझाकर सन्ध्या के समय उसे कृष्ण के शयनागार में भेज दिया। कृष्ण ने उसे सत्यभामा समझकर उसे सहर्ष वह हार देकर उसके साथ समागम किया। इसके बाद जाम्बवती ने सिंह का एक स्वप्न देखा और महाशुक्र देवलोको से कैटभ का जीव च्युत होकर उसके उदर में आया। जाम्बवती को इससे अत्यन्त आनन्द हुआ और वह मन ही मन रुक्मिणी तथा प्रद्युम्न को धन्यवाद देती हुई अपने महल को चली गयी।

उधर कृष्ण ने दिन के समय सत्यभामा से उस हार का हाल बतलाकर रात्रि के समय उसे अपने शयनगृह में बुलाया था। उनके इस आदेशानुसार जाम्बवती के चले जाने पर, सत्यभामा आ खड़ी हुई। उसे देखकर कृष्ण अपने मन में कहने लगे—“अहो! स्त्रियों में कितनी भोगाशक्ति होती है। यह अभी मेरे पास से गयी है और फिर मेरे पास आ पहुँची है। साथ ही उन्हें यह भी विचार आया कि सत्यभामा का रूप धारण कर पहले किसी ने मुझे धोखा तो नहीं दिया है? कुछ भी हो, उन्होंने सत्यभामा को निराश करना उचित न समझा। वैसा करने से अवश्य ही उसका जी दुःखित हो जाता। कृष्ण ने यही सोचकर उसे भी रति दान देना स्थिर किया।

सत्यभामा का रति समय जानकर प्रद्युम्न ने उसी समय कृष्ण की भेरी बजा दी। उसकी ध्वनि सुनते ही चारों ओर खलबली मच गयी। कृष्ण को

मालूम हुआ कि प्रद्युम्न ने ही सत्यभामा को छकाया है, क्योंकि सपत्नी का एक पुत्र दस सपत्नी के बराबर होता है खेर, भवितव्यता को कौन रोक सकता है? सत्यभामा ने भीत भाव से सहवास किया है इसलिए निःसन्देह वह भीरू पुत्र को जन्म देगी।”

दूसरे दिन सुबह कृष्ण रुक्मिणी के भवन में गये तो वहां जाम्बवती को उस दिव्य हार से विभूषित देखा। उन्हें अपनी ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते देखकर जाम्बवती ने कहा—“स्वामिन्! आज मेरी ओर आप इस तरह क्यों देख रहे हैं? मैं तो आपकी वही पत्नी हूँ, जिसे आप अनेक बार देख चूके हैं।”

कृष्ण ने कहा—“यह तो सब ठीक है, परन्तु यह हार तुमने कहां से पाया है?”

जाम्बवती ने हँसकर कहा—“आप ही ने तो मुझे दिया था। क्या आप अपने हाथों का किया हुआ काम भी भूल जाते हैं?”

यह सुनकर कृष्ण हँस पड़े इस पर जाम्बवती ने उन्हें अपनी सिंह विषयक स्वप्न कह सुनाया। सुनकर कृष्ण ने कहा—“यह स्वप्न बहुत ही उत्तम है। हे देवि! प्रद्युम्न के समान तुम्हें भी एक पुत्र रत्न होगा।” इतना कह कृष्ण उस समय वहां से चले गये।

तदनन्तर जाम्बवती ने गर्भकाल पूर्ण होने पर शुभ मुहूर्त में सिंह के समान अतुल बलशाली शाम्ब नामक पुत्र को जन्म दिया। इसी समय सारथी के जयसेन और दारुक तथा मन्त्री के सुबुद्धि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सत्यभामा भी भीतावस्था में गर्भवती हुई थी। इसलिए उसने भीरू नामक एक पुत्र को जन्म दिया। कृष्ण की अन्यान्य पत्नियों ने भी इसी समय एक एक पुत्र को जन्म दिया। परन्तु इन सबों की अपेक्षा सारथी और मन्त्री के पुत्रों के साथ शाम्बकुमार की विशेष मित्रता थी। इसलिए वह उन्हीं के साथ खेलता कूदता हुआ बड़ा होने लगा। जब उसकी अवस्था पढ़ने लिखने योग्य हुई, तब उसने बहुत ही अल्प समय में अनेक विद्या और कलाओं में पारदर्शिता प्राप्त कर ली।

कुछ दिनों के बाद रुक्मिणी को अपने भाई राजा रुक्मि की याद आयी।

उसके वैदर्भी नामक एक रूपवती पुत्री थी। रुक्मिणी ने सोचा कि उसका ब्याह प्रद्युम्न के साथ हो जाय तो बहुत अच्छा हो। यह सोचकर उसने भोजकटपुर में राजा रुक्मि को कहलाया कि—“आप अपनी पुत्री वैदर्भी का विवाह प्रद्युम्नकुमार के साथ कर दें, तो अत्युत्तम हो। इसके पहले मेरा और कृष्ण का योग हो चुका है, वह दैव योग से ही हुआ है। अब उसके सम्बन्ध में किसी तरह की शंका न करें। आप अपने हाथ से वैदर्भी और प्रद्युम्नकुमार का भी योग मिला दे। इससे हम लोगों का पुराना प्रेमसम्बन्ध फिर से नया हो जायगा।”

रुक्मिणी का यह सन्देश सुनकर रुक्मि को अपनी पुरानी शत्रुता याद आ गयी। इसलिए उसने दूत से कहा—“हे दूत! मैं चाण्डालों के यहां अपनी पुत्री का विवाह कर सकता हूँ परन्तु कृष्ण के वंश में उसका विवाह कदापि नहीं कर सकता।”

उसका यह उत्तर सुनकर दूत वापस लौट आया और उसने रुक्मिणी को सब हाल कह सुनाया। भाई का यह अपमानजनक उत्तर सुनकर रुक्मिणी को इतना दुःख हुआ कि रात को उसे नींद भी न आयी। उसकी यह अवस्था देखकर प्रद्युम्न ने पूछा—“माता! आज तुम इतनी उदास क्यों हो?” रुक्मिणी ने इसके उत्तर में रुक्मि राजा का सब वृत्तान्त उसे कह सुनाया। सुनकर प्रद्युम्न ने कहा—“हे माता! तुम चिन्ता न करो। रुक्मि पर मधुर वचनों का प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसलिए तो पिताजी ने आपके विवाह के समय दूसरी युक्ति से काम लिया था। मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब वैदर्भी के साथ ही विवाह करूंगा। यदि जरूरत हुई तो मैं भी पिताजी की तरह इस मामले में किसी युक्ति से ही काम लूंगा।”

इसके बाद दूसरे ही दिन शाम्बकुमार को अपने साथ लेकर प्रद्युम्नकुमार भोजकटपुर में जा पहुंचे। वहां वे दोनों चाण्डाल का वेश धारणकर नगर में घूम घूमकर किन्नर की भांति मधुरस्वर से गायन करने लगे। उनका गायन इतना सुन्दर, इतना मधुर और इतना मोहक होता था कि उसे जो सुनता था वही मुग्ध हो जाता था। धीरे धीरे इनकी बात राजा रुक्मि के कानों तक पहुंची। फलतः उसने भी उनको राज भवन में बुलाकर सपरिवार इनका गायन सुना।

गायत्र समाप्त होने पर उसने उन दोनों को काफी ईनाम देकर पूछा—
“तुम लोग यहां किस स्थान से आ रहे हो?”

माया चाण्डालों ने कहा—“राजन्! हम लोग स्वर्ग से द्वारिका नगरी देखने आये थे और इस समय वहीं से आ रहे हैं।”

इधर अपने पिता के पास ही राजकुमारी वैदर्भी बैठी हुई थी। उसने उत्सुकता पूर्वक उनसे पूछा—“क्या तुम लोग कृष्ण रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न को भी जानते हो?”

शाम्ब ही ने कहा—“कामदेव के समान उस महारूपवान् और बलवान् प्रद्युम्न को कौन नहीं जानता? उसको देखते ही दर्शक के नेत्र शीतल हो जाते हैं।”

प्रद्युम्न की यह प्रशंसा सुनकर वैदर्भी रागयुक्त और उत्कंठित बन गयी। इतने ही में एक मदोन्मत्त हाथी अपने बन्धन तुड़ाकर गजशाला से भाग आया और नगर में चारों ओर उत्पात मचाने लगा। किसी को वह पैरों से कुचल डालता, किसी को सूंड से पकड़कर आकाश में फेंक देता और किसी को इतनी तेजी से खदेड़ता, कि उसे भाग कर प्राण बचाना भी कठिन हो जाता। राजा रुक्मि के यहां जितने महावत थे, वे सभी उसे वश करने में विफल हो गये।

अन्त में, जब उसके उत्पात के कारण चारों ओर हाहाकार मच गया, तब राजा रुक्मि ने घोषणा की कि—“जो इस हाथी को वशकर लेगा, उसे मुंह मांग ईनाम दिया जायगा।” रुक्मि की यह घोषणा सुनकर शाम्ब और प्रद्युम्न इसके लिये कटिबद्ध हुए और उन्होंने मधुर संगीत द्वारा उस हाथी को स्तम्भित कर दिया। इसके बाद वे दोनों उसी पर सवार हो, उस गजशाला में ले गये और वहां उन्होंने उसे मजबूत जंजीरों से जकड़ दिया।

शाम्ब और प्रद्युम्न के इस पराक्रम की बात सुनकर रुक्मि ने प्रसन्नतापूर्वक उन दोनों को अपने पास बुलाया और उनके कार्य की प्रशंसा कर कहा—
“तुम लोग अपने इस कार्य के बदले मुझसे इच्छित वस्तु मांग सकते हो!”

चाण्डाल वेश धारी शाम्ब और प्रद्युम्न ने कहा—“हमारे पास कोई

रसोई बनाने वाली नहीं है। इससे हमें बड़ा ही कष्ट होता है और अनेक बार भूखों भी मरना पड़ता है यदि आप वास्तव में हमारे कार्य से सन्तुष्ट हैं, तो हे राजन्! अपनी राजकुमारी वैदर्भी को हमें देने की कृपा कीजिए।”

रुक्मिण तो यह सुनते ही आग बबूला हो उठा। उसने उसी समय उन दोनों को भला बुरा कहकर, नगर से बाहर निकलवा दिया।

प्रद्युम्न और शाम्ब नगर के बाहर एक वृक्ष के नीचे बैठकर इस बात पर विचार करने लगे, कि अब क्या करना चाहिए। प्रद्युम्न ने कहा—“मेरी माता दुःखित हो रही होगी, इसलिए अब वैदर्भी से विवाह करने में विलम्ब न करना चाहिए।” शाम्ब की भी यही राय हुई कि अब इस कार्य को शीघ्र ही निपटा डालना चाहिए। उस समय रात्री हो चली थी। कुछ देर बाद जब सब लोग घोर निद्रा में पड़कर खुरटि लेने लगे, तब प्रद्युम्न ने अपनी विद्या के बल से वैदर्भी के शयनागार में प्रवेश कर उसे रुक्मिणी का एक कृत्रिम पत्र दिया। उसमें प्रद्युम्न के लिए उसकी याचना की गयी थी। वैदर्भी उस पत्र को पढ़कर प्रसन्न हो उठी उसने प्रेम पूर्वक प्रद्युम्न से कहा—“हे भद्र! तुमने यह पत्र लाकर मुझ पर बड़ा ही उपकार किया है। बतलाओ, इस उपकार के बदले अब तुम मुझसे क्या चाहते हो?”

प्रद्युम्न ने कहा—“सुलोचने! इस उपकार के बदले तुम अपना तन मन मुझे अर्पण कर दो। इस पत्र में जिसके लिये तुम्हारी याचना की गयी है, वह प्रद्युम्न मैं ही हूँ।”

प्रद्युम्न का परिचय पाकर वैदर्भी के आनन्द का वारापार न रहा। उसने कहा—“अहो ! मालूम होता है कि मेरे मन की बात जान कर विधाता ने ही आपको मेरे पास भेज दिया है।” वह तुरन्त प्रद्युम्न के प्रस्ताव से सहमत हो गयी। प्रद्युम्न ने उसी समय अपनी विद्या के बल से अग्नि और विवाहोपयोगी सामग्री प्रकट कर वैदर्भी के साथ विवाह कर लिया। इसके बाद उन दोनों ने वह रात्रि इच्छानुसार हास्य-विलास करने में व्यतीत की। पिछली रात में प्रद्युम्न ने वैदर्भी से कहा—“हे सुन्दरि! अब मैं शाम्ब के पास जाता हूँ, तुम्हारे माता पिता या अन्य लोग तुम्हारे शरीर पर कंकणादिक वैवाहिक चिन्ह देखकर तुमसे चाहे जितना पूछे, किन्तु इस विवाह का हाल किसी हालत में

भी अपने मुख से कहना तुम्हारे लिये उचित न होगा। हां, यदि इसके कारण तुम पर कोई विपत्ति आये, तो मुझ पर विश्वास रखना, मैं उस विपत्ति से तुम्हारी रक्षा अवश्य करूंगा।”

इतना कह प्रद्युम्नकुमार वहां से चले आये और वैदर्भी रात्रिजागरण तथा रति श्रम से शान्त होकर वहीं सो गयीं। सुबह सुयोदय हो जाने पर भी जब उसकी निद्रा भंग न हुई, तब उसकी धात्री ने आकर उसे जगाया। जगाते समय अचानक उसकी दृष्टि उसके हाथ में बंधे हुए कंकण पर जा पड़ी। उसे देखते ही वह मानो चौंक पड़ी। उसने वैदर्भी से उसके सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किये, किन्तु प्रद्युम्न के आदेशानुसार उसने उसके प्रश्नों का कुछ भी उत्तर न दिया।

इससे धात्री बहुत भयभीत हुई। उसने अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने के लिए उसी समय यह हाल राजा और रानी से कह सुनाया। उन दोनों ने भी उसी समय उसके पास आकर उससे अनेक प्रकार के प्रश्न किये, किन्तु उसने एक का भी उत्तर न दिया। राजा और रानी इससे बड़ी चिन्ता में पड़ गये। वैदर्भी के शरीर पर विवाह और पति समागम के अनेक चिन्ह स्पष्ट रूप से दिखायी दे रहे थे, किन्तु वह इस विषय में कुछ भी न बतलाती थी।

अन्त में रुक्मि राजा को वैदर्भी पर क्रोध आ गया। वह अपने मन में कहने लगा—“यह कन्या दुराचारिणी और कुलटा है। मालूम होता है कि अविवाहिता अवस्था में ही गुप्त रूप से किसी पुरुष के साथ क्रीड़ा करती है। ऐसी कन्या का तो मुख देखना भी महापाप है। उस दिन उन चाण्डालों ने इसकी याचना की थी। यदि मैंने इसे उन्हीं को दे दिया होता, तो आज मुझे यह मनःकष्ट न होता। खैर, मैं समझता हूँ कि वे दोनों अभी भी नगर के बाहर कहीं न कहीं मौजूद होंगे। यदि वे मिल जायें, तो इसको उन्हीं के सुपर्द कर देना चाहिए। इस पापिनी के लिए यही उपयुक्त दण्ड होगा—यही इसके पाप का प्रायश्चित्त होगा।”

इस प्रकार विचार कर रुक्मि ने उन चाण्डालों को खोज लाने के लिए चारों ओर अपने आदमी रवाना कर दिये। वे अभी तक नगर के बाहर ही थे, इसलिए उनको लाने में उन्हें कुछ भी विलम्ब न हुआ। उनको देखते ही रुक्मि ने कहा—“तुमने मेरी कन्या की याचना की थी, इसलिए मैं तुम्हें सहर्ष उसे

देता हूँ। अब तुम उसे लेकर ऐसे स्थान में चले जाओ, जहाँ मैं तुम्हें देख न सकूँ।”

इतना कह, राजा रुक्मि ने रोषपूर्वक वैदर्भी को उन चाण्डालों के साथ जाने की आज्ञा दे दी। चाण्डालों ने वैदर्भी का हाथ पकड़ते हुए पूछा—“हे राजपुत्री! हमारे यहाँ पानी भरना, रस्सियाँ बनाना, चमड़ा बेचना-यही सब काम रहते हैं, क्या तू यह सब कर सकेगी?”

वैदर्भी ने आँसू बहाते हुए कहा—“विधाता मुझसे जो जो काम करायेंगा, वह मैं अवश्य करूँगी। विधाता की आज्ञा दुर्लभ्य है।” उसके इस उत्तर में सन्तुष्ट हो, वे दोनों उसे अपने साथ लेकर वहाँ से चलते बने।

राजा रुक्मि ने क्रोध के आवेश में वैदर्भी को चाण्डालों के साथ तो भेज दिया, किन्तु शीघ्र ही इसके लिए उसे घोर पश्चात्ताप होने लगा। वह अपनी तबियत बहलाने के लिए राज सभा में जा बैठा, किन्तु वहाँ भी उसे शान्ति न मिल सकी। वैदर्भी के स्मरण से उसके नेत्रों में आँसू भर आये। वह अपने मन में कहने लगा—“हा वत्से! हे वैदर्भी! इस समय तू न जाने कहां होगी? मैंने तुझे चाण्डालों के सुपर्द कर निःसन्देह बड़ा ही अनुचित कार्य किया है। तूने तो इसके विरोध में एक शब्द भी न कहा, तू तो गरीब गाय की तरह उन लोगों के पीछे चल पड़ी, किन्तु मैं अब अपने चित्त को किस प्रकार सान्त्वना दूँ? वास्तव में क्रोध से बढ़कर इस संसार में मनुष्य का दूसरा कोई शत्रु नहीं है। क्रोध ने ही मेरे हाथों से अनुचित कार्य कराया। रुक्मिणी ने प्रद्युम्न के लिए तेरी याचना की थी, परन्तु मैंने उसे अस्वीकार कर दिया था। अब मैं सोचता हूँ कि इससे तो वही अच्छा था। हा देव! अब मैं क्या करूँ? संसार को मैं अपना कौनसा मुँह दिखाऊँ?”

राजा रुक्मि राज सभा में बैठा हुआ इसी तरह पश्चात्ताप कर रहा था। इतने ही में उसे वाद्यों की मधुर और गंभीर ध्वनि कहीं से आती हुई सुनायी दी। उसके सम्बन्ध में पूछताछ करने पर कई राज कर्मचारियों ने पता लगाकर बतलाया कि—“हे स्वामिन्! नगर के बाहर एक विशाल प्रासाद में प्रद्युम्न और शाम्ब वैदर्भी के साथ बैठे हुए हैं, वहीं पर यह मनोहर बाजे बज रहे हैं और सुन्दर नाटक हो रहा है। हे प्रभो! संगीत और बाजों की मधुर ध्वनि

सुनकर, हमारी समस्त प्रजा सागर की भांति उसी ओर चली जा रही है।”

यह संवाद सुनकर राजा रुक्मि को अत्यन्त आनन्द हुआ। वह समझ गया कि वैदर्भी चाण्डालों के नहीं, बल्कि यह कुल भूषण प्रद्युम्न और शाम्ब के ही हाथों में जा पड़ी है। हां, यह आश्चर्य घटना कैसे घटित हुई, वह चाण्डाल कौन थे, प्रद्युम्न आदि यहां कैसे आ पहुँचे, नगर के बाहर प्रसाद कहां से आ गया, आदि बातें उस समय उसकी समझ में न आ सकी। उसने इनको समझने की चेष्टा भी न की। वह उसी समय राज सभा से उठकर, उस प्रसाद में गया और वहाँ से सम्मान पूर्वक प्रद्युम्न, शाम्ब तथा वैदर्भी को अपने राज मन्दिर में ले आया। वहाँ सभी की पूजा कर उसने जी खोलकर उनका आदर सत्कार किया। प्रद्युम्न आदि को भी इससे परम सन्तोष और आनन्द प्राप्त हुआ।

इसके बाद राजा रुक्मि से विदा ग्रहण कर प्रद्युम्न और शाम्ब दोनों वैदर्भी के साथ द्वारिका लौट आये। वैदर्भी को पुत्रवधू के रूप में पाकर और उसके विवाह का हाल सुनकर रुक्मिणी को भी अत्यन्त आनन्द हुआ। प्रद्युम्नकुमार इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा पूर्णकर, अपनी नव विवाहिता पत्नी के साथ आनन्दपूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगे।

जिस समय प्रद्युम्न और वैदर्भी का विवाह हुआ, उसी समय शाम्ब ने सुहारिणी नामक एक सुन्दर रमणी का पाणिग्रहण, किया, सुहारिणी हेमाङ्गद राजा की पुत्री थी और एक वेश्या के उदर से उत्पन्न हुई थी, किन्तु वह इतनी सुन्दर थी कि अप्सराएँ भी उसका रूप देखकर लज्जित हो जाती थी। शाम्ब के दिन भी आनन्द में कटने लगे।

शाम्ब स्वभाव से बहुत ही विनोदप्रिय और कुतूहली था। कुछ कुछ उत्पाती भी था। इसी कारण से वह कभी कभी सत्यभामा के पुत्र भीरु को मार बैठा था और कभी जूएँ में उसका धन भी जीत लिया करता था।

एक दिन द्यूत के सम्बन्ध में भीरु के तोते ने कहा—

सकृजल्पन्ति राजानः, सकृजल्पन्ति पण्डिताः।

सकृत्कन्या, प्रदीयन्ते, त्रिण्येतानि सकृत्सकृत्॥

अर्थात्—“राजगण एक ही बार बोलते हैं, पण्डितगण एक ही बार

बोलते हैं और कन्या एक ही बाद दी जाती है। यह तीनों एक ही बार होते हैं—इनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।” इस पर शाम्ब द्वारा प्रेरित मैना ने कहा—

शतेषु जायते शूरः, सहस्रेषु च पण्डितः
वक्ता दशसहस्रेषु, दाता भवति वा न वा ॥

अर्थात्—“सैकड़ों आदमियों में एकाध शूरवीर उत्पन्न होता है। हजारों में एकाध पण्डित उत्पन्न होता है। दस हजार में एकाध वक्ता होता है। और दाता तो होता है, या नहीं भी होता है।” इसके बाद मैना ने दूसरी बार कहा—

न रणे निर्जितः शूरो, विद्यया न च पण्डितः ।
न वक्ता वाक्पटूत्वेन, न दाता धन-दानतः ।

अर्थात्—“युद्ध में विजय प्राप्त करने से कोई शूरवीर नहीं कहा जा सकता। विद्या से पण्डित नहीं कहा जा सकता। वाक्पटुता से वक्ता नहीं कहा जा सकता। और धन दान से दाता नहीं कहा जा सकता।” इसके बाद मैना ने तीसरी बार कहा:—

इन्द्रियाणां जये शूरो, धर्मं चरति पण्डितः
सत्यवादी भवेद्वक्ता, दाता भूताऽभयप्रदः ।

अर्थात्—“जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है, वही शूरवीर होता है। धर्मकार्य में तत्पर रहता है, वही पण्डित कहलाता है। सत्यवादी होता है वही वक्ता कहलाता है, और जो अभयदान देता है, वही दाता कहलाता है।”

मैना और तोते की इन बातों में आकर एक दिन भीरु जुए में लाख रुपये हार गया। कृष्ण को यह हाल मालूम होने पर उन्होंने इतना धन उसे भण्डार से दिला दिया। दूसरे दिन गन्ध की बाजी लगी। भीरु कृष्ण विलेपना कर राज्यसभा में गया, इस पर शाम्ब ने हींग और लहसुन आदि की दुर्गन्ध से उसे जीत लिया। इससे भीरु दो लाख हार गया। तीसरे दिन दोनों में फिर बाजी लगी कि अलङ्कार धारण में जो हार जाय, वह विजेता को तीन लाख रुपये दे। इस पर भीरु कृष्ण के अलङ्कार धारण कर सभा में गया किन्तु शाम्ब ने श्रीनेमिनाथ के इन्द्रद्रक्त अलङ्कार धारण कर उसे जीत लिया। इस बाजी में भी भीरु हार गया और उसे तीन लाख देने पड़े।

भीरु की यह द्युतप्रियता कृष्ण को अच्छी न मालूम हुई, इसलिए उन्होंने उसे इस तरह की बाजियां लगाने से मना किया। किन्तु भीरु कृष्ण की यह शिक्षा सुनी अनसुनी कर फिर शाम्ब के साथ बाजी लगाने गया, फलतः शाम्ब ने उसे पीटा। इससे भीरु रोता हुआ सत्यभामा के पास गया और सत्यभामा ने कृष्ण से इसकी शिकायत की। इस पर कृष्ण ने जाम्बवती से कहा—“शाम्ब बड़ा ही शरारती है, और जुआ खेलता रहता है।” यह सुनकर जाम्बवती कहने लगी कि—“अब तक शाम्ब की ऐसी शिकायत मैंने कभी न सुनी थी। आज आप ऐसा क्यों कहते हैं?”

कृष्ण ने कहा—“सिंहिणी अपने पुत्र को सदा सरल और सौम्य ही मानती है, परन्तु उसकी क्रीड़ा को तो हाथी ही जानते हैं। देखो, आज मैं शाम्ब की कुछ लीला दिखाता हूँ।”

इतना कह कृष्ण ने ग्वाले का रूप धारण कर, जाम्बवती को एक ग्वालिन का रूप धारण कराया। इसके बाद उन दोनों ने गोरस बेचते हुए द्वारिका में प्रवेश किया। शाम्बकुमार ने उस ग्वालिन को देखते ही कहा—“हे ग्वालिन! तुम मेरे साथ चलो, मुझे गोरस खरीदना है।” इससे वह ग्वालिन शाम्ब के साथ हो गयी। वह ग्वाल भी उनके पीछे चला। शाम्ब ने कुछ दूर जाने के बाद एक देवकुल में प्रवेश किया और उसी के अन्दर उस ग्वालिन को भी बुलाया। किन्तु ग्वालिन ने अन्दर जाने से इन्कार करते हुए कहा—“भाई! मैं वहां न आऊंगी, मेरे गोरस का मूल्य यहीं पर दे दो।” इसपर शाम्ब ने कहा कि—“तुझे भीतर आना ही पड़ेगा।” यह कहते हुए, वह उसका हाथ पकड़कर उसे अन्दर खींचने लगा। यह देखकर ग्वाल वहां दौड़ा आया। उसने शाम्ब की खूब मरम्मत की। अन्त में जब झगड़ा बहुत बढ़ गया तब कृष्ण और जाम्बवती ने अपना रूप प्रकट कर दिया। इस तरह अचानक अपने माता पिता को देखकर शाम्ब लज्जित हो गया और मुँह छिपाकर जाने कहां भाग गया।

शाम्ब की यह शरारत दिखाकर कृष्ण ने जाम्बवती से कहा—“ध्यारी! अपने पुत्र का कार्य देखा? अब तुम्हें मेरी बातपर विश्वास हुआ?” जाम्बवती निरन्तर बन गयी। उसने कृष्ण की इन बातों का कोई उत्तर न दिया।

दूसरे दिन कृष्ण शाम्ब को बलपूर्वक जाम्बवती के पास पकड़कर लाने लगे तब वह उस समय काठ की एक किल बना रहा था। यह देख, कृष्ण ने उससे पूछा—“यह कील क्यों बना रहे हो? इस पर शाम्ब ने कहा कि—“जो मनुष्य कल की बात आज कहेगा, उसके मुंह में यह कील ठोक दूंगा। इसलिए बना रहा हूँ।”

उसका यह मूर्खतापूर्ण उत्तर सुनकर कृष्ण को क्रोध आ गया। जाम्बवती के पास लाकर उन्होंने कहा—“तू वास्तव में बड़ा ही शैतान है। एक तो नगर में नित्य ही कुकर्म करता है और दूसरी ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें कहता है! जा, तू इसी समय नगर से बाहर निकल जा! तेरे समान पातकी को नगर में रखने से मेरी भी बदनामी होगी!”

कृष्ण का वह आदेश शिरोधार्य करने के सिवाय शाम्ब के पास दूसरा उपाय न था, इसलिए वह नगर त्याग करने को तैयार हुआ, परन्तु प्रद्युम्न पूर्वजन्म का उसका भाई था। इसलिए वह उससे बहुत ही प्यार करता था। जब वह नगर छोड़कर चलने लगा तब प्रद्युम्न ने उसे प्रज्ञप्ति-विद्या प्रदान करके कहा—“भाई! इस विद्या को सिद्ध कर लेने से तुम्हारा बड़ा ही उपकार होगा और तुम जहां भी रहोगे, सुखी रहोगे।”

शाम्ब के चले जाने पर प्रद्युम्न अकेले पड़ गये। भीरु से उनकी भी न पटती थी, इसलिए कभी कभी वे भी उसे मार बैठते थे। एक दिन उसे मारने पर सत्यभामा ने कहा—“प्रद्युम्न! तू भी शाम्ब की तरह दुर्बुद्धि मालूम होता है। उसके चले जाने से नगरवासियों का आधा दुःख दूर हो गया है। अब तू भी चला जाय तो सारा नगर सुखी हो जाय!”

प्रद्युम्न ने कहा—“माता! मैं कहां चला जाऊं?”

सत्यभामा ने कुढ़ कर कहा—“तू श्मशान में चला जा, और प्रद्युम्न ने हँसकर पूछा—“माता! और मैं वहां से कब आऊंगा?”

सत्यभामा ने कहा—“जब मैं शाम्ब को हाथ पकड़कर यहां ले आऊं तब आना।”

प्रद्युम्न ने कहा—“अच्छा माता, मैं ऐसा ही करूंगा।”

इतना कह प्रद्युम्न उसी समय श्मशान चला गया। धूमता घामता शाम्बकुमार भी वहीं उनसे आ मिला। दोनों ने वहां भी आमदनी का एक जेरिया निकाल दिया। अब वे गहरा (अधिक) कर वसूल किये बिना किसी को वहां पर मुर्दे जलाने न देते। इसमें आवश्यकतानुसार वे बलप्रयोग भी करते। इससे उन्हें खासी आमदनी होने लगी और इसीसे उनका निर्वाह होने लगा।

इधर सत्यभामा ने भीरु का विवाह करने के लिए नित्रानवे सुन्दर कन्याएं एकत्र कीं। उसकी इच्छा थी कि अब एक कन्या और मिल जाय, तो उनकी संख्या पूरी सौ हो जाय।

इधर प्रद्युम्न को प्रज्ञप्ति विद्या के कारण यह बात मालूम हो गयी, इसलिए, वह स्वयं मायावी जितशत्रु नामक राजा हुआ और शाम्बकुमार उसकी कन्या बना।

एक दिन भीरु की धात्री ने उस कन्या को अपनी सखियों के साथ खेलते देख लिया। उसे वह बुलन्द पसन्द आ गयी, इसलिए उसने सत्यभामा से कहा। सत्यभामा ने उसी समय जित शत्रु के पास आदमी भेजकर भीरु के लिए उसकी याचना की। इसपर जितशत्रु ने कहा—“यदि सत्यभामा मेरी कन्या का हाथ पकड़कर द्वारिका में प्रवेश करे, साथ ही विवाह के समय, भीरु के हाथ में इसका हाथ दे, फेरे के वक्त इसका हाथ ऊपर रखवा जाय, तो मैं भीरु के साथ अपनी कन्या का विवाह कर सकता हूँ।”

सत्यभामा को तो किसी तरह अपने दिल का हौसला पूरा करना था, इसलिए उसने जितशत्रु की यह दोनों शर्तें स्वीकार कर ली। यथासमय वह उस कन्या को लेने के लिए राजा जितशत्रु की छावनी में गयी। उसे देखकर शाम्ब ने प्रज्ञप्ति विद्या से कहा कि—“सत्यभामा तथा उसके सम्बन्धी लोग मुझे कन्यारूप में देखें, और अन्य शाम्ब के रूप में देखें!” इस पर प्रज्ञप्ति विद्या ने वैसा ही किया। सत्यभामा ने शाम्ब का दाहिना हाथ पकड़कर, नगर प्रवेश किया। इसके बाद वह उसे उस स्थान में ले गयी, जहां समस्त कन्याओं के साथ भीरु का विवाह होने वाला था। सत्यभामा के हाथ में शाम्ब का हाथ देखकर नगर के स्त्री पुरुष “आश्चर्य! आश्चर्य!!” पुकार उठे, परन्तु उस समय

सत्यभामा का ध्यान उनके कथन की ओर आकर्षित न हो सका।

इसके बाद जब विवाह का समय उपस्थित हुआ, तब पहले की शर्त के अनुसार भीरु के दाहिने हाथ पर शाम्ब का बायां हाथ रक्खा गया। शाम्ब ने इसी समय एक और चालाकी की। वह अपने दाहिने हाथ से एक ही समय निन्नानवें कन्याओं के हाथ पकड़कर, उनके साथ भांवर (फेरे) फिरने लगा। शाम्ब को देखकर उन्हें अत्यन्त आनन्द हुआ। ऐसा सुन्दर पति प्राप्त करने के कारण वे मन ही मन अपने भाग्य की सराहना करने लगी।

वैवाहिक विधि पूर्ण होने पर शाम्ब ने उन स्त्रियों के साथ शयनगृह में प्रवेश किया। साथ ही भीरु ने भी वहां पदार्पण किया, किन्तु शाम्ब ने उसे आंखें दिखाकर वहां से भगा दिया। भीरु ने सत्यभामा के पास जाकर इसकी शिकायत की सत्यभामा को उसकी बातों पर विश्वास ही न हुआ। उसने कहा कि शाम्ब यहां कहाँ है? तुझे किसी प्रकार का भ्रम हुआ होगा। परन्तु उसने जब फिर वही बातें कहीं, तब वह स्वयं उसे देखने गयी। शाम्बकुमार को देखते ही उसके बदन में मानों आग लग गयी। उसने गाजकर कहा—“हे धृष्ट ! तुझे यहांपर कौन लाया है ?

शाम्ब ने उत्तर दिया—“हे माता ! आप ही मुझे यहां लायी है और आप ही ने इन कन्याओं का पाणिग्रहण कराया है। समस्त नगर निवासी इसके साक्षी हैं।”

शाम्ब की यह बातें सुनकर सत्यभामा चक्कर में पड़ गयी। उसने आस पास के लोगों से इस सम्बन्ध में पूछताछ की, तो उन्होंने भी शाम्ब का ही समर्थन करते हुए कहा—“हे देवि ! तुम व्यर्थ ही क्रोध क्यों करती हो। शाम्ब की बातें बिल्कुल सत्य हैं। तुम्हीं सबके सामने उन कन्याओं से उसका ब्याह कराया है।”

सत्यभामा को इससे बड़ा ही क्रोध आया। वह इस कपट व्यवहार के लिए शाम्ब की भर्त्सना करती हुई अपने महल चली गयी।

इधर शाम्ब की यह बुद्धिमत्ता देखकर जाम्बवती को बड़ा ही आनन्द हुआ और उसने उसके विवाहोपलक्ष में एक महोत्सव मनाया, जिसमें कृष्ण ने भी समुचित भाग लिया।

इसी समय एक दिन शाम्बकुमार अपने पितामह वसुदेव को वन्दन करने गया। वह कुछ अविवेकी तो था ही, बात ही बात में वसुदेव से कहने लंगा—“आपने तो पृथ्वी में भ्रमण करने के बाद न जाने कितने दिनों में इतनी स्त्रियों से विवाह किया था, परन्तु मैंने तो घर बैठे ही एक साथ निन्नानवे स्त्रियों से विवाह कर लिया है देखिये, आपमें और मुझमें कितना अधिक अन्तर है!”

उसके यह मूर्खतापूर्ण वचन सुनकर वसुदेव हँस पड़े। उन्होंने कहा—“हे कूपमण्डूक! तेरे पिता ने नगर से तुझे निकाल दिया था, फिर भी तू यहां चला आया। तुझे मानापमान का जरा भी ख्याल नहीं है, परन्तु मैं तो भाई के अपमान से अप्रसन्न होकर स्वयं विरता पूर्वक बाहर चला गया था। घर से निकलकर मैंने श्मशान कर द्वारा उदर पूर्ति नहीं की। मैंने वीरता पूर्वक देश विदेश में भ्रमण किया और वीरोचित ढंग से ही अनेक कन्याओं का पाणिग्रहण किया। इसके बाद जब बन्धुओं से भेट हुई और इन्होंने मुझसे आग्रह किया, तभी मैंने अपने देश में पैर रक्खा। तेरी तरह निर्लज्ज होकर मैं अपने आप वापस नहीं आया!”

पितामह की यह फटकार सुनकर शाम्बकुमार को होश आया और उसने अपनी मूर्खता के लिए क्षमा प्रार्थना करते हुए उनसे कहा—“हे तात! यह सब मैंने अज्ञानता से ही कहा था। आप मेरी इन अनुचित बातों के लिए मुझे क्षमा करिए। आप वास्तव में बड़े ही गुणवान हैं और अपने गुणों के ही कारण आपने यह स्थान प्राप्त किया है।”

इसके बाद शाम्ब ने अपने पिता कृष्ण से भी विनय अनुनय कर अपना अपराध क्षमा कराया। साथ ही उन दुर्गुणों को भी सदा के लिए जलाञ्जलि दे दी, जिनके कारण जब तब उसकी निन्दा हुआ करती थी। इतना करने पर उसका चरित्र भी निर्मल बन गया और एक देवता की भांति सांसारिक सुख उपभोग करते हुए वह अपने दिन आनन्दपूर्वक व्यतीत करने लगा।



सोहलवाँ परिच्छेद जरासन्ध और शिशुपाल वध



कुछ दिनों के बाद यवन द्वीप से जलमार्ग द्वारा बहुतसा बहुमूल्य किराना लेकर कुछ वणिक लोग द्वारिका नगरी आये। वहां पर उन्होंने और सब चीजें तो बेच डाली, परन्तु बहुमूल्य रत्न कम्बलों का कोई अच्छा ग्राहक उन्हें वहां न मिल सका। इसलिए विशेष लाभ की आशा से वे राजगृह नगर गये। वहां के प्रसिद्ध व्यापारी उन्हें राजेन्द्र जरासन्ध की पुत्री जीवयशा के पास ले गये। उन्होंने उसे वह कम्बल दिखाये जो छुने से बहुत ही कोमल प्रतीत होते थे। जीवयशा ने उनको देखकर, उनकी जो कीमत लगायी वह उनकी लागत से भी आधी थी। यह देखकर वणिक लोग कहने लगे कि—“हे देवि! हमलोग तो विशेष, लाभ की इच्छा से द्वारिका छोड़कर यहां आये थे; किन्तु यहां तो हमें वह मूल्य भी नहीं मिल रहा है जो द्वारिका में मिलता था।”

जीवयशा ने आश्चर्य पूर्वक पूछा—“द्वारिकानगरी कहां है और वहां पर कौन राज्य करता है।”

वणिकों ने कहा—“भारत के पश्चिम तटपर समुद्र के देवताओं ने एक नयी नगरी निर्माण की है। उसीको लोग द्वारिका कहते हैं। वहां देवकी और वसुदेव के पुत्र कृष्ण राज्य करते हैं।”

कृष्ण का नाम सुनते ही जीवयशा मानो महान शोकसागर में जा पड़ी। उसकी आँखों में आंसू भर आये। वह कहने लगी—“मेरे पतिदेव को मारनेवाला अब तक इस संसार में जीवित है और राज्य कर रहा है। मेरे-लिये इससे बढ़कर दुःख का विषय और क्या हो सकता है।”

इस प्रकार जीवयशा को विलाप करते देख, जरासन्ध ने उससे इसका कारण पूछा। इस पर उसने कृष्ण का सब हाल उसे कह सुनाया। साथ ही उसने कहा—“हे तात ! मैंने कृष्ण का सर्वनाश करने की प्रतिज्ञा की थी। वह प्रतिज्ञा पूरी न हो सकी, इसलिए अब मुझे अग्नि प्रवेश करने की आज्ञा दीजिए। मुझे अब यह जीवन भार रूप मालूम होता है।”

यह सुनकर जरासन्ध ने कहा—“हे पुत्री ! तू रुदन मत कर। मैं कंस के शत्रु की बहिनों और स्त्रियों को अवश्य ही रुलाऊंगा।”

इसके बाद मगधपति जरासन्ध यादवों से युद्ध करने की तैयारी करने लगा। उसके चतुर मन्त्रियों ने उसे भरसक समझाने की चेष्टा की, किन्तु उसने किसी की एक न सुनी। उसने न केवल अपनी सेना को ही प्रस्थान करने की आज्ञा दी, बल्कि अपनी आज्ञा मानने वाले अनेक राजा और सामन्तों को भी अपनी अपनी सेना के साथ इस लड़ाई में भाग लेने के लिए निमन्त्रित किया।

जरासन्ध का रण निमन्त्रण पाकर उसके परम बलवान सहदेवादिक पुत्र, महापराक्रमी चेदिराज, शीशुपाल, राजा हिरण्यनाभ, सौ भाइयों के बल से गर्विष्ठ कुरुवंशी राजा दुर्योधन तथा और न जाने कितने राजा और सामन्त उसकी सेना में उसी तरह आ मिले जिस प्रकार समुद्र में विविध नदियां आकर मिलती हैं।”

यथासमय समुद्र समान इस विशाल सेना के साथ जरासन्ध ने राजगृही से प्रस्थान करने की तैयारी की। प्रयाण करते समय उसके शिर का मुकुट सरक पड़ा, हृदय हार टूट गया, बायीं आंख फड़क उठी, छोर में पैर फंसकर रुक गया, छाँक हुई, महाभीषण सर्प रास्ता काट गया, बिल्ली भी सामने से निकल गयी, उसके बड़े हाथी ने मलमूत्र विसर्जन कर दिया, वायुप्रतिकूल हो गया और गृद्ध शिर के ऊपर मँडराने लगे। जरासन्ध ने इन सब अशुभसूचक अपशकुनों को देखा, किन्तु फिर भी उसने रणयात्रा से मुख न मोड़ा। बल्कि यों कहना चाहिए कि उसने अपने हृदय में इनका विचार तक न आने दिया। निर्दिष्ट समय पर कूचका डंका बजा और जरासन्ध अपने गन्ध हस्ती पर सवार हो, अपनी विशाल सेना के साथ पश्चिम दिशा की ओर चल दिया।

जरासन्ध के प्रस्थान का यह समाचार शीघ्र ही कलह प्रेमी नारद मुनि

और राजदूतों ने कृष्ण को कह सुनाया। कृष्ण ने भी उसे सुनते ही रणभेरी बजा दी। जिस प्रकार सौधर्म देवलोक में सुघोषा घण्टे की आवाज सुनकर समस्त देव एकत्र हो जाते हैं, उसी प्रकार रणभेरी का नाद सुनकर समस्त यादव और राजा इकट्ठे हो गये। राजा समुद्रविजय इनमें सर्व प्रधान थे। उनके महानेमि, सत्यनेमि, दृढ़नेमि, सुनेमि, तीर्थकर श्री अरिष्टनेमि, जयसेन, महाजय, तेजसेन, नय, मेघ, चित्रक, गौतम, श्वफल्क, शिवनन्द और विश्वकसेन आदि पुत्र भी बड़े रथों पर महारथियों की भांति शोभा दे रहे थे। समुद्रविजय का छोटा भाई अक्षोभ्य भी अपने उद्धव, धव, क्षुभित महोदधि, अंभोनिधि, जलनिधि, वामदेव और दृढ़व्रत नामक आठ पुत्रों को साथ लेकर आया था। यह सभी अत्यन्त बलवान और युद्ध विद्या में परम निपुण थे।

इसी प्रकार सभी दशाई अपने पुत्र और सेना को लेकर इस युद्ध में भ्रम लेने को उपस्थित हुए, जिनकी नामावली नीचे दी जाती है:—

तीसरे दशार्ह स्तिमित और उनके पांच पुत्र, यथा—(1) उर्मिमान (2) वसुमान (3) वीर (4) पाताल और (5) स्थिर।

चौथे दशार्ह सागर और उनके छः पुत्र यथा—(1) निष्कम्प (2) कम्पन (3) लक्ष्मीवन (4) केसरी (5) श्रीमान और (6) युगान्त।

पांचवे दशार्ह हिमवन् और उनके तीन पुत्र यथा—(1) विद्युत्प्रभ (2) गन्धमादन और (3) माल्यवान।

छठे दशार्ह अचल और उनके सात पुत्र, यथा—(1) महेन्द्र (2) मलय (3) सह्य (4) गिरि (5) शैल (6) नग और (7) बल

सातवें दशार्ह धरण और उनके पांच पुत्र, यथा—(1) कर्कोटक (2) धनञ्जय (3) विश्वरूप (4) श्वेतमुख (5) वासुकी।

आठवें दशार्ह पूरण और उनके चार पुत्र, यथा—(1) दुष्पूर (2) दुर्मुख (3) दुर्दर्श और (4) दुर्धर।

नवें दशार्ह अभिचन्द्र और उनके छः पुत्र, यथा—(1) चन्द्र (2) शशाङ्क (3) चन्द्राभ (4) शशि (5) सोम और (6) अमृतप्रभ।

दसवें दशार्ह साक्षात् देवेन्द्र के समान परम बलवान वसुदेव भी इसी

तरह अपने अनेक पुत्रों के साथ शत्रु सेना से लोहा लेने के लिए उपस्थित हुए। उनके पुत्रों के नाम इस प्रकार थे—विजयसेना के अक्रूर और क्रूर। श्यामा के ज्वलन और अशनिवेग। गन्धर्वसेना के वायुवेग, अभितगति और महेन्द्रगति। मन्त्रीसुता पद्मावती के सिद्धार्थ, दारुक और सुदारु। नीलयशा के सिंह और मतंगज। सोमयशा के नारद और मरुदेव। मित्रश्री का सुमित्र, कपिला का कपिल, पद्मावती के पद्म और कुमुद, अश्वसेना का अश्वसेन, पुंड्रा का पुंड्र, रत्नावती के रत्नार्ध और वज्रबाहु, सोमराज की पुत्री सोमश्री के चन्द्रकान्त और शशिप्रभ, वेगवती के वेगमान और वायुवेग, मदनवेगा के अनाधृष्टि, दृढमुष्टि और हिममुष्टि, बन्धुमती के बन्धुषेण और सिंहसेन, प्रियंगुसुन्दरी का शिलायुध, प्रभावती के गन्धार और पिङ्गल जरारानी के जरत्कुमार और बाहलीक, अवन्तिदेवी के सुमुख और दुर्मुख, रोहिणी के बलराम, सारण और विदूरथ, बालचन्द्रा के वज्रदंष्ट्र और अमितप्रभ यह सभी बड़े ही बलवान और पूरे लड़ाकू थे।

बलराम के साथ बलराम के अनेक पुत्र भी आये थे, जिसमें से उत्तमूक, निषध, प्रकृति, द्युति, चारुदत्त, ध्रुव, शत्रुदमन, पीठ, श्रीध्वज, नन्द, श्रीमानु, दशरथ, देवानन्द, आनन्द, विप्रथु, शान्तनु, पृथु, शतधनु, नरदेव, महाधनु और दृढधन्वा मुख्य थे।

इसी प्रकार कृष्ण के भी अनेकानेक पुत्र वहां उपस्थित थे, जिनकी संख्या एक हजार से भी अधिक थी। उनमें भानु, भामर, महाभानु, अनुभानु, बृहदध्वज, अग्निशिख, कृष्ण, संजय, अकंपन, महासेन, धीर, गंभीर उदधि, गौतम, वसुधर्मा, प्रसेनजित्, सूर्य चन्द्रवर्मा, चारुकृष्ण, सुचारु, देवदत्त, भारत शंख, प्रद्युम्न और शाम्ब आदि मुख्य थे।

राजा उग्रसेन भी बड़े उत्साह के साथ इस युद्ध में भाग लेने को उपस्थित हुए और अपने साथ अपने धर, गुणधर, शक्तिक दुर्धर, चन्द्र और सागर इन छः पुत्रों को भी लेते आये। इनके अतिरिक्त ज्येष्ठ राजा के काका शाम्बन और उनके महासेन, विषमित्र, अजमित्र तथा दानमित्र नामक चार पुत्र, महासेन का पुत्र सुषेण, विषमित्र के हृदिक, सिनि और सत्यक, हृदिक के कृतवर्मा और दृढवर्मा, सत्यक के युयुधान और युयुधान का गन्ध नामक पुत्र भी उपस्थित

हुआ। इसी तरह दशार्हों के अन्यान्य पुत्र, बलराम और कृष्ण के अगणित पुत्र, बुवा और बहिनों के पुत्र तथा और न जाने कितने वीर पुरुष वहां आ-आकर एकत्र हो गये। इसके बाद क्रोष्टुकि ज्योतिषी के बतलाये हुए शुभ मूहूर्त में दारुक सारथीवाले गरुड़ध्वज रथ पर सवार हो, कृष्ण अपनी नगरी से ईशान कोण की ओर चलने लगे। द्वारिका से पैतालिस योजन दूर निकल जाने पर सिनपल्ली नामक एक ग्राम मिला। वहीं पर वे अपनी सेना के साथ रुक गये।

उधर जरासन्ध भी तूफान की तरह उत्तरोत्तर समीप आता जा रहा था। जब उसकी और कृष्ण की सेना में केवल चार ही योजन का अन्तर रह गया, तो कई खेचर राजा समुद्रविजय के पास आकर कहने लगे कि—“हे राजन्! हमलोग आपके भाई वसुदेव के अधीन हैं। आपके कुल में भगवान् श्री अरिष्टनेमि, जो इच्छा मात्र से जगत की सुरक्षा या क्षय कर सकते हैं, बलराम और कृष्ण जो असाधारण बलवान हैं तथा प्रद्युम्न और शाम्ब जैसे हजारों पुत्र पौत्र भी मौजूद हैं ऐसी अवस्था में निःसंदेह आपको किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं हो सकती। फिर भी यह समझ कर हम लोग उपस्थित हुए हैं कि शायद इस अवसर पर हमारी कोई सेवा आपके लिए उपयोगी प्रमाणित हो। हे प्रभो! हम चाहते हैं कि आप हमें भी अपने सामन्त समझकर हमारे योग्य कार्यसेवा सूचित करें।”

राजा समुद्रविजय ने सम्मान पूर्वक कहा—“आप लोगों ने इस संकट के समय हमें सहायता देने के विचार से बिना बुलाये ही यहां आने को जो कष्ट उठाया है, तदर्थ मैं आप लोगों को अन्तःकरण से धन्यवाद देता हूँ। मैं सदैव आपका ध्यान रखूंगा और आपके योग्य कोई कार्य दिखायी देगा, तो अवश्य आपको कहूंगा।

यह सुनकर खेचर राजा बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने पुनः हाथ जोड़कर कहा—“हे राजन्! आप स्वयं युद्ध निपुण हैं, इसलिए आपकी किसी प्रकार की सलाह देना आपका अपमान करना है फिर भी एक बात निवेदन कर देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। वह यह, कि राजा जरासन्ध से आप लोगों को धबड़ाने की जरा भी जरूरत नहीं। उसे पराजित करने के लिए अकेले कृष्ण ही पर्याप्त हैं। परन्तु वैताढ्य पर्वत पर कुछ ऐसे विद्याधर रहते हैं, जो उसके परम

आज्ञाकारी हैं। यदि वे यहां आ जायेंगे, तो उनसे जीतना बहुत कठिन हो जायगा। यदि आप प्रद्युम्न और शाम्ब सहित वसुदेव को हमारा सेनापति बना दें, तो हम लोग सामने जाकर उनको वहीं रोक सकते हैं। इससे जरासन्ध का बल टूट जायगा और उसे जीतना सहज हो जायगा।”

विद्याधरों के यह वचन समुद्रविजय ने कृष्ण से सलाह कर, उनके कथनानुसार सब व्यवस्था कर दी। जन्म स्नात्र के समय अरिष्टनेमि के हाथ में देवताओं ने शस्त्रवारिणी औषधि बांध दी थी। वही औषधि श्री अरिष्टनेमि भगवान ने, विद्याधरों के साथ प्रस्थान करते समय वसुदेव के हाथ में बांध दी, जिससे शत्रु के शस्त्रास्त्रों से उनकी रक्षा हो सके।

उधर जरासन्ध के शिविर में भी युद्ध मन्त्रणा हो रही थी। व्यूह रचना के लिए अनेक राजा और सामन्त भिन्न भिन्न प्रकार की सूचनाएं दे रहे थे। परन्तु हंसक नामक मन्त्रीश्वर आरम्भ से ही इस युद्ध का विरोधी था। उसने अन्यान्य मन्त्रियों के साथ आकर जरासन्ध से कहा—“हे स्वामिन्! आप अपने जमाई कंस का बदला लेना चाहते हैं, परन्तु आप यह नहीं सोचते, कि उसने जो अविचारपूर्ण कार्य किया था, उसी का उसको फल भोगना पड़ा था। यदि मनुष्य में विचार शक्ति नहीं होती, तो उसका उत्साह और उसकी प्रभुता उसके लिए विषरूप हो पड़ती है। हे प्रभो! नीतिशास्त्र का कथन है कि शत्रु अपने समान या अपने से दुर्बल भी हो, तो उसे अपने से बढ़कर समझना चाहिए। ऐसी अवस्था में महाबलवान कृष्ण, जो हम से कहीं प्रबल है। उनसे युद्ध करना युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता। फिर, यह तो आप स्वयं भी देख चुके हैं, कि रोहिणी के स्वयंवर में दशार्ह वसुदेव ने समस्त राजाओं को चक्कर में डाल दिया था। उस समय उससे युद्ध करने का किसी को भी साहस न हुआ। हमें यह भी न भूलना चाहिए कि उसके बड़े भाई समुद्रविजय ने ही उस समय हमारे सैन्य की रक्षा की थी।

इसके अतिरिक्त यह तो आपको याद ही होगा, कि आप बहुत दिनों से वसुदेव की खोज में थे। द्यूतक्रीड़ा में करोड़ रुपये जीतने और आपकी पुत्री को जीवन दान देने पर हम लोगों ने उसे पहचाना और हमारे आदमियों ने उसे मारने की चेष्टा भी की, किन्तु अपने प्रभाव से उसका बाल भी बांका न हुआ। अब

तो उसके बलराम और कृष्ण जैसे दो बलवान पुत्र भी हो गये हैं। उन दोनों ने इतनी उन्नति की है, कि स्वयं कुबेर ने उनके लिये द्वारिका नगरी बना दी है। वे दोनों महाशूरवीर है। महारथी पांच पाण्डवों ने भी संकट में उनकी शरण स्वीकार की है। कृष्ण के प्रद्युम्न और शाम्ब नामक दो पुत्र भी अपने पिता और पितामह की ही भांति बड़े पराक्रमी है। भीम और अर्जुन अपने बाहुबल से यम को भी नीचा दिखा सकते हैं इन सभी को जाने दीजिए केवल अरिष्टनेमि ही ऐसे हैं जो अपने भुज दण्ड से क्षणमात्र में समस्त पृथ्वी को अपने अधिकार में कर सकते हैं। साधारण योद्धाओं की तो गणना भी नहीं की जा सकती।

हे मगधेश्वर! अब आप अपनी शक्ति पर विचार कीजिए। आपकी सेना में शिशुपाल और रुक्मि अग्रगण्य है, परन्तु उनका बल तो रुक्मिणी हरण के समय बलराम के युद्ध में देखा ही जा चुका है। कुरुवंशी दुर्योधन और गन्धार देश के शकुनि राजा, छल और प्रपञ्च में जितने चढ़े बढ़े हैं, उतने बल में नहीं सच पूछिये तो वीर पुरुषों में इनकी गणना ही न होनी चाहिए। अंग देश के राजा कर्ण अवश्य ही एक अच्छे योद्धा हैं, परन्तु कृष्ण के लाखों मंहारथी और सुभटों को देखते हुए वे भी किसी हिसाब में नहीं हैं। यादव सेना में बलराम, कृष्ण और अरिष्टनेमि-यह तीनों एक समान बली है, किन्तु इधर आपके सिवा इनके जोड़ का और कोई नहीं है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि उनकी और हमारी सेना में बहुत अधिक अन्तर है। समुद्रविजय के पुत्र श्री अरिष्टनेमि, जिसे अच्युतादिक इन्द्र भी नमस्कार करते हैं, उससे युद्ध करने का साहस भी कौन कर सकता है?

इसके अतिरिक्त हे राजन्! यह तो आप देख ही चुके हैं कि कृष्ण के अधिष्ठायक देवता आपके प्रतिकूल हैं और उन्होंने छलपूर्वक आपके पुत्र कालकुमार का प्राण लिया है। दूसरी और मैं यह देखता हूँ कि यादव लोग बलवान होने पर भी न्यायानुकूल आचरण करते हैं। यदि ऐसी बात न होती तो वे मथुरा से द्वारिका में क्यों भाग जाते? अब जब आपने उन्हें युद्ध करने के लिए बाध्य किया है, तब वे अपनी सारी शक्ति संचय कर आपके सामने उठकर आये हैं। उनका वास्तविक उद्देश्य आपसे युद्ध करना नहीं, अपनी रक्षा करना है। मेरी धारणा है कि यदि आप अब भी युद्ध का विचार छोड़ दें, तो ये सब लोग द्वारिका वापस चले जायेंगे। मेरी समझ में, इससे दोनों दलों को लाभ हो सकता है।”

मन्त्री की यह बातें सुनकर जरासन्ध क्रुद्ध हो उठा। वह कहने लगा—
“हे दुराशय! मालूम होता है कि कपटी यादवों ने तुझे फोड़कर अपने हाथ में
कर लिया है। इसीलिए तू उनके बल की प्रशंसा कर मुझे डराता है। परन्तु यह
सब व्यर्थ है। हे कायर! श्रृगालों की आवाज सुनकर सिंह कभी डर सकता है?
हे दुर्मते! यदि तुझ में युद्ध करने का साहस न हो, तो तू युद्ध से दूर रह सकता
है, किन्तु ऐसी बातें कहकर दूसरों को युद्ध से दूर रखने की चेष्टा क्यों करता है?
मैं तो अकेला ही इनके लिए काफी हूँ।”

जरासन्ध के यह वचन सुनकर बेचारा हंसक मन्त्री चुप हो गया। किन्तु
डिम्भक नामक खुशामदी मन्त्री ने कहा—“हे राजन्! आपका कहना यथार्थ
है। हम लोगों को इस युद्ध से कदापि मुख न मोड़ना चाहिए। युद्ध से विमुख
होने की अपेक्षा संग्राम में मर जाना भी अच्छा है, क्योंकि उसमें यश मिलता
है। क्षत्रियों के लिए तो युद्ध से बढ़कर दूसरी प्रिय वस्तु और हो ही नहीं सकती।
इसलिए हे राजन्! हम लोगों को निरुत्साह न होकर अब व्यूह रचना में तत्पर
होना चाहिए। मेरी समझ में चक्रव्यूह हम लोगों के लिए परम उपयुक्त होगा।
इससे हम लोग आसानी से शत्रुसंहार कर सकेंगे।”

डिम्भक की यह बातें जरासन्ध को अत्यन्त प्रिय मालूम हुई। उसने
कहा—“हां, तुमने समयोचित बातें कहीं हैं मैं तुम्हारे विचारों को पसन्द करता
हूँ। कल हम लोग चक्रव्यूह की रचना कर, लड़ाई की सब तैयारियां पूरी कर
लेंगे।”

दूसरे दिन सूर्योदय होते ही जरासन्ध से प्रधान सेनापति को चक्र व्यूह
सजाने की आज्ञा दे दी। तदनुसार शीघ्र ही सेनापति ने समस्त सेना और उसके
संचालकों को चक्र व्यूह के रूप में सजाना आरम्भ किया। समस्त चक्र में एक
हजार नौके निकाली गयी और उस प्रत्येक नोक पर एक एक राजा की अधीनता
में सौ हाथी, दो हजार रथ, पांच हजार घोड़े और सोलह हजार पैदल—इतनी
सेना नियुक्त हो गयी। चक्र के मध्यभाग में पांच हजार राजाओं के साथ स्वयं
मगधाधिप जरासन्ध जा बैठा और उसकी रक्षा के लिए उसके चारों ओर सवा
छ हजार राजा अपनी अपनी सेना के साथ नियुक्त किये गये। जरासन्ध के पीछे
गन्धार और सोधव राजा की सेना नियुक्त की गयी। दाहिनी ओर सौ कौरव,

बायी और मध्यदेश के राजा और आगे की और कई सेनापति नियुक्त किये गये। चक्र व्यूह के मुखपर शकटव्यूह की रचनाकार चक्रनाभिकी सन्धियों पर पचास राजा और बीच बीच में चतुर्विध सेना खड़ी हो गयी। शेष सेनापति और बलवान राजागण चक्रव्यूह बनाकर खड़े हो गये। यह सब व्यवस्था पूर्ण होने पर राजा जरासन्ध ने कोशलाधिपति राजा हिरण्यनाभ को इस चक्रव्यूह का सेनापति बनाया। इतने ही में शाम हो गयी, इसलिए शेष कार्य दूसरे दिन पर छोड़कर सब लोग शिविर में लौट आये।

यादवों को जब मालूम हुआ कि जरासन्ध ने चक्रव्यूह की रचना की है, तब उन्होंने उसी के सामने दुर्भेद्य गरुड़व्यूह की रचना की। इस व्यूह के मुखपर महा तेजस्वी अर्धकोटि कुमार नियुक्त किये गये। सबके सामने का मोर्चा बलराम और कृष्ण ने अपने अधिकार में रक्खा। वसुदेव के अक्रूर, क्रमुद, पद्य, सारण, विजयी, जय, जरत्कुमार, सुमुख, दृढमुष्टि, विदूरथ, अनाधृष्टि, दूर्मुख, और सुमुख नामक पुत्र एक लाख रथों के साथ कृष्ण के अंगरक्षक नियुक्त हुए।

उनके पीछे कोटि रथ सहित राजा उग्रसेन खड़े किये गये और उनके अंग रक्षक का काम उनके चार पुत्रों को दिया गया। इन सबके पीछे धर, सारण, चन्द्र, दुर्धर और सत्यक नामक पांच राजा नियुक्त किये गये, जिनका काम अपने आगे के वीरों की रक्षा करना था।

दाहिनी और का स्थान राजा समुद्रविजय ने अपने भाई और पुत्रों के साथ अपने अधिकार में रक्खा, महानेमि, सत्यनेमि, दृढनेमि सुनेमि, अरिष्टनेमि, विजयसेन, मेघ, महीजय, तेजसेन, जयसेन, जय और महाद्युति आदि कुमार तथा पचीस लाख रथ राजा समुद्रविजय के अगल बगल में नियुक्त किये गये। बायी और बलराम के पुत्र तथा महायोद्धा युधिष्ठिर आदि पाण्डवों की नियुक्ति की गयी। उनके पीछे पचीस लाख रथों के साथ उल्मूक, निषध, शत्रुदमन, प्रकृतिद्युति, सात्यकि, श्रीध्वज, देवानन्द, आनन्द, शान्तनु, शतधन्वा, दशरथ, ध्रुव, पृथु, विपृथु, महाधनु, दृढ धन्वा, अतिवीर और देवनन्दन आदि योद्धा नियुक्त किये गये। यह सब बड़े ही बलवान थे और कौरवों का वध करने के लिये भी अत्यन्त उत्सुक रहते थे।

इन सबके पीछे चन्द्रयशा, सिंहल, बर्बर, काम्बोज, केरल और द्रविड

यह छः राजा साठ रथों के साथ नियुक्त किये गये। उनके पीछे पर्वत के समान धीर राजा शाम्बन नियुक्त किये गये। उनके बाद में भानु, भामर, भीस्क, अंसित, संजय, भानुक, धृष्णु, कंपित, गौतम, शत्रुञ्जय, महासेन, गंभीर, बृहदध्वज, वसुवर्मा, कृतवर्मा, उदय, प्रसेनजित, दृढ वर्मा, विक्रान्त और चन्द्रवर्म आदि रखे गये। गरुड़व्यूह की यह सब रचना कृष्ण के आदेशानुसार उन्हींकी निगरानी से पूर्ण की गयी।

उधर सौधर्मेन्द्र को जब यह मालूम हुआ, कि बन्धु प्रेम के कारण श्री अरिष्टनेमि भी इस युद्ध में भाग लेने जा रहे हैं, तब उन्होंने मातलि नामक सारथी के साथ शस्त्रों से भरा हुआ अपना रथ उनके पास भेज दिया। वह रथ सूर्य के समान प्रकाशवान, नाना रत्नों से सुशोभित और परम तेजस्वी था। श्री अरिष्टनेमि प्रभु मातलि की प्रार्थना स्वीकारकर, सहर्ष उस पर सवार हो गये। इसके बाद राजा समुद्रविजय ने कृष्ण के ज्येष्ठ पुत्र अनाधृष्टि को इस व्यूह का सेनापति नियुक्त किया। इस अवसर पर यादवों की सेना में गगनभेदी जय जयकार ध्वनि हुई, जिसे सुनकर जरासन्ध की सेना क्षुब्ध हो उठी।

दूसरे दिन सुबह, युद्ध की तैयारी पूर्ण होते ही दोनों ओर से युद्ध आरम्भ हो गया। दोनों दलों के सुभट धीरे धीरे अपने स्थान से आगे बढ़ने लगे। इसके बाद, ज्योंही एक दल से दूसरे दल की भेंट हुई, त्योंही उनमें मारकाट मच गयी। तरह तरह के शस्त्र उछलने लगे, दोनों दल एक दूसरे के व्यूह में घूसने की जी जान से चेष्टा करने लगे। परन्तु वे इस प्रकार दुर्भेद्य थे, कि किसी की चेष्टा सफल न हो सकी।

कुछ देर तक इसी प्रकार युद्ध होता रहा, परन्तु कुछ देर के बाद जरासन्ध के सैनिकों ने कृष्ण के सैनिकों की अगली पंक्ति भंग कर दी। यह देखकर कृष्ण ने अपने पताका युक्त हाथ को ऊंचा उठा दिया। यह संकेत पाते ही वह सैनिक, जिनके पैर उखड़ गये थे अपने अपने स्थान पर हिमालय की भांति अचल होकर खड़े हो गये। इधर अपनी पंक्ति को भंग होते देख, महानेमि, अर्जुन अनाधृष्टि तीनों जने अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने अपनी अपनी सेना को सजग कर उसी समय अपने अपने शंख फूंक दिये। महानेमि ने सिंहनाद नामक, अनाधृष्टि ने बलाहक नामक और अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया। इसी समय और भी

अनेक शंख और रणवाद्य बज उठे। उन सभी की आवाज से शत्रु सेना में बड़ी खलबली मच गयी और समस्त सैनिक जलचरों की भांति क्षुब्ध हो उठे।

इसके बाद शीघ्र ही महानेमि, अनाधृष्टि और अर्जुन इन तीनों सेनापतियों ने प्रलयकाल के समुद्र की भांति शत्रुसेना को घेर लिया। शत्रुओं के लिए उनका भुजबल सहन करना अत्यन्त कठिन था, इसलिए वे भय से व्याकुल हो उठे। देखते ही देखते उन तीनों महारथियों ने तीन स्थान से उस चक्रव्यूह को तोड़ डाला। जिस प्रकार जंगल में मदोन्मत्त हाथी सरिता तट को छिन्न भिन्न कर डालते हैं और जिस प्रकार नदी की धारा स्वयं अपने लिये मार्ग बना लेती है, उसी प्रकार वह तीनों शत्रुओं के व्यूह को छिन्न भिन्न कर, अपना रास्ता बनाते हुए चक्रव्यूह में घुस पड़े। उनके बाद और भी अनेक सेनिकों ने उनका अनुसरण किया। शत्रु सेना में इससे खलबली मच गयी और सैनिक गण युद्ध भूमि से भागने की तैयारी करने लगे।

अपनी सेना को विचलित होते देखकर दुर्योधन, रुक्मिण और रुधिरराजा के पुत्र ने उन तीनों से लोहा लेने की तैयारी की। अनेक महारथियों से घिरे हुए दुर्योधन ने अर्जुन को, रुधिर पुत्र ने अनाधृष्टि को और रुक्मिण ने महानेमि को रोका। इससे उन छः ओं में द्वन्द्व युद्ध आरम्भ हो गया। उनकी सेना में भी इसी तरह परस्पर घोर युद्ध होने लगा। राजा रुक्मिण अपने को बड़ा ही वीर मानता था और अभिमानपूर्वक महानेमि को युद्ध के लिये ललकार रहा था। यह देख, महानेमि को उस पर क्रोध आ गया और उन्होंने उसी समय बाण वर्षाकर उसे पराजित कर दिया।

अब रुक्मिण को मालूम हुआ कि महानेमि के सामने ठहरना सहज काम नहीं है। उन्होंने उसके दांत खट्टे कर दिये थे। यदि कुछ देर और वह उनके सामने खड़ा रहता, तो शायद उसकी जीवन लीला वहीं समाप्त हो जाती, परन्तु इतने ही में उसकी दुर्दशा देखकर शक्रन्तप आदि सात राजा उसकी सहायता के लिए वहां दौड़ आये महानेमि इससे जरा भी विचलित न हुए। वे और भी मुस्तेदी से उनसे युद्ध करने लगे। थोड़ी ही देर में उन्होंने उनके समस्त शस्त्र कमलनाल की भांति तोड़ फोड़ डाले।

यह देखकर शक्रन्तप राजा को बड़ा ही क्रोध आ गया उसने बड़ी देर तक महानेमि के साथ बाण युद्ध किया। परन्तु इस युद्ध का जब कोई फल न हुआ, तब उसे और भी क्रोध आया और उसने महानेमि पर एक महा भयंकर शक्ति छोड़ दी। उस शक्ति को देखकर समस्त यादव चिन्तित हो उठे, क्योंकि उस शक्ति के अधीन विविध शस्त्रधारी और अत्यन्त क्रूरकर्मी हजारों किंकर थे, जो प्रकट हो होकर नाना प्रकार का उत्पात मचा रहे थे। उनको देखकर मातलि ने भगवान् अरिष्टनेमि से कहा—“हे भगवन्! जिस प्रकार प्राचीन काल में रावण को धरणेन्द्र के पास से अमोघ विजय शक्ति प्राप्त हुई थी, उसी प्रकार तप करने पर इस सजा को भी बलीन्द्र से यह शक्ति प्राप्त हुई है। इसलिए ब्रज के सिवा और किसी भी शस्त्र से यह शक्ति नहीं भेदी जा सकती।

मातलि का यह वचन सुनकर श्री अरिष्टनेमि ने मातलि को महानेमि के धनुष पर वज्र बाण चढ़ाने की आज्ञा दी और महानेमि ने उसी बाण को छोड़कर तत्काल उस शक्ति को काट डाला। इसके बाद उन्होंने राजा शक्रन्तप को शस्त्र और रथ रहित बनाकर, उसके समस्त संगियों के भी धनुष काट डाले। इतने समय में रुक्मि सावधान हो गया और दूसरे रथ पर सवार हो पुनः युद्ध करने के लिए महानेमि के सामने आ पहुँचा। इस बार रुक्मि तथा शक्रन्तप आदि आठ राजाओं ने साथ मिलकर महानेमि से युद्ध आरम्भ किया। रुक्मि जिस जिस धनुष को उठाता, उसी को महानेमि छेद डालते। इस प्रकार रुक्मि के क्रमशः इक्रीस धनुष उन्होंने काट डाले। इससे उसने क्रुद्ध होकर उन पर कौबेरी नामक गदा का वार किया, किन्तु महानेमि कुमार ने उसे आग्नेय बाण से भस्म कर डाला। इससे रुक्मि और भी क्रुद्ध उठा। इस बार उसने मेघ की भांति लाखों बाणों की वृष्टि करने वाला वैरोचन बाण छोड़ा, किन्तु महानेमि ने माहेन्द्र बाण से उसे भी रोक दिया। इसके बाद उन्होंने एक दूसरा बाण छोड़ा, जिससे रुक्मि के ललाट में गहरा जखम हो गया और वह शिर पकड़कर वहीं बैठ गया। उसकी यह अवस्था देखकर वेणुदारी उसे तुरन्त शिविर में उठा ले गया।

इसके बाद विविध शस्त्रों की वर्षा कर महानेमि ने उन सात राजाओं को भी परेशान कर डाला। समुद्रविजय ने राजा द्रुम को, स्तिमित ने भद्रराज को और अक्षोभ्य ने वसुसेन को यमपुरी भेज दिया। सागर ने पुरिमित्र को, हिमवान

ने धृष्टद्युम्न को, धरण ने अष्टक नृप को, अभिचन्द्र ने उत्कट शतधन्वा को, पूरण ने द्रुपद को, सुनेमि ने कुन्ति भोज को, सत्यनेमि ने महापद्य को और दृढ़नेमि ने श्रीदेव को मार डाला। तदनन्तर इन सबों की सेना अपने सेनापति राजा हिरण्यनाभ की शरण में जाकर रहने लगी।

इसी तरह दूसरी और भीम, अर्जुन तथा बलराम के वीर पुत्रों ने कौरवों को परेशान कर डाला। अर्जुन ने उन पर इतनी बाण वृष्टि कि की-चारों ओर अन्धकार छा गया। गाण्डीव धनुष के निर्घोष ने सबको बधिर सा बना दिया। उस समय अर्जुन की चपलता और स्फूर्ति भी देखने योग्य हो रही थी। वे बाण को कब हाथ में लेते थे, कब धनुष पर चढ़ाते थे और कब उसे छोड़ते थे। यह आकाश के निमेष रहित देवताओं को भी ज्ञात न हो सकता था। उनकी स्फूर्ति के कारण सबको ऐसा मालूम होता था, मानो यह सब काम वे एक साथ ही कर डालते हैं।

अर्जुन की इस बाण वर्षा से व्याकुल हो, दुर्योधन, कासि, त्रिगर्त, सबल, कपोत, रोमराज, चित्रसेन, जयद्रथ, सौवीर, जयसेन, शूरसेन और सोमक यह सभी राजा, क्षत्रिय धर्म को भूलकर एक साथ ही अर्जुन से युद्ध करने लगे। इसी समय सहदेव शकुनि से, भीम दुःशासन से, नकुल उल्लूक से, युधिष्ठिर शल्स से, पाण्डव पुत्र दुर्मर्षणादिक छः योद्धाओं से और बलराम के पुत्र अन्यान्य राजाओं से भिड़ गये।

अर्जुन पर दुर्योधन और उसके संगी राजाओं ने एक साथ ही अगणित बाणों की वृष्टि की, किन्तु अर्जुन ने क्षणमात्र में उन सबों को कमलनाल की भांति काट डाला। इसके बाद अर्जुन ने दुर्योधन के सारथी को मार डाला, रथ और अश्व को छिन्न भिन्न कर डाला और उसका बख्तर भूमि पर गिरा दिया। इससे अंगशेष (दुर्योधन के पास केवल अपना शरीर ही रहा ऐसा) दुर्योधन बहुत ही लज्जित हुआ और उछल कर शकुनि के रथ पर जा बैठा। इसके बाद अर्जुन ने कासि प्रभृति दस राजाओं पर बाणवृष्टि कर उन्हें भी उसी तरह व्याकुल बना दिया, जिस तरह ओले की मार से हाथी व्याकुल हो उठता है।

उधर राजा शल्य ने एक बाण से राजा युधिष्ठिर के रथ की पंताका छेद डाली। इस पर युधिष्ठिर ने शर सहित उसका धनुष छेद डाला। शल्य को इससे

बड़ा ही-क्रोध आया और उसने दूसरा धनुष लेकर युधिष्ठिर पर इतनी बाणवृष्टि की, कि वे उनके कारण वर्षाकाल के सूर्य की भांति छिप गये। युधिष्ठिर इससे कुछ विचलित हो उठे और उन्होंने उस पर बिजली के समान एक भयंकर शक्ति छोड़ दी। जिस प्रकार अग्नि की लपट पड़ने पर गोह तत्काल जलकर मर जाती है, उसी प्रकार उस शक्ति ने शल्य की जीवन लीला समाप्त कर दी। उस शक्ति के डर से और भी अनेक राजा उस समय रणक्षेत्र से भाग खड़े हुए। भीम ने भी दुर्योधन के भाई दुःशासन को द्यूत कपट की याद दिलाकर क्षणमात्र में मार डाला।

इसी प्रकार शकुनि और सहदेव में भी बहुत देर तक माया और शस्त्रयुद्ध होता रहा। अन्त में सहदेव ने भी उस पर एक घातक बाण छोड़ा, परन्तु वह शकुनि तक न पहुँचने पाया। दुर्योधन ने क्षत्रियव्रत का त्याग कर बीच में ही तीक्ष्ण बाण से उसे काट डाला। यह देखकर सहदेव ने ललकार कर उससे कहा—“हे दुर्योधन! द्यूत की भांति रण में भी तू छल करता है। परन्तु यह कायरों का काम है, वीरपुरुषों का नहीं। तुम दोनों परम कपटी हो और इस समय एक साथ ही भेरे हाथ लग गये हो। अब तुम दोनों की जीवन लीला मैं एक साथ ही समाप्त करूँगा, जिससे तुम दोनों को एक दूसरे का वियोग न सहन करना पड़े।

इतना कह सहदेव ने तीक्ष्ण बाणों से दुर्योधन को ढक दिया। दुर्योधन ने भी बाणवर्षा कर सहदेव को बहुत तंग किया। उसने न केवल उनका धनुष दण्ड ही काट डाला, बल्कि उनका नाश करने के लिये यम के मुख समान एक ऐसा बाण छोड़ा, जो शायद उनका प्राण लेकर ही मानता, परन्तु अर्जुन ने उस बाण को अपने गरुड़ बाण से बीच में ही रोक दिया। शकुनि ने भी सहदेव को उसी तरह बाणों द्वारा चारों ओर से घेर लिया, जिस तरह मेघ चारों ओर से पर्वत को घेर लेते हैं। इससे सहदेव ने क्रुद्ध होकर उसके सारथी और अश्व को मार डाला, रथ को तोड़ डाला और अन्त में शकुनि का भी मस्तक काट डाला।

उधर नकुल ने भी क्षणमात्र में उलूक को रथ से नीचे गिरा दिया। इससे उसने भागकर दुर्मर्षण राजा के रथ पर आश्रय ग्रहण किया। परन्तु दुर्मर्षण आदि छः ओं राजाओं को द्रौपदी के पुत्रों ने पराजित कर दिया, इसलिए उन सबों ने भागकर दुर्योधन का आश्रय लिया।

इसके बाद दुर्योधन कासि प्रभृति राजाओं को साथ लेकर अर्जुन से युद्ध करने लगा। किन्तु बलराम के पुत्रों से घिरे हुए अर्जुन ने भयंकर बाण वर्षा कर शत्रुसेना के छत्के छुड़ा दिये। जयद्रथ इस युद्ध में दुर्योधन का दाहिना हाथ हो रहा था, इसलिये अर्जुन ने मौका मिलते ही उसको भी समाप्त कर दिया। इससे जरासन्ध की सेना में घोर हाहाकार मच गया, क्योंकि उसकी गणना बड़े बड़े वीरों में की जाती थी।

जयद्रथ के वध से क्रुद्ध हो वीर कर्ण, अर्जुन को मारने के लिए दौड़ आया। कर्ण, अर्जुन के मुकाबले का वीर माना जाता था और वह वास्तव में ऐसा ही था। उन दोनों में बहुत देर तक ऐसा बाणयुद्ध होता रहा कि आकाश में देवता भी उसे देखकर स्तम्भित हो गये। अर्जुन ने अनेक बार कर्ण को रथ और शस्त्र रहित बनाया, किन्तु इससे विचलित न हो, कर्ण ने नये नये रथ और शस्त्र ग्रहण कर, अर्जुन से लड़ना चालू रक्खा। अन्त में जब उसके समस्त शस्त्र समाप्त हो गये, तब वह तलवार लेकर रथ से झूट पड़ा और आस पास के सैनिकों को मारता हुआ अर्जुन की ओर आगे बढ़ा। अर्जुन ने इस समय बाणों की घोर वर्षा की, जिससे वीर कुञ्जर कर्ण घबड़ा उठा। उसका समूचा शरीर पहले ही से चलनी हो रहा था। इस बार अर्जुन के कई बाण छाती में लगने से वह भूमि पर गिर पड़ा और उसके प्राण निकल गये।

कर्ण के गिरते ही भीम और अर्जुन ने जय सूचक शंखनाद किया, जिससे उनकी सेना का उत्साह चौगुना बढ़ गया। जयद्रथ और कर्ण के मारे जाने से दुर्योधन को बड़ा क्रोध आया और उसने हस्तियों की बड़ी सेना लेकर भीमसेन पर आक्रमण कर दिया। उसका यह साहस देखकर भीम को भी बड़ा जोश आ गया और उन्होंने रथ के ऊपर रथ अश्व के ऊपर अश्व और हाथी के ऊपर हाथी को पटककर दुर्योधन की सेना नष्ट भ्रष्ट कर दी। परन्तु इतने ही से भीम की युद्ध कामना पूर्ण न हुई। वे इसी तरह सेना का संहार करते हुए महामानी दुर्योधन के निकट जा पहुँचे।

दुर्योधन की सेना भीमसेन की विकट मार के कारण अस्तव्यस्त हो रहीं थी, इसलिए उसे धैर्य देकर, दुर्योधन भीम की ओर झपट पड़ा।-केसरी के समान क्रुद्ध हो, मेघ की भांति गर्जना करते हुए दोनों वीर एक दूसरे के सामने

डट गये और भीम ने द्युत की बात याद कराकर दीर्घकाल तक विविध शस्त्रों द्वारा दुर्योधन को थकाकर अंत में गदा द्वारा मारकर यम सदन भेज दिया। उसकी मृत्यु होते ही उसके सैनिक भागकर सेनापति हिरण्यनाभ की शरण में गये और पाण्डव तथा यादवगण सेनापति अनाधृष्टि के निकट चले गये।

अपनी सेना को स्थान स्थान पर पराजित होते देखकर सेनापति हिरण्यनाभ बेतरह चिढ़ उठा और यादवों को ललकारता हुआ सेना के अग्रभाग में आ खड़ा हुआ। उसे देखकर राजा अभिचन्द्र ने कहा—“हे नृपाधम! एक नीच पुरुष की भांति तू बकवाद क्या करता है? क्षत्रिय वचन शूर नहीं होते, बल्कि पराक्रम शूर होते हैं।”

अभिचन्द्र के यह वचन सुनकर हिरण्यनाभ ने क्रोधपूर्वक उस पर कई बाण छोड़े, परन्तु अर्जुन ने उनको बीच ही में काट दिये। अर्जुन का यह कार्य देखकर हिरण्यनाभ ने उन पर भी कई बाण छोड़े परन्तु इसी बीच भीमसेन वहां आ पहुँचे और उन्होंने गदा का प्रहार कर हिरण्यनाभ को रथ से नीचे गिरा दिया। हिरण्यनाभ इससे लज्जित होकर दूसरे रथ पर बैठ गया और क्रोधपूर्वक यादव सेना पर ऐसी बाणवृष्टि करने लगा, कि जिससे एक भी ऐसा आदमी न बचा, जिस पर कहीं चोट न आयी हो। उसकी इस बेदब मार से यादव सेना में खलबली मच गयी।

हिरण्यनाभ की यह उद्दण्डता देखकर समुद्रविजय का पुत्र जयसेन क्रुद्ध हो उठा और धनुष खींचकर उससे युद्ध करने को तैयार हुआ। यह देखकर हिरण्यनाभ ने कहा—“हे जयसेन! तू व्यर्थ ही मरने के लिए क्यों तैयार हुआ है?” यह कहने के साथ ही उसने जयसेन के सारथी को मार डाला। इससे जयसेन ने तुरन्त उसके कवच, धनुष और ध्वज को छेदकर उसके सारथी को मार डाला। जयसेन के इस कार्य ने हिरण्यनाभ की क्रोधाग्नि में आहुती का काम दिया। उसने जयसेन को मारने के लिए उस पर दस मर्मवेधी बाण छोड़े, जिससे जयसेन का प्राणान्त हो गया। भाई की यह अवस्था देखकर महीधर अपने रथ से कूद पड़ा और ढाल तलवार लेकर हिरण्यनाभ को मारने दौड़ा, परन्तु हिरण्यनाभ ने दूर से ही उसे देखकर क्षुद्र बाण से उसका शिर काट डाला।

अपने दो भाइयों की यह गति देखकर अनाधृष्टि को क्रोध आ गया

इसलिए वह हिरण्यनाभ के सामने आकर उससे युद्ध करने लगा उधर जरासन्ध आदिक राजा भी भीम और अर्जुनादिक सुभटों के साथ पृथक् पृथक् द्रुपद्युद्ध करने लगे।

प्रागज्योतिष्क का भगदत्त नामक राजा भी जरासन्ध की ओर से रण निमन्त्रण पाकर इस युद्ध में भाग लेने आया था। वह अपने हाथी पर बैठकर महानेमि के सामने आ उठा और उनको ललकारकर कहने लगा—“मैं तेरे भाई के साले रुक्मि या अश्वक के समान नहीं हूँ। मैं तो नारकियों का बैरी यम हूँ। इसलिए अब तू सावधान हो जा।”

इतना कह उसने अपने हाथी को वेगपूर्वक महानेमि की ओर बढ़ाया। महानेमि भी सावधान ही थे। उनके सारथी ने उनके रथ को कई बार मण्डलाकार घुमाकर अन्त में उसे एक स्थान पर खड़ा कर दिया। इसके बाद महानेमि ने शीघ्र ही उस हाथी के पैरों में बाण मारकर उसे जर्जरित कर दिया, फलतः वह हाथी भगदत्त सहित भूमिपर गिर पड़ा। उसकी यह दुर्गति देखकर महानेमि को उस पर दया आ गयी। उन्होंने हँसकर उससे कहा—“क्यों तुम तो रुक्मि नहीं हो!” यह कहते हुए धनुष के अग्रभाग से स्पर्श कर उसे जिन्दा ही छोड़ दिया।

अब भूरिश्रव और सात्यकि में भयकर युद्ध आरम्भ हुआ। पहले वह दोनों दिव्य शस्त्रों द्वारा युद्ध करते रहे। शस्त्र पूरे हो जाने पर दोनों में घोर मुष्टियुद्ध हुआ यह युद्ध परम दर्शनीय था। दो में से एक भी वीर जिस समय भूमि पर गिरता, उस समय पृथ्वी हिल उठती थी और जिस समय वे ताल ठोकते थे, उस समय सब को मेघ गर्जना का भ्रम होता था। यह युद्ध भी बहुत देर तक होता रहा। अन्त में जब भूरिश्रव थक गया, तब सात्यकि ने उसे जमीन पर पटककर, उसकी छाती पर दोनों घुटने रखकर, उसकी गर्दन पीछे को मोड़ दी, जिससे तुरन्त उसका प्रशान्त हो गया।

दूसरी ओर वीर अनाधृष्टि ने राजा हिरण्यनाभ का धनुष काट डाला। इससे हिरण्यनाभ ने उस पर भयंकर मुद्गर छोड़ा। वह मुद्गर जिस समय ज्वाला समूह की भांति अनाधृष्टि की ओर अग्रसर हुआ, उस समय दसों दिशाएं उसके प्रकाश से अलौकित हो उठी। वह मुद्गर वास्तव में बड़ा ही घातक शस्त्र था,

परन्तु अनाधृष्टि ने तीक्ष्ण बाणों से उसे बीच में ही काट डाला।

अपने मुद्रर का प्रहार व्यर्थ जाते देखकर हिरण्यनाभ को बड़ा ही क्रोध आया। वह अपने रथ पर से कूद पड़ा और ढाल तलवार लेकर अनाधृष्टि को मारने दौड़ा। उसे अपनी ओर आते देखकर अनाधृष्टि भी रथ से कूदकर उसके सामने आ गया। दोनों में बड़ी देर तक युद्ध हुआ। जब अनाधृष्टि से युद्ध करते करते हिरण्यनाभ थक गया, तब अनाधृष्टि ने मौका देखकर तलवार से उसका शिर काट लिया। उसकी मृत्यु होते ही जरासन्ध की सेना में हाहाकार मच गया। उस समय सूर्यास्त भी हो चला था। इसलिए जरासन्ध के सैनिक जरासन्ध के पास और कृष्ण के सैनिक कृष्ण के पास चले गये।

दूसरे दिन सूर्योदय होते ही फिर दोनों दलों में घोर युद्ध आरंभ हो गया। जरासन्ध ने आज महाबली शिशुपाल को अपना सेनापति बनाया। यादवों ने पहले दिन की तरह आज भी गरूड़ व्यूह और शिशुपाल ने चक्रव्यूह बनवाया। युद्ध आरम्भ होने के पहले जरासन्ध रण भूमि में उपस्थित हो, सब व्यवस्था देखने लगा। अपने सैन्य की सब व्यवस्था देखने के बाद उसने हंसक मन्त्री से यादव सेना के सुभटों का परिचय पूछा। हंसक ने अंगुली उठा उठाकर उन सबों का परिचय देते हुए कहा—“महाराज! देखिए, उस श्याम अश्ववाले रथ में अनाधृष्टि है, जिसे यादवों ने अपना सेनापति बनाया है। उसकी ध्वजा में गज का लाञ्छन है, जिससे वह तुरन्त पहचाना जा सकता है। उस नील अश्ववाले रथ में युधिष्ठिर है। श्वेत अश्व और कपिध्वजवाला वह रथ अर्जुन का है। यह नीलकमल के पत्र समान कान्तिवाले अश्व जिस रथ में जुते हैं, उसमें भीमसेन बैठे हैं। वह देखें, राजा समुद्रविजय हैं। उनके अश्वों का वर्ण सुवर्ण के समान और ध्वजा पर सिंह का चिन्ह है। वह शुक्रवर्ण अश्ववाले रथ में अरिष्टनेमि है उनकी ध्वजा में वृषभ का चिन्ह है। उस कबरे अश्ववाले रथ में अक्रूर हैं। उनकी ध्वजा में कदली का चिन्ह है। वह देखिए, सात्यकि का रथ है, जिसमें तीतर और उड़द जैसे वर्ण के अश्व जुते हुए हैं। कुमुद समान कान्तिवाले वह अश्व जिस रथ में जुते हुए हैं, उसमें वह महानेमिकुमार हैं। उस शुक्रचक्षु जैसे अश्ववाले रथ में राजा उग्रसेन बैठे हुए हैं। वह देखिए, जरतकुमार का रथ है। उसके अश्वों वाले रथपर राजा श्लक्ष्णरोम का पुत्र सिंहल बैठा हुआ है। इस कजले और रक्त

वर्णवाले जलकपिध्वज रथ में सिन्धु देश के मण्डन रूप श्री वितभयपत्तन के स्वामी मेरुराजा हैं वह देखिए, पद्मरथ नगर के राजा पद्मरथ हैं, जिनके अश्वों की कान्ति पद्म के समान है। उस कामध्वज रथ पर राजा सारण दिखायी दे रहे हैं वह बलराम के मामा विदूरथ का रथ हैं, जिसमें पंचतिलक वाले अश्व जुते हुए हैं और जिसकी ध्वजा पर कुंभ का चिन्ह अंकित है। सेना के मध्यभाग में सफेद घोड़ेवाले उस गरुड़ध्वज रथ में आपका परम शत्रु कृष्ण है। कृष्ण की दाहिनी ओर जंगम कैलास के समान वह बलराम है। इनके अतिरिक्त यादव सेना में ओर भी अनेक सुभट है, जिनका परिचय देना इस समय कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है।

यादव सेना के सैनिकों का यह परिचय पाकर जरासन्ध की आँखें लाल हो गयी। उसने सारथी को अपना रथ बलराम और कृष्ण के सामने ले चलने का आदेश दिया। जरासन्ध का पुत्र युवराज यवनकुमार इसी समय वसुदेव के पुत्र अक्रुरादि से जा भिड़ा। जिस प्रकार अष्टापद के हाथी और सिंहों में घोर युद्ध होता है, उसी प्रकार महाभुज यवन और अक्रुरादि में भीषण संग्राम होने लगा। कुछ देर के बाद बलराम के लघु भ्राता सारण ने विविध शस्त्रों की घोर वर्षा कर चारों ओर से यवन का रास्ता रोक दिया। इस पर यवन ने हाथी पर सवार हो, सारण का रथ तोड़ डाला। इससे सारण को भी बड़ा ही क्रोध आ गया और उसने उसी समय यवनकुमार का शिर काट लिया। साथ ही उसने उस हाथी को भी काट डाला, जिसपर यवनकुमार बैठे थे। सारण का यह अद्भुत कार्य देखकर यादव सेना मारे आनन्द के मत्तमयूर की भांति नाच उठी।

इस तरह अपने युवराज को अपनी आँखों के सामने मरते देखकर जरासन्ध के क्रोध का वारापार न रहा। वह यादवों का संहार करने के लिए उसी तरह झपट पड़ा, जिस तरह सिंह हरिणों के दल पर टूट पड़ता है। उसने देखते ही देखते आनन्द, शत्रुदमन, नन्दन, श्रीध्वज, ध्रुव, देवानन्द, पीठ, हरिषेण, नरदेव और चारुदत्त नामक बलराम के दस पुत्रों को मार डाला। उसके इस कार्य से यादव सेना में आतंक छा गया और वह युद्ध भूमि को छोड़कर इधर उधर भागने लगी। जरासन्ध जिधर जाता, उधर ही मैदान साफ हो जाता। कुछ लोगों को तो वह मार डालता और कुछ लोग उसके भय के कारण मैदान छोड़कर

भाग जाते। इससे कृष्ण की समूची सेना में खलबली मच गयी।

यादव सेना की यह अवस्था देखकर सेनापति शिशुपाल को हँसी आ गयी। उसने कृष्ण से व्यंग में कहा—“हे कृष्ण! यह गोकुल नहीं है यह तो क्षत्रियों का संग्राम है!”

कृष्ण ने मुस्कुराकर कहा—“बेशक, इसलिए मैं कहता हूँ कि आप अभी से भाग जाइये, वरना आगे पीछे आपको भागना ही पड़ेगा। रक्मिणी हरण के समय आपने कितनी देर तक संग्राम किया था, यह क्या आपको याद नहीं है?”

कृष्ण के यह मर्मवचन शिशुपाल के हृदय में बाण की तरह चुभ गये। उसने कृष्ण को मारने के लिए उन पर तीक्ष्ण बाण छोड़े, किन्तु कृष्ण ने उन बाणों से अपनी रक्षा कर, अपने बाणों से उसके धनुष, कवच और रथ को तोड़ फोड़ डाला। इससे शिशुपाल तलवार खींचकर बकवाद करता हुआ कृष्ण को मारने दौड़ा। कृष्ण ने अब विलम्ब करना उचित न समझा। उन्होंने उसी समय उसका शिर काटकर उसकी जीवन लीला समाप्त कर दी।

शिशुपाल के इस वध से जरासन्ध और भी क्रुद्ध हो गया। उसने यम समान भीषण मुखाकृति बनाकर यादवों से कहा—“अरे! तुम लोग व्यर्थ ही अपना प्राण क्यों दे रहे हो? अभी भी कुछ बिगड़ा नहीं है उन दोनों दुर्मति गोपालों को मुझे सौंप दो, मैं सहर्ष वापस चला जाऊंगा।”

उसके यह वचन सुनकर यादवगण कुचले हुए सर्प की भांति झल्ला उठे। वे विविध शस्त्र उठाकर जरासन्ध को मारने के लिए दौड़ पड़े। जरासन्ध तो तैयार ही था। अकेला होने पर भी वह चारों ओर यादवों से इस प्रकार युद्ध करने लगा, मानो उसने अनेक रूप धारण किये हो। उसने भीषण बाण वर्षा कर अनेक यादवों को आहत कर डाला। वह अपने शत्रुओं पर इतनी तेजी से वार करता था, कि उसके सामने किसी को भी खड़े रहने का साहस न पड़ता था। एक और उसकी विकट बाण वर्षा से समस्त यादव सेना अस्त व्यस्त हो गयी। दूसरी ओर जरासन्ध के अट्टाइस पुत्रों ने बलराम के दांत खट्टे कर दिये और तीसरी ओर उसके पुत्रों ने कृष्ण को मार डालने के विचार से उनको चारों ओर से घेर लिया।

जरासन्ध और उसके पुत्रों की यह रण निपुणता देखकर बलराम और कृष्ण विशेष सावधानी के साथ युद्ध करने लगे। इस समय दोनों ओर से इतनी बाणवर्षा होती थी, कि वे मार्ग में ही परस्पर टकरा जाते थे। इस प्रकार बाणों के टकराने पर उनसे चिनगारियां निकल पड़ती थी, जो सैनिकों पर गिरने से अग्निवर्षा का काम करती थी।

जरासन्ध के पुत्रों को विशेष उपद्रव करते देख, इसी समय बलराम ने उसके अट्टाइस पुत्रों को हल से खींचकर मूशल से चावल की भांति कूट डाला। यह देख, जरासन्ध थोड़ी देर के लिए सहम गये और अपने मन में कहने लगे कि—“मैं ज्यों-ज्यों इस गोपाल की उपेक्षा करता हूँ, त्यों त्यों इसका मिजाज चढ़ता जा रहा है। अब मैं इसे कदापि जीता न छोड़ूंगा।” इतना कह, जरासन्ध ने बलराम के हृदय पर वज्र समान गदा का प्रहार किया, जिससे वे व्याकुल हो रक्त वमन करने लगे। बलराम की यह अवस्था देखकर यादव सेना में घोर हाहाकार मच गया। जरासन्ध ने इसी अवस्था में बलराम पर पुनः प्रहार करने की इच्छा की, परन्तु इसी समय अर्जुन बीच में पड़कर उससे युद्ध करने लगे, इसलिए उसकी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी।

बलराम की व्याकुलता देखकर कृष्ण को बड़ा ही क्रोध आया। उन्होंने इसी समय जरासन्ध के 69 पुत्रों को, जो उनसे युद्ध कर रहे थे, मार डाला। अपने इन पुत्रों की मृत्यु से जरासन्ध का ध्यान कृष्ण की ओर आकर्षित हो गया। वह अपने मन में कहने लगा कि—बलराम तो मर ही जायगा और अर्जुन को मारने से लाभ भी क्या है? इसलिए अब सबसे पहले कृष्ण की ही खबर लेनी चाहिए।”

यह सोचकर जरासन्ध कृष्ण की ओर झपटा। यह देखकर लोग कहने लगे, कि अब कृष्ण की खैर नहीं। इसी समय मातलि ने श्रीनेमिनाथ प्रभु से कहा—“हे भगवन्! जिस तरह अष्टापद के सामने हाथी का बच्चा किसी हिसाब में नहीं होता, उसी प्रकार आपके सामने यह जरासन्ध किसी हिसाब में नहीं है। आज आप उसकी उपेक्षा कर रहे हैं, तभी तो यह संसार से यादवों का नाम मिटा देने को तैयार हुआ है। इसलिए हे जगदीश! आज आप अपने बल की कुछ लीला दिखलाइए! हे प्रभो! यद्यपि आप जन्म से ही सावद्य कर्म से

विमुख हैं, तथापि शत्रुओं द्वारा पीड़ित अपने कुल की आपको उपेक्षा न करनी चाहिए।”

सारथी के यह वचन सुनकर श्रीनेमिनाथ प्रभु ने क्रोध के बिना ही पौरन्दर शंख को हाथ में लेकर उसे इस तरह फुंका, कि उसकी प्रबल ध्वनि से दशों दिशाएं व्याप्त हो गयी। मेघनाद से भी अधिक भयंकर यह नाद सुनकर जरासन्ध के सैनिक क्षुब्ध हो उठे और यादव सेना में उत्साह और उमंग की नयी लहर दौड़ गयी।

इसके बाद श्रीनेमि की आज्ञा से मातलि ने उनके रथ को समरभूमि में मण्डलाकार घुमाया और वे इन्द्र धनुष धारण कर शत्रुसेना पर भयंकर बाणवर्षा करने लगे। कुछ ही देर में उन्होंने समस्त रणभूमि को बाणों से व्याप्त कर दिया। इससे शत्रु सेना में हाहाकार मच गया और बड़े बड़े सैनिक प्राण लेकर भागने लगे। श्रीनेमिनाथ प्रभु ने अनेक सैनिकों के धनुष और रथ तोड़ डाले और अनेकों के मुकुट भूमि पर गिरा दिये। परन्तु उनका कोई कुछ भी न कर सका। उन पर प्रहार कम्ना दूर रहा बल्कि, उनकी और आंख उठाकर देखने का भी किसी को साहस न हुआ। उछलते हुए महासागर के सामने क्या पर्वत कभी ठहर सकते हैं? श्रीनेमिनाथ प्रभु ने अकेले ही अनेक राजाओं को बांध लिए। जरासन्ध प्रति वासुदेव था। इसलिए प्रभु ने सोचा कि प्रति वासुदेव की मृत्यु तो वासुदेव के ही हाथ से होनी चाहिए, यह सोचकर उसे न मारा। थोड़ी ही देर में यह अद्भुत पराक्रम दिखाकर प्रभु ने अपना रथ फेर लिया।

शत्रुसेना के अस्त व्यस्त हो जाने से यादव सेना का उत्साह चौगुना बढ़ गया और वह शत्रुओं की शेष सेना की उसी तरह काटने लगी, जिस तरह किसान खेत का अनाज काटता है। पाण्डवों ने भी शेष कौरवों को इसी समय समाप्त कर अपने वैर का बदला ले लिया। बलराम भी इतने समय में स्वस्थ हो गये और उन्होंने अपने हल मूशल द्वारा जरासन्ध के अनेक सैनिकों को यमधाम भेज दिया।

इससे जरासन्ध कुछ हताश हो गया। वह समझ गया कि यादवों को जीतना बहुत ही कठिन है। कोई दूसरा उपाय न देख, अन्त में उसने अपनी जरा विद्या का प्रयोग कर समस्त यादव सेना को वृद्ध बना दिया। इससे सब लोग

निर्बल बन गये और उनमें शस्त्र उठाने की भी शक्ति न रह गयी। सेना का यह हाल देखकर कृष्ण चिन्तित हो उठे। उन्हें यह समझ में नहीं आ रहा था, कि सेना का यह वृद्धत्व कैसे दूर किया जाय। अन्त में अरिष्टनेमि को समर्थ जानकर वे उनके पास गये और उनसे सेना का सब हाल कह सुनाया।

अरिष्टनेमि को अपने (स्नात्र) जल का महात्म्य मालूम होने पर भी, अपने ही मुख से उसके सम्बन्ध में उन्होंने कुछ कहना उचित न समझा। इसलिए उन्होंने जरा निवारण का एक दूसरा ही उपाय कृष्ण को बतलाते हुए कहा—“हे भ्राता! आप पाताल लोक के नायक धरणेन्द्र नागेन्द्र को उद्देश्य कर अष्टम तप कीजिए। उनके देवग्रह में सुरासुर, विद्याधर और राजाओं द्वारा पूजित भविष्य में होने वाले तेईसवें तीर्थकर श्री पार्श्वनाथ का बिम्ब विद्यमान है। उसके स्नात्र जल से निःसंदेह समस्त यादवों का दुःख दूर हो सकता है। आप अष्टम तप कर उनसे उस बिम्ब की याचना कीजिए। आपके पुण्य प्रताप के कारण वे आपकी यह इच्छा अवश्य पूर्ण करेंगे।”

नेमिनाथ प्रभु के यह वचन सुनकर कृष्ण की बहुत कुछ चिन्ता दूर हो गयी। उन्होंने उसी समय अष्टम तप द्वारा धरणेन्द्र को प्रसन्न कर उनसे पार्श्वनाथ का बिम्ब प्राप्त किया। इसके बाद उसका स्नात्र जल उन्होंने अपनी सेना पर तीन बार छिड़क दिया। जल के छीटे पड़ते ही समस्त सेना जरा मुक्त हो, शत्रुओं से पूर्ववत् युद्ध करने लगी।

यह जरा मोचन का अधिकार शंखेश्वर पार्श्वनाथ के तीर्थ कल्प और श्राद्ध विधि आदि ग्रन्थों में विद्यमान है।

जरामुक्त यादव सेना के हाथ से पुनः अपनी सेना का संहार होते देखकर जरासन्ध बेतरह कुढ़ उठा। उसने कृष्ण के सामने आकर कहा—“हे गोपाल। इतने दिनों तक तू अपनी माया से ही जीवित रह सका है। माया से ही तूने मेरे जामाता कंस को मारा था और माया से ही तूने कालकुमार का प्राण लिया था। तू अस्त्र विद्या से रहित है, इसलिए तेरे साथ युद्ध करना मैं अनावश्यक समझता था, परन्तु अब तेरी माया का अन्त लाना आवश्यक है, इसलिए मैं तेरे जीवन के साथ ही अब तेरी माया का भी अन्त लाऊंगा और अपनी पुत्री जीवयशा की प्रतिज्ञा पूर्ण करूंगा।”

उसके यह अभिमान पूर्ण वचन सुनकर कृष्ण को हँसी आ गयी। उन्होंने कहा—“हे राजन्! आपका कहना यथार्थ है। मैं वास्तव में अस्त्र विद्या से रहित हूँ, किन्तु आपकी अस्त्र विद्या देखने के लिए मैं आज अत्यन्त उत्सुक हूँ। मैं आपकी तरह आत्म प्रशंसा नहीं करता परन्तु इतना अवश्य कहता हूँ कि आपकी पुत्री की प्रतिज्ञा अल्प समय में अवश्य पूरी होगी, किन्तु वह पूरी होगी अग्नि प्रवेश द्वारा, किसी दूसरे कार्य द्वारा नहीं। मेरे इस कथन में सन्देह के लिए जरा भी स्थान नहीं है।”

कृष्ण के इन वचनों से क्रुद्ध होकर जरासन्ध ने उन पर कई तीक्ष्ण बाण छोड़े, किन्तु कृष्ण ने उन सबों को काट डाला। इसके बाद वे दोनों क्रोध पूर्वक अष्टापद की भांति स्थिर हो युद्ध करने लगे। उस समय उनके धनुर्दण्ड के शब्द से दशो दिशाएं व्याप्त हो गयी, युद्ध के वेग से समुद्र क्षुब्ध हो उठे और आकाश में विद्याधर भी त्रसित हो गये। पर्वत के समान उनके रथों के इधर उधर दौड़ने के कारण पृथ्वी भी क्षणभर के लिए कांप उठी। वह युद्ध क्या था, मानो प्रलयकाल उपस्थित हो गया था।

थोड़ी ही देर में कृष्ण ने जरासन्ध के समस्त अस्त्रों को क्षणभर में काट डाला। यह देख, अभिमानि जरासन्ध ने अपने अमोघास्त्र चक्ररत्न को याद किया, इसलिए वह उसी समय आकर उपस्थित हुआ। क्रोधान्ध जरासन्ध ने उसको भी चारों ओर घूमाकर कृष्ण पर छोड़ दिया।

वेग के कारण वह चक्र हाथ से छूटकर जिस समय आकाश में पहुँचा, उस समय उसे देखकर विद्याधर भी कांप उठे। कृष्ण की समस्त सेना व्याकुल हो, एक दूसरे का मुंह ताकने लगी। उस चक्र को रोकने के लिए कृष्ण, बलराम, पाँचों पाण्डव तथा अन्यान्य योद्धाओं ने अपने अपने अस्त्र छोड़े, किन्तु वे सब बेकार हो गये। लोगों ने समझा कि अब कृष्ण की खैर नहीं। यह अवश्य ही उनके प्राण ले लेगा। सब लोग चिन्तित और व्याकुल भाव से यह देखने के लिए कृष्ण की ओर दौड़ पड़े, कि वह चक्र लगने पर उनकी क्या अवस्था होती है।

चक्र वास्तव में दुर्निवार्य था। उसकी गति कोई भी रोक नहीं सकता था। साथ ही वह अमोघ भी था। यह भला कब हो सकता था कि वह कृष्ण तक न

पहुँचे? वह कृष्ण तक पहुँचा और उनके लगा भी किन्तु शस्त्र की तरह नहीं, फूलों के एक गेंद की तरह। उसका स्पर्श कृष्ण के लिए मानो सुख और शान्तिदायक बन गया। वह चक्र क्या था, मानो कृष्ण का मूर्तिमान प्रताप था। कृष्ण ने छाती में लगते ही उसे एक हाथ से पकड़ लिया। उनका यह कार्य देखते ही देवता गण पुकार उठे—“भरतक्षेत्र में नवे वासुदेव उत्पन्न हो गये। नवम वासुदेव की जय हो!” यह कहकर उन्होंने कृष्ण पर सुगन्धित जल और पुष्पों की वृष्टि भी की।

कृष्ण ने उस चक्र को हाथ में ही लिये हुए कहा—“हे अभिमानी जरासन्ध! क्या यह भी मेरी माया है? यदि तू अपना कल्याण चाहता हो, तो मेरी बात मानकर अब भी वापस चला जा मेरी आज्ञा स्वीकार कर मुझे प्रणाम कर और वहां जाकर पूर्ववत् राज्य कर। तू वृद्ध है, इस संसार में चंद दिनों का मेहमान है, इसलिए मैं तेरा प्राण नहीं लेना चाहता। यदि तू मेरे इन वचनों पर ध्यान न देगा तो यह तेरा ही चक्र तेरे प्राणों का ग्राहक बन जायगा।”

मानी जरासन्ध ने कहा—“मेरे ही चक्र से मुझे इस तरह डरने की कोई जरूरत नहीं। यह तो मेरे लिए कुम्हार के चक्र के समान है। तेरी आज्ञा मानकर मैं रण से विमुख होना भी पसन्द नहीं कर सकता। यदि तू चक्र चलाना चाहता है, तो सहर्ष चला, मैं तुझे मना नहीं करता।”

जरासन्ध के यह वचन सुनकर कृष्ण ने रोष पूर्वक वह चक्र जरासन्ध पर छोड़ दिया। किसी ने ठीक ही कहा है कि पराया हथियार भी पुण्यवान के हाथ में पड़ने पर अपना बन जाता है। चक्र लगते ही जरासन्ध का शिर धड़ से अलग हो गया और वह चौथे नरक का अधिकारी हुआ। कृष्ण की इस विजय से चारों ओर आनन्द छा गया और देवताओं ने भी उनकी जय मनाकर उन पर पुष्प वृष्टि की।



सत्रहवाँ परिच्छेद कृष्ण वासुदेव का राज्याभिषेक



युद्ध समाप्त हो जाने पर नेमिनाथ प्रभु ने कृष्ण के शत्रु राजाओं को बन्धन मुक्त कर दिया। फलतः वे हाथ जोड़कर, प्रभु को प्रणाम कर कहने लगे—“हे नाथ! यदुवंश में तीनों लोक के स्वामी आपका अवतार होने से ही हम और हमारे स्वामी जरासन्ध पराजय को प्राप्त हुए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वासुदेव प्रति वासुदेव को मारते ही है, फिर भी आप जैसे भ्राता जिसके सहायक हो उसके लिए, तो कहना ही क्या है? किन्तु भवितव्यता को कौन टाल सकता है? संसार में जो कुछ होता है, वह विधाता (भाग्य-पूर्वकर्म) के करने पर ही होता है। अब हम सब लोग आपकी शरण में आये हैं, ताकि हमारा कल्याण हो, क्योंकि संसार में केवल आप ही निष्कारण बन्धु हैं। जो आपकी शरण में आता है, उसका सदैव मंगल ही होता है। इसलिए हम आपके निकट अपने मंगल की याचना करते हैं।

राजाओं के यह वचन सुनकर नेमिकुमार उन्हें कृष्ण के पास लेकर गये। कृष्ण, नेमिकुमार को देखते ही रथ से उतरकर उनसे भेंट की। इसके बाद नेमिकुमार की बात मानकर कृष्ण ने सब राजाओं का अपराध क्षमा कर दिया। साथ ही उन्होंने अपने काका समुद्रविजय की आज्ञा से जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगधदेश का चतुर्थ भाग देकर, उसे उसके पिता के सिंहासन पर बैठाया। इसी तरह उन्होंने समुद्रविजय के पुत्र महानेमि को शौरीपुर में, हिरण्यनाभ के पुत्र रुक्मनाभ को कोशला नगरी में और उग्रसेन के पुत्र धर को मथुरा नगरी में राजसिंहासन पर स्थापित किया। इतने ही में सूर्यास्त हो गया। नेमिकुमार ने

अब कोई काम न होने के कारण मातलि को रथ सहित स्वर्ग के लिए विदा कर दिया। तदनन्तर कृष्ण और नेमिकुमार भी अपने समस्त सैनिकों के साथ शिविर में चले गये। इधर राजा समुद्रविजय भी शिविर में जाकर वसुदेव के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

दूसरे दिन समुद्रविजय और वासुदेव के निकट तीन विद्याधरियों ने आकर कहा—“हे प्रभो शाम्ब तथा अनेक विद्याधरों के साथ वसुदेव शीघ्र ही आपके पास आ रहे हैं। उनकी विचित्र कथा भी सुनिए। वसुदेव जब यहां से वैताढ्य पर्वत पर गये थे, तब वहां उन्होंने शूर्पक, नीलकण्ठ, अंगारक और मानसवेग आदि अपने समस्त पूर्व वैरियों को घेर घेरकर उनके साथ घोर युद्ध किया। इतने ही में कल एक देवता ने खबर दी कि जरासन्ध को मारकर कृष्ण वासुदेव हो गये हैं। यह सुनकर सब विद्याधर अपने अपने हथियार छोड़कर अपने स्वामी मन्दरवेग के पास गये। मन्दरवेग ने सब हाल सुनकर उनको आज्ञा दी, कि यदि तुम लोग अपना कल्याण चाहते हो तो युद्ध का विचार छोड़कर इसी समय सुन्दर भेटें ले आओ। हम लोग वसुदेव को मध्यस्थ बनाकर हरि की शरण में जायेंगे।”

विद्याधरपति की यह बात सब विद्याधरों ने सहर्ष मान ली। वे उसी समय अपने अपने घर से सुन्दर और बहुमूल्य भेटें ले आये। विद्याधर पति उन सब को साथ लेकर वसुदेव के पास गया। वसुदेव ने उसकी प्रार्थना सुनकर अपने शत्रुओं का अपराध क्षमा कर दिया। इससे समस्त विद्याधरों को अत्यन्त आनन्द हुआ। इसी समय विद्याधरपति ने अपनी बहिन का व्याह प्रद्युम्न के साथ कर दिया। त्रिपथक्रपभ नामक एक दूसरे राजा ने भी अपनी पुत्री का विवाह प्रद्युम्न के साथ कर दिया। देवर्षभ और वायुपथ नामक दो राजाओं ने अपनी अपनी पुत्री शाम्बकुमार से ब्याह दी। यह विवाह कार्य सम्पन्न हो जाने के बाद वे सब यहां आने के लिए वैताढ्य पर्वत से चल चूके हैं उन्होंने पहले से यह समाचार आप को सूचित करने के लिए हमें यहां भेजा है। वे अब थोड़ी ही देर में यहां आ पहुँचेंगे।”

विद्याधरियों के मुख से यह समाचार सुनकर कृष्ण और समुद्रविजय को बड़ा ही आनन्द हुआ। वे उत्सुकता पूर्वक वसुदेव की राह देखने लगे। थोड़ी

देर में वासुदेव भी दोनों राजकुमार उनकी नव विवाहिता पत्नियों और विद्याधरों के साथ वहां आ पहुंचे। समुद्रविजय ने उन सबका यथोचित सत्कार किया। इसके बाद समस्त विद्याधरों ने सुवर्ण, रत्न, विविध मुक्ताफल, हाथी, घोड़े आदि बहुमूल्य चीजें कृष्ण की सेवा में भेंट स्वरूप रखकर उनकी अधीनता स्वीकार की।

इसके बाद कृष्ण ने जयसेन आदि की और सहदेव ने जरासन्ध आदि की उत्तर क्रिया की। जीवयशा परम अभिमानी थी। उसने पति और पिता का कुल सहित संहार अपनी आँखों से देखने के बाद अब अग्नि प्रवेश कर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि यादवों ने जिस स्थान पर शिविर स्थापित किया था, उस स्थान पर सेनपल्ली नामक एक ग्राम था। युद्ध में विजय होने के कारण यादवों को वहां पर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ था। इसलिए कृष्ण ने उस ग्राम का नाम आनन्दपुर रख दिया। उससे थोड़ी दूर पर उन्होंने शंखपुर नामक एक नवीन नगर बसाया और उसमें एक सुन्दर प्रासाद बनवाकर वहां उन्होंने धरणेन्द्र प्रदत्त पार्श्वनाथ भगवान का बिम्ब स्थापित किया।

इसके बाद अनेक यक्ष और विद्याधरों के साथ उसी स्थान में रहते हुए कृष्ण ने छः मास में अर्धभरत को अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद वे मगध देश में गये। वहां कोटिशिला नामक एक महाशिला थी, जो एक योजन लम्बी, एक योजन चौड़ी और अर्धभरत के देव देवियों द्वारा अधिष्ठित थी। उसे कृष्ण ने अपने बायें हाथ द्वारा पृथ्वी से चार अंगुल ऊंचे उठाकर संसार को अपनी अलौकिक शक्ति का परिचय दिया। इस महाशिला के सम्बन्ध में कहा गया है कि

प्रथम वासुदेव उसे भुजा के अग्रभाग तक, दूसरे वासुदेव मस्तक तक, तीसरे कण्ठ तक, चौथे छाती तक, पांचवे हृदय तक छठे कमर तक, सातवें जंघाओं तक, आठवें जानु तक और नवें वासुदेव भूमि से चार अंगुल की ऊंचाई तक ऊपर उठा सकते हैं, क्योंकि अवसर्पिणी काल में क्रमशः उनका बल क्षीण होता जाता है।

इसके बाद कृष्ण द्वारिका नगरी में लौट आये। वहां सोलह हजार राजा तथा देवताओं ने भक्ति पूर्वक वासुदेव के पद पर उनका अभिषेक किया। इसके बाद कृष्ण ने पाण्डवों को कुरुदेश की ओर तथा अन्यान्य मनुष्य तथा विद्याधरों को अपना-अपना राज्य देकर अपने-अपने स्थान के लिए विदा किया।

वासुदेव के पद पर कृष्ण का अभिषेक होने पर समुद्रविजयादिक दस दशार्ह, बलदेव आदिक पांच महावीर, उग्रसेन आदिक सोलह हजार राजे, प्रद्युम्न आदिक साढ़े तीन कोटि कुमार, दुर्दान्त शाम्बादिक साठ हजार कुमार, वीरसेन आदिक इक्कीस हजार वीर, महासेन आदिक पचास हजार आज्ञाकारी महर्द्धिक तथा हजारों सेठ साहूकार और सार्थवाह सदा कृष्ण की आज्ञा शिरोधार्य करने के लिए उनकी सेवा में उपस्थित रहने लगे।

राज्याभिषेक के समय सोलह हजार राजाओं ने कृष्ण को भक्तिपूर्वक अनेक रत्न तथा प्रत्येक ने दो कन्याएं प्रदान की थीं। उन बत्तीस हजार कन्याओं में से सोलह हजार कन्याओं के साथ कृष्ण ने, आठ हजार के साथ बलदेव ने तथा आठ हजार के साथ अन्यान्य कुमारों ने ब्याह किया। इसके बाद कृष्ण, बलराम तथा समस्त राजकुमार अपनी अपनी पत्नियों को लेकर क्रीड़ा उद्यान तथा क्रीड़ा पर्वतों में आनन्दपूर्वक विचरण करने लगे।

इन सब को क्रीड़ा करते देख, राजा समुद्रविजय तथा शिवादेवी ने नेमिकुमार से प्रेमपूर्वक मधुर शब्दों में कहा—“हे वत्स! तुम को देखकर हमारे नेत्र सदा शीतल हो जाया करते हैं। अब तुम यदि किसी योग्य कन्या का पाणिग्रहण कर लो, तो हमारे मन की साध पूरी हो जाय।”

माता पिता के यह वचन सुनकर जन्म से ही संसार के प्रति वैराग्य धारण करने वाले तीनों ज्ञान से युक्त नेमिनाथ प्रभु ने कहा—“मुझे कोई योग्य कन्या नहीं दिखायी देती। यह तो सब दुःख में डालने वाली है। ऐसी स्त्रियों की मुझे आवश्यकता नहीं है। जब कोई योग्य कन्या दिखायी देगी, तब मैं उससे ब्याह कर लूंगा। इसके लिए मुझसे बार-बार आग्रह करने की जरूरत नहीं।” इस प्रकार नेमिकुमार ने गम्भीरतापूर्वक अपने सरल प्रकृति माता पिता को विवाह के लिए आग्रह करने से मना कर दिया।

इधर यशोमती का जीव अपराजित विमान से च्युत होकर उग्रसेन राजा की धारिणी रानी के उदर में आया था। गर्भकाल पूर्ण होने पर उसने एक सुन्दर पुत्री को जन्म दिया था। पिता ने उसका नाम राजीमती रक्खा था। माता पिता के लालन पालन से यह शीघ्रता पूर्वक बड़ी हो गयी थी।

इधर द्वारिका निवासी धनसेन श्रेष्ठी ने अपनी कमलामेला नामक पुत्री का ब्याह उग्रसेन के पुत्र नभसेन के साथ करना स्थिर किया। जिस समय यह बातचीत चल रही थी, उसी समय कहीं से धूमते धामते नारदमुनि नभसेनकुमार के घर आ पहुँचे। उस समय नभसेन अन्य कार्य में फँसा था, इसलिए वह नारदमुनि का सत्कार न कर सका। इससे नारदमुनि उस पर असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने उसे विपत्ति में डाल देने का संकल्प किया। वे उसी समय सागरचन्द्र के घर गये। सागरचन्द्र शाम्ब आदि का मित्र था और उन्हें अत्यन्त प्रिय भी था। सागरचन्द्र ने नारदमुनि का सत्कार कर उनसे पूछा—“हे मुनिराज! आप रात दिन सर्वत्र विचरण करते हुए आश्चर्य जनक चीजें देखा करते हैं। यदि कहीं कोई कौतुक दिखायी दिया हो तो उसका वर्णन कीजिए।”

“नारदमुनि ने कहा—“मैंने एक आश्चर्यजनक वस्तु आज इसी नगर में देखी है और वह धनसेन श्रेष्ठी की पुत्री कमलामेला है। वह बड़ी ही रूपवती है। ऐसी रूपवती कन्याएं देव और विद्याधरों के यहाँ भी शायद ही दिखायी देती हैं। शीघ्र ही नभसेन के साथ उसका विवाह भी होने वाला है।”

इतना कह नारदमुनि तो वहाँ से चल दिये, किन्तु सागरचन्द्र उसी क्षण से कमलामेला पर अनुरक्त हो गया। उठते बैठते उसीका चिन्तन करने लगा। जिस प्रकार पीत रोग से पीड़ित मनुष्य को सर्वत्र पीला ही पीला दिखायी देता है, उसी तरह उसे सर्वत्र कमलामेला ही दिखायी देने लगी। उसकी जिह्वा पर भी मन्त्र की भाँति सदा उसीका नाम रहने लगा।

इस प्रकार सागरचन्द्र को व्याकुल बनाकर कूटमति नारद कमलामेला के घर गये। उसने भी नारदमुनि को प्रणाम कर उनसे आश्चर्यजनक वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इस पर नारदमुनि ने मुस्कराकर कहा—“हे भद्रे! मैंने आज ही यहाँ दो आश्चर्य, देखे हैं एक आश्चर्य कुमार सागरचन्द्र है, जिससे बढ़कर कोई दूसरा रूपवान नहीं और दूसरा आश्चर्य नभसेन है, जिससे बढ़कर

कोई दूसरा कुरूप नहीं है।”

नारदमुनि के यह वचन सुनकर कमलामेला नभसेन को भूलकर सागरचन्द्र पर आसक्त हो गयी। इसके अनुराग का यह हाल जानकर नारदमुनि सागरचन्द्र के पास गये और उससे भी यह सब बातें बतला आये। अपने ऊपर कमलामेला का अनुराग जानकर सागरचन्द्र का अनुराग दूना हो गया। परन्तु उससे मिलन न होने के कारण वह बहुत उदास रहने लगा। उसकी यह अवस्था देखकर उसकी माता तथा राजकुमारों को अत्यन्त दुःख हुआ

इसी दरम्यान एकदिन शाम्बकुमार सागरचन्द्र से मिलने के लिए उसके घर आये। सागरचन्द्र उस समय भी कमलामेला के ध्यान में उदास बैठा हुआ था। शाम्बकुमार ने पीछे से आकर दोनों हाथों से उसकी आंखें बन्द कर लीं। यह देख, सागर चन्द्र ने अपनी आँखों पर से उसका हाथ हटाते हुए कहा—
“अहो! क्या तुम कमलामेला हो?”

शाम्ब ने कहा—“हां, मैं कमलामेला-लक्ष्मी से मिलाने वाला हूँ।”

सागरचन्द्र ने कहा—“तब तो तुम अवश्य ही कमलामेला से मुझे मिला दोगे। अब मुझे कोई दूसरा उद्योग करने की आवश्यकता नहीं।”

इस प्रकार शाम्बकुमार सागर की बातों में फँस गया। परन्तु उसने कोई स्पष्ट वचन न दिया, इसलिए समस्त कुमारों ने शाम्ब को मद्य पिलाकर, उसके नशे में उस पर जोर डालकर इसके लिए उसका वचन ले लिया। नशा दूर होने पर शाम्बकुमार अपने मन में कहने लगा—“अहो! यह दुष्कर कार्य मैंने अपने शिर क्यों ले लिया? परन्तु अब तो मैं वचन बद्ध हो चुका हूँ, इसलिए किसी न किसी तरह यह कार्य पार लगाना ही होगा।”

शीघ्र ही नभसेन के विवाह का दिन आ पहुंचा। उस दिन शाम्बकुमार प्रज्ञप्ति विद्या को याद कर अन्य कई कुमारों को साथ लेकर एक उद्यान में गया और वहीं सुरंग द्वारा कमलामेला को उसके घर से बुलाकर सागरचन्द्र के साथ विधिवत् उसका ब्याह करा दिया। वह तो सागरचन्द्र पर पहले ही से अनुरक्त थी, इसलिए इस कार्य में उसने कोई बाधा न दी।

उधर ब्याह का समय हुआ, तब घर में उसकी खोज होने लगी, परन्तु वहां उसका पता कहाँ? इससे उसके पितृ और श्वसुर कुल में हाहाकार मच

गया और वे लोग उसकी खोज करते हुए उसी उद्यान में जा पहुँचे, जिस उद्यान में सागरचन्द्र के साथ उसका ब्याह हुआ था। वहाँ सब यादव विद्याधरों का रूप धारण कर आनन्द से बैठे हुए थे और उन्हीं के बीच में कमलामेला भी बैठी हुई हँस रही थी। यह हाल देखकर सब लोग कृष्ण के पास गये और उनसे इस विषय की शिकायत करते हुए कहने लगे कि—“महाराज! विद्याधरों का एक दल कमलामेला को हरण कर ले गया है, इसलिए आप उसका उद्धार करने की कृपा कीजिए।”

विद्याधरों की धृष्टता का यह हाल सुनकर कृष्ण को उन पर बड़ा ही क्रोध आया इसलिए वे उसी समय उन लोगों के साथ उस उद्यान में जा पहुँचे। क्योंकि वे ऐसा अन्याय कदापि सहन न कर सकते थे। उन्होंने वहाँ पहुँचते ही उन विद्याधर वेशधारी-यादवों को युद्ध करने के लिए ललकारा। इससे यादवगण भयभीत हो कांपने लगे। शाम्ब अपना रूप प्रकट कर कमलामेला और सागरचन्द्र सहित कृष्ण के चरणों पर गिर पड़ा। यह देखकर कृष्ण चकित हो गये। उन्होंने शाम्ब से कहा—“अरे तूने यह क्या किया? नभसेन तो हम लोगों का आश्रित है। उसे इस तरह धोखा देकर तूने अच्छा काम नहीं किया।”

इस प्रकार शाम्ब के कार्य की निन्दा करने के बाद कृष्ण ने नभसेन को समझाया, कि शाम्ब ने यह कार्य अवश्य बेजा (बुरा) किया है, परन्तु जो होना था वह हो चुका। अब शाम्ब को क्या किया जाय, खैर! अब तुम संतोष करो। तुम्हारा ब्याह शीघ्र ही किसी दूसरी कन्या के साथ कर दिया जायगा।”

इस प्रकार नभसेन को सान्त्वना दे, कमलामेला को सागरचन्द्र के घर भेज दिया। नभसेन को यह बहुत ही बुरा लगा। परन्तु शक्ति और सामर्थ्य हीन होने के कारण सागरचन्द्र से बदला लेना संभव न था। इसलिए वह उस दिन से उसके छिद्रान्वेषण कर उसी में सन्तोष मानने लगा।

इधर प्रद्युम्न की वैदर्भी नामक स्त्री ने अनिरुद्ध, नामक एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया, जो यथासमय यौवन को प्राप्त हुआ।

उस समय वैताढ्य पर्वत पर शुभनिवास नामक नगर में महाबलवान और महामानी बाण नामक एक राजा राज्य करता था। उसके अत्यन्त रूपवती

उषा नामक एक कन्या थी। उसने अपने अनुरूप वर प्राप्त करने के लिए गौरी नामक विद्या की आराधना की। इसलिए गौरी ने प्रसन्न होकर उससे कहा कि कृष्ण वासुदेव का पौत्र अनिरुद्ध, जो रूप और गुण में देव समान है, वही तुम्हारा पति होगा। यह सुनकर उषा परम प्रसन्न हुई और अपने भावी पति के ध्यान में मग्न रहने लगी।

इसी समय बाण ने भी गौरी विद्या के प्रिय शंकर नामक देव की आराधना की। उसके प्रसन्न होने पर बाण ने कहा—“मुझे ऐसा वर दीजिए जिसके प्रभाव से संसार में मुझे कोई भी जीत न सके।” उसकी यह याचना सुनकर गौरी ने शंकर से कहा—“इसे ऐसा वर देना ठीक नहीं, क्योंकि मैं इससे पहले ही इसकी पुत्री को यह वर दे चुकी हूँ कि अनिरुद्ध तुझे पति रूप में प्राप्त होगा। यदि उस समय युद्ध हुआ तो आपके इस वर के कारण घोर अनर्थ हो जायगा।” यह सुनकर प्रिय शंकर ने बाण से कहा—“स्त्री विषयक कार्य को छोड़कर और सभी कार्यों में सर्वत्र तेरी जय होगी।” बाण ने इस वरदान से भी संतोष मान लिया।

उधर उषा ज्यों ज्यों बड़ी होती जाती थी, त्यों त्यों उसका रूप सौन्दर्य बढ़ता जाता था। उसके उस अलौकिक रूप पर मुग्ध हो अनेक विद्याधर और मानव राजाओं ने उससे ब्याह करने की इच्छा प्रकट की, परन्तु उषा की नापसन्दगी के कारण उसने किसी की भी याचना स्वीकार नहीं की। उषा के मन में तो अनिरुद्ध बसा हुआ था, इसलिए किसी दूसरे की प्रार्थना वह स्वीकार ही कैसे कर सकती थी? एक दिन उसने चित्रलेखा नामक विद्याधरी को अनिरुद्ध के पास भेजकर उसे चुपचाप अपने महल में बुलवा लिया और उसके साथ गान्धर्व विवाह कर डाला।

विवाह करने के बाद अनिरुद्ध उसे अपने साथ लेकर द्वारिका नगरी की ओर चलने लगा। चलते समय उसने घोषित कर दिया, कि मैं उषा को हरण किये जा रहा हूँ। बाण को यह हाल मालूम होने पर उसने एक बड़ी सेना लेकर अनिरुद्ध को चारों ओर से घेर लिया। यद्यपि अनिरुद्ध भी अपने पिता और पितामह की ही भांति परम बलवान था, परन्तु बाण के सामने ठहरना कोई साधारण काम न था। उषा को उसकी यह कमजोरी मालूम होने पर उसने

अनिरुद्ध को एक पाठ सिद्ध विद्या दी, जिससे बलिष्ठ होकर उसने दीर्घकाल तक बाण से युद्ध किया।

परन्तु अन्त में बाण ने अनिरुद्ध को नाग पाश से जकड़ दिया। यह देख कर उषा को बड़ी चिन्ता हुई, इसलिए उसने प्रज्ञप्ति विद्या द्वारा यह हाल कृष्ण के पास भेजा। कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न और शाम्ब आदि को साथ लेकर तुरन्त वहां आ पहुँचे। अनिरुद्ध का नागपाश गरुडध्वज के दर्शन मात्र से ही छिन्न भिन्न हो गया। परन्तु बाण को इतने पर भी चैन न हुआ। वह आत्मबल और शंकर प्रदत्त वरदान के कारण परम गर्विष्ठ और मदोन्मत्त हो रहा था। इसलिए उसने कृष्ण से कहा—“तुझे क्या मेरे बल का हाल मालूम नहीं है? तूने सदा परायी कन्याओं का हरण किया है, इसलिए तेरे पुत्र पौत्रों को भी वैसी ही आदत पड़ गयी है, परन्तु आज तुझे और तेरे इन परिवारवालों को मैं इसका फल चखायें बिना न रहूँगा।”

उसके यह गर्व पूर्ण वचन सुनकर कृष्ण ने कहा—“हे दुष्टाशय! यह तू कैसी बात कहता है? कन्या तो किसी न किसी को देनी ही पड़ती है, इसलिए उससे ब्याह करने में कोई दोष नहीं है।”

कृष्ण के इस वचन पर क्रोधि बाण ने कोई ध्यान न दिया। उसने रोष पूर्वक अपना धनुष उठाया। कृष्ण भी युद्ध के लिए तैयार होकर आये थे, इसलिए दोनों ओर से भयंकर बाणवर्षा होने लगी। यह युद्ध बहुत देर तक होता रहा। अन्त में कृष्ण ने बाण को पराजित कर, उसे यमधाम भेज दिया। अभिमानी बाण की ठीक वही दशा हुई, जो गरुड से युद्ध करने पर सर्प की होती है। अन्त में कृष्ण, उषा, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न आदि को साथ लेकर द्वारिका नगरी लौट आये।



अठारहवाँ परिच्छेद नेमिनाथ भगवान की बल-परीक्षा



एक दिन नेमिकुमार अपने मित्रों के साथ घूमते हुए वासुदेव की आयुधशाला में जा पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने पहले नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र देखे। पश्चात् उन्होंने वह शंख भी देखा जिसकी ध्वनि से तीनों लोक में हाहाकार मच जाता था। उसे देखते ही प्रभु के मन में कौतूहल ऊपज आया, इसलिए वे उसे उठाने लगे। यह देखकर शस्त्रागार के रक्षक चारुकृष्ण ने कहा—“हे प्रभो! यद्यपि आप कृष्ण के भ्राता हैं और बड़े ही बलवान हैं तथापि मेरी धारणा है कि इसे बजाना तो दूर रहा, आप इसे उठा भी न सकेंगे। इस शंख को कृष्ण के सिवा ओर कोई भी उठा या बजा नहीं सकता। अतएव आप इसे उठाने की व्यर्थ चेष्टा न करें।”

चारुकृष्ण इस तरह की बातें कह ही रहा था कि इतने ही में नेमिकुमार ने हँसते हुए वह शंख उठा लिया और उसे इतने जोर से बजाया कि उसकी आवाज से आकाश और पृथ्वी पूरित हो गयी। दुर्ग, पर्वत शिखर और राज प्रसाद गजकर्ण की भांति कांप उठे और बलराम, कृष्ण, दशार्ह तथा अन्यान्य सुभट क्षुब्ध हो उठे। बड़े बड़े हाथियों ने जंजीरों तोड़ डाली और घोड़े भी बन्धनों को तोड़कर भाग खड़े हुए। नगर निवासी इस प्रकार मूर्च्छित हो गये, मानों उन पर वज्रपात हुआ हो और शस्त्रागार के रक्षक भी मूर्च्छित होकर अपने अपने स्थान पर गिर पड़े।

शंख की विकट ध्वनि सुनकर कृष्ण भी अपने मन में कहने लगे—
“अहो! यह शंख किसने बजाया? क्या कोई चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ या इन्द्र

पृथ्वी पर उतर आये? मैं जब शंख बजाता हूँ, तब साधारण राजागण क्षुब्ध हो उठते हैं, परन्तु यह ध्वनि तो ऐसी है, कि इसने मुझको और बलराम को भी विचलित कर दिया है।”

कृष्ण इस प्रकार की चिन्ता कर ही रहे थे कि इतने में आयुधशाला के रक्षकों ने आकर उनसे कहा—“हे प्रभो! आपको यह सुनकर बड़ा ही आश्चर्य होगा, कि अरिष्टनेमि ने खेलते खेलते अनायास आपका शंख उठाकर उसे बजा दिया। हम तो समझते थे कि आपके सिवा और किसी में भी उसे उठाने या बजाने का सामर्थ्य नहीं है।”

इसी समय नेमिकुमार भी वहां आ पहुँचे। कृष्ण ने एक सुन्दर आसन पर उन्हें सम्मान पूर्वक बैठाकर पूछा—“भाई! क्या आज तुमने यह शंख बजाया है, जिसके कारण समूची पृथ्वी अब तक कांप रही है?”

नेमिकुमार ने कहा—“हाँ, मैंने ही उसे बजाया है।”

उनके यह वचन सुनकर कृष्ण को उनका भुज बल देखने की भी इच्छा हुई, इसलिए उन्होंने उनका गौरव बढ़ाते हुए कहा—“मैं अब तक यही समझता था कि मेरे सिवा और कोई भी इस शंख को नहीं बजा सकता, किन्तु आज मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि तुम उसे अनायास बजा सकते हो। यदि इसी तरह तुम अपने भुजबल का भी परिचय मुझे दे सको, तो मैं विशेष प्रसन्न हो सकता हूँ। हे बान्धव इसके लिए क्या तुम मुझ से बाहुयुद्ध करना पसन्द कर सकते हो?”

नेमिकुमार ने कहा—“हाँ, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं।”

यह सुनकर कृष्ण उनको अपने साथ आयुधशाला में ले गये। वहां पर नेमिप्रभु अपने दयालु स्वभाव के कारण अपने मन में कहने लगे, कि कृष्ण मेरा भुजबल देखना चाहते हैं, परन्तु मेरे हृदय भुजा या पैर से दबने पर उनकी क्या अवस्था होगी? मुझे कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे उन्हें मेरा भुजबल तो मालूम हो जाय, किन्तु उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो। यह सोचकर उन्होंने कृष्ण से कहा—“आप जो बाहुयुद्ध पसन्द करते हैं, वह बहुत ही मामूली है। बार-बार जमीन पर लोटने से भली भांति बल की परीक्षा नहीं हो सकती। मेरी समझ में, हम लोग एक दूसरे की भुजा को झुकाकर

अपने अपने भुजबल का परिचय दें, तो वह बहुत ही अच्छा हो सकता है।”

कृष्ण ने नेमिकुमार का यह प्रस्ताव स्वीकारकर वृक्ष शाखा की भांति पहले अपनी भुजा फैला दी और नेमिकुमार ने उसे कमलनाल की भांति क्षणमात्र में झुका दिया। इसके बाद उसी तरह नेमिकुमार ने अपनी भुजा कृष्ण के सामने फैला दी, किन्तु अपना समस्त बल लगा देने पर भी कृष्ण उसे झुका न सके। इससे वे कुछ लज्जित हो गये, किन्तु इस लज्जा को उन्होंने मन में ही छिपाकर नेमिकुमार को आलिङ्गन करते हुए कहा—“भाई! तुम्हारा यह बल देखकर आज मुझे असीम आनन्द हुआ है। जिस प्रकार बलराम मेरे बल से इस संसार को तृणवत् मानता है उसी प्रकार अब मैं आपके बल से जगत् को तृणवत् समझूंगा।”

इतना कह कृष्ण ने नेमिकुमार को विदा कर दिया। इसके बाद उन्होंने बलराम से कहा—“हे बन्धु! तुमने नेमिकुमार का बल देखा? मैं समझता हूँ कि त्रिभुवन में कोई भी इसके बल की समानता नहीं कर सकता। मैं वासुदेव होने पर भी उसकी भुजा में उसी तरह लटककर रह गया, जिस प्रकार पक्षी वृक्ष की शाखा में लटक कर रह जाते हैं। निःसंदेह चक्रवर्ती या सुरेन्द्र भी अब नेमिकुमार के सामने नहीं ठहर सकते। यदि इस बल के कारण वह समूचे भरतक्षेत्र को अपने अधिकार में कर ले, तो उसमें भी हमें आश्चर्य न करना चाहिए, और वह कुछ न कुछ ऐसा उद्योग जरूर करेगा, क्योंकि यह कभी सम्भव नहीं कि वह अपना सारा जीवन यों ही बिता दे।

बलराम ने कहा—“आपका कहना यथार्थ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नेमिकुमार बड़े ही बलवान है, परन्तु वे जिस तरह बलवान है, उसी तरह राज्यादिक विषयों में निस्पृह भी है। इसीलिए मेरी धारणा है कि वे राज्यादिक को अपने अधिकार में करने की कभी कोई चेष्टा न करेंगे।”

बलराम के यह सब कहने पर भी कृष्ण की चिन्ता दूर न हुई। वे नेमिकुमार को शंका की दृष्टि से ही देखते रहे। उनकी यह अवस्था देखकर एक दिन कुलदेवी ने प्रकट होकर उनसे कहा—“हे कृष्ण! आप किसी तरह की चिन्ता न कीजिए। नेमिकुमार के विषय में श्रीनमि भगवान पहले ही बतला चुके हैं कि वे शादी न करेंगे और कुमारावस्था में ही तीर्थकर होंगे। उनको

राजलक्ष्मी की आवश्यकता न होगी। वे आजीवन ब्रह्मचारी रहेंगे और यथासमय दीक्षा ले लेंगे, इसलिए उनकी ओर से आपको सर्वथा निश्चित रहना चाहिए।”

देवी के यह वचन सुनकर कृष्ण की चिन्ता दूर हो गयी और उस दिन से वे नेमिकुमार को विशेष आदर की दृष्टि से देखने लगी।

एक दिन कृष्ण ने अन्तःपुर के समस्त कर्मचारियों से कहा—“यह मेरा भाई नेमिकुमार मुझे प्राण से भी अधिक प्यारा है, इसलिए यदि यह मेरे अन्तःपुर में जाने की इच्छा करे, तो उसमें किसी को बाधा न देनी चाहिए। वह बड़ा ही सदाचारी है, इसलिए अपनी भाभियों के साथ वह हास्य विलास या बातचीत करे तो उसमें दोष नहीं।”

इसके बाद कृष्ण ने अपनी सत्यभामा आदि पत्नियों से भी कह दिया कि तुम्हारा देवर नेमिकुमार यहां आये, तो उससे बोलने चालने में कोई हर्ज नहीं है, क्योंकि वह मुझे प्राण से भी अधिक प्रिय है।

इधर कृष्ण की अनुमति मिल जाने पर नेमिकुमार उनके अन्तःपुर में जाने आने लगे। वहां कृष्ण की समस्त पत्नियां उनका अत्यन्त सत्कार करती और वे निर्विकार भाव से उनसे ब्रातंचीत कर अपने वासस्थान को लौट आते। धीरे धीरे यह प्रेम इतना घनिष्ट हो गया कि कृष्ण अपनी पत्नियों को साथ लेकर क्रीड़ा पर्वतादि पर विचरण करने जाते, तो वहां भी नेमिकुमार को वे अपने साथ लेते जाते थे।

एक दिन वसन्त ऋतु में दसों दशार्ह, कुमार, नेमिकुमार अन्तःपुर तथा अनेक नगरजनों को साथ लेकर कृष्ण रैवताचल के उद्यान में गये, वहां पर नन्दनवन में जिस प्रकार सुरासुर के कुमार क्रीड़ा करते हैं, उसी प्रकार समस्त राजकुमार तथा नगरजन क्रीड़ा करने लगे, कई लोग हाथ में वीणा लेकर वसन्त के गायन गाने लगे, कई मदोन्मत्त युवक किन्नर की भांति स्त्रियों सहित नृत्य करने लगे कई लोग अपनी स्त्रियों के साथ चम्पक, बकुल आदि वृक्षों के पुष्प चुनने लगे, कई लोग कुशल मालियों की तरह पुष्पाभरण बनाकर उनसे अपनी प्रियतमाओं को सजाने लगे, कई लोग लता गृह में नव पल्लवों की शैया पर अपनी स्त्रियों के साथ कान्दर्पिक देवताओं की भांति क्रीड़ा करने लगे, कई लोग जलाशय के तट पर बैठकर शीतल मन्द और सुगन्धित समीर का सेवन

करने लगे, कई लोग अपनी रूपवती रमणियों के साथ वृक्षों में लगे हुए झूलनों में बैठकर झूले का आनन्द लेने लगे। इस प्रकार सब लोग तरह तरह की क्रीड़ा में लीन हो, आनन्द उपभोग करने लगे।

कृष्ण भी इसी उद्यान में सत्यभामा आदि पत्नियों के साथ इधर उधर विचरण कर रहे थे। इतने ही में नेमिकुमार को देखकर कृष्ण अपने मन में कहने लगे—“यदि नेमिकुमार का मन विषय भोग पर लग जाय तो मेरी सम्पदा और मेरा बन्धुत्व सार्थक हो सकता है। इसके लिए मैं बार-बार प्रयत्न करूंगा। संभव है कि ऐसा करने पर मेरा मनोरथ पूर्ण हो जाय।”

यह सोचकर कृष्ण ने फूलों का एक सुन्दर हार बनाकर नेमिकुमार के गले में पहना दिया। कृष्ण का यह कार्य देखकर उनकी सत्यभामा आदि पत्नियां भी विविध गहने लेकर नेमिकुमार के पास आ पहुँची। उनमें से कोई सुन्दरी उनके पीछे खड़ी हो अपने पीन और उन्नत स्तनों से उनके अंग को स्पर्श करती हुई स्नेह पूर्वक उनके पुष्प गुच्छ बांधने लगी, कोई सामने आकर बाहुमूल को प्रकट करती हुई उनके शिर पर मुकुट रखने लगी, कोई अपने हाथ से उनका कान पकड़कर मदन जयध्वज के समान कान के कुण्डल की रचना करने लगी और कोई नूतन पुष्पों का बाजुबन्ध बनाकर उनकी भुजाओं में पहनाने लगी। इस प्रकार उन रमणियों ने ऋतु के अनुकूल नाना प्रकार के उपाय किये, परन्तु नेमिकुमार के हृदय पर उनका जरा भी प्रभाव न पड़ा। उन्होंने भी निर्विकार भाव से अपनी भग्णियों के साथ वैसा ही व्यवहार किया जिससे उन सभी को बड़ा ही आनन्द हुआ।

इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए उन सब लोगों ने एक रात और एक दिन उस उद्यान में व्यतीत किया। इसके बाद कृष्ण सब लोगों के साथ द्वारिका नगरी को लौट आये। इसी तरह और भी कई बार विविध उपवनों में जाकर उन लोगों ने वसन्तोत्सव मनाया और वहां तन मन से इस बात की चेष्टा की, कि नेमिनाथ की प्रवृत्ति पलट जाय, परन्तु इसका कोई भी फल न हुआ। फिर भी राजा समुद्रविजय, अन्य दशार्ह, बलराम, कृष्ण तथा अन्याय यादव इससे निराश न हुए और उन्होंने भविष्य में भी इन्हीं युक्तियों से काम लेना जारी रखा।

वसन्त के बाद यथासमय ग्रीष्म ऋतु का आगमन हुआ। ग्रीष्म के कारण

लोगों को ऋहीं भी शान्ति न मिलती थी इसलिए सब लोग शीतल और सुगन्धित जल से वारंवार अपने शरीर को सिञ्चित करने लगे और कामिनियां भी मुक्ता हार की भांति अपने हृदय पर कमल नालों को धारण करने लगीं। ग्रीष्म का यह भीषण उत्पात देखकर कृष्ण, नेमिकुमार को तथा अपने अन्तःपुर को साथ लेकर रैवताचल के सरोवर पर चले गये और वहां पर जल क्रीड़ा द्वारा शारीरिक और मानसिक शक्ति उपलब्ध करने लगे।

एक दिन जल क्रीड़ा करने के लिए कृष्ण ने नेमिकुमार तथा अपनी पत्नियों को साथ लेकर हंस की भांति जलाशय में प्रवेश किया, इतने ही में कृष्ण ने किसी कामिनी की और एक अंजलि जल फेंक दिया, जिसके उत्तर में उसने भी जल उछाल-उछालकर कृष्ण को तर कर दिया। इसके बाद भांति भांति से वे सब लोग जल क्रीड़ा करने लगे। पानी से डरकर सुन्दर ललनाएं जब कृष्ण के बदन से जांकर चिपट जाती, तब कृष्ण पुत्तलिका युक्त स्तम्भ के समान प्रतीत होने लगते थे। कभी कभी कल्लोल की भांति उछालकर वह मृगाक्षियां वेगपूर्वक कृष्ण की कमर या छाती से भिड़ जाती थीं। स्नान करते करते कृष्ण और वनिताओं के नेत्र लाल हो जाते थे, जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो क्रोध के ही कारण उनकी यह अवस्था हुई हो। इसी तरह सपत्नी के नाम से बुलाने पर कोई सुन्दरी कृष्ण को हरे कमल से मारने लगती, कभी कृष्ण किसी दूसरी सुन्दरी की ओर देखते तो सत्यभामा आदि पटरानियां अंसन्तुष्ट हो जाती और कृष्ण को पराग मिश्रित जल से मारने लगती, कभी कभी वह सब सुन्दरियां कृष्ण के चारों ओर इस प्रकार भ्रमण करती कि उनको देखकर गोपियों की रास लीला का स्मरण हो आता था।

कृष्ण की पत्नियां नेमिकुमार से भी हास्यविनोद और जलक्रीड़ा करने की चेष्टा करती थी। इसलिए उनमें से कई स्त्रियाँ नेमिकुमार से कहने लगती कि—“हे देवर। अब तुम कहां जाओगे?” यह कहती हुई वे चारों ओर से उन्हें घेर लेती और जल उछाल-उछाल कर उन्हें खूब तंग कर दिया करती थी।”

इसके बाद और भी अनेक प्रकार की जलक्रीड़ा हुई। कभी कोई रमणी जलक्रीड़ा के बहाने उनके गले में अपनी भुजाओं को डाल देती, कभी कोई

छाती स्पर्श कर लेती और कभी कोई अन्यान्य अंगों में हाथ देती। कोई रमणी सहस्रदल कमल लेकर उनके शिर पर छत्र की तरह धारण करती, तो कोई उनके कंठ में कमलनाल डाल देती। कोई रमणी कमल लेकर उनके उस हृदय पर आघात करती, जिस पर कभी मदनबाण की चोट न लगी थी, तो कोई हास्यविनोद द्वारा उनको हँसाने की चेष्टा करती। निर्विकारी नेमिकुमार भी इन क्रियाओं की प्रतिक्रिया कर अपनी भाभियों का मनोरंजन करते थे।

नेमिकुमार को जल क्रीड़ा में भाग लेते देखकर कृष्ण को अत्यन्त आनन्द हुआ। नन्दीवर हाथी की भांति दीर्घकाल तक जल में रहने के बाद कृष्ण उससे बाहर निकल आये। यह देखकर रुक्मिणी और सत्यभामा आदि भी बाहर निकल आयी। सब लोगों के बाहर निकल आने पर नेमिकुमार भी राजहँस की भांति जल से बाहर निकल कर, रुक्मिणी के निकट जाकर खड़े हो गये। यह देखकर रुक्मिणी ने उनको रत्नमय आसन पर बैठाकर अपने उत्तरीय वस्त्र से उनका शरीर पोंछ दिया।

इसी समय सत्यभामा ने हास्य और विनयपूर्वक नेमि से कहा—“हे देवर! तुम सदा हमारी बातें सहन करते हो, इसलिए मैं निर्भिकता पूर्वक आज तुमसे दो चार बातें कहती हूँ। हे सुन्दर! तुम सोलह हजार पत्नियों के स्वामी कृष्ण के भाई होकर एक भी कन्या का पाणिग्रहण क्यों नहीं करते? तुम्हारा रूप तीनों लोक में सर्वोत्कृष्ट और चरित्र परम निर्मल है यौवन भी अभी नवीन ही है? फिर तुम्हारी यह अवस्था क्यों? तुम्हारे माता पिता, भाई भाभी आदि सभी लोग। विवाह के लिए तुमसे प्रार्थना करते हैं ऐसी अवस्था में तुमको उनका मनोरथ पूर्ण करना चाहिए। तुम्हीं अपने मन में विचार करो कि आखिर तुम इस तरह कितने दिन अविवाहित रह सकते हो? हे कुमार! क्या तुम अज्ञ हो या निरस हो या नपुंसक हो? यदि तुम विवाह न करोगे, तो तुम्हारा जीवन अरण्य पुष्प की भांति निरर्थक हो जायगा। इसलिए मैं तुमसे अनुरोध करती हूँ कि तुम पहले विवाह कर सांसारिक सुख उपभोग करो। उसके बाद यथासमय तुम ब्रह्मव्रत भी ग्रहण कर सकते हो, परन्तु गृहस्थावस्था में ब्रह्मव्रत का पालन उसी प्रकार अनुचित है, जिस प्रकार अपवित्र स्थान में मन्त्र का जप करना अनुचित है।”

सत्यभामा की यह बातें सुनकर नेमिकुमार कुछ विचार में पड़ गये। इतने ही में जाम्बवती उनके पास आकर कहने लगी—“हे देवर! तुम्हारे वंश में मुनिसुव्रत तीर्थकर हो गये हैं। वे भी विवाहित और पुत्र परिवार वाले थे। इसी तरह प्राचीन काल में और भी अनेक महापुरुष ऐसे हुए हैं, जो विवाह करने पर भी मोक्ष के अधिकारी हुए हैं। मैं देखती हूँ कि तुम्हीं एक ऐसे अनोखे मुमुक्षु उत्पन्न हुए हो, जो पूर्व प्रचलित प्रथा को छोड़कर जन्म से ही स्त्री से विमुख हो बैठे हो!”

जाम्बवती को यह सब बातें कहते देख, सत्यभामा ने बाह्य कोप दिखाकर कहा—“सखी! तुम इन्हें मधुर वचनों से क्या समझाती हो? यह सीधी तरह बात मानने वाले नहीं है, क्योंकि इनके पिता, बड़े भाई तथा अन्यान्य लोगों ने भी ब्याह के लिए इन्हें कई बार समझाया है, परन्तु इन्होंने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया है। आओ, आज हम सब लोग चारों ओर से इनको घेर लें और तब तक इन्हें कहीं जाने न दें, जब तक यह हमारी बात न मान लें।

यह सुनकर लक्ष्मणा ने लल्लो चप्पो करते हुए कहा—“सखी! ऐसी बातें क्यों कहती हो? यह देवर तो आराधना करने योग्य हैं। इन्हें तंग न कर, समझा बुझाकर ही ब्याह के लिए राजी करना चाहिए।”

इसके बाद रुक्मिणी आदि कृष्ण की अनेक पत्नियां ब्याह के लिए प्रार्थना करती हुई नेमिकुमार के चरणों पर गिर पड़ी। उचित अवसर देखकर कृष्ण ने भी इसी समय उनसे बहुत अनुरोध किया। अन्यान्य यादव, जो यह सब देख रहे थे, वे भी आग्रह पूर्वक कहने लगे—“हे नेमिकुमार! तुम्हें अपने भाई की यह बात मान लेनी चाहिए। तुम्हारे माता पिता तथा अन्यान्य स्वजनों को भी इससे आनन्द और परम सन्तोष होगा।”

इस प्रकार सबके कहने पर नेमिकुमार बड़ी चिन्ता में पड़ गये। वे अपने मन में कहने लगे—“अहो! यह लोग कितने अज्ञानी हैं। इस अज्ञानता के कारण यह लोग स्वयं तो भवसागर में पड़ते ही हैं, दूसरों को भी स्नेह रूपी पाषाण शिला बांधकर उसमें घसीट ले जाते हैं खैर इन लोगों का अब इतना आग्रह है तो वचन द्वारा मुझे स्वीकृति देनी ही होगी। फिर यथासमय

आत्मकल्याण तो करना ही है। बाकी, अन्यान्य तीर्थकरों ने जो विवाह किया था, वह तो भोगावलि कर्म के कारण ही किया था, क्योंकि कर्मों की गति भिन्न भिन्न होती है।”

इस प्रकार के विचार से प्रभु को हास्य आ गया, और उस हास्य को स्वीकृति मान ली गयी, और कृष्ण ने समुद्रविजयादि को समाचार भेज दिये। नेमिकुमार उस समय मौन रहे।

इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु व्यतीत कर कृष्ण सब लोगों के साथ द्वारिका लौट आये और नेमिकुमार के लिए एक योग्य कन्या की खोज करने लगे। इतने ही में एक दिन सत्यभामा ने कृष्ण से कहा—“हे प्रियतम! मेरी छोटी बहिन राजीमती अभी तक अविवाहिता ही है। उससे यदि नेमिकुमार का विवाह हो जाय तो मणिकाशन-योग की उक्ति चरितार्थ हो सकती है।”

यह सुनकर कृष्ण प्रसन्न हो उठे। राजीमती उनकी देखी सुनी कन्या थी, इसलिए उन्होंने कहा—“हे सत्यभामा! इस समय तुमने यह बात कहकर मेरा बड़ा ही उपकार किया है। योग्य कन्या के लिए मैं चारों ओर दृष्टि दौड़ा रहा था, बहुत चिन्तित हो रहा था, परन्तु कोई अच्छी कन्या दिखायी न देती थी, इस समय तुम ने राजीमती की याद दिलाकर मेरी समस्त चिन्ता दूर कर दी है।”

इसके बाद कृष्ण वहां से उठकर उसी समय उग्रसेन के घर गये। उग्रसेन ने कृष्ण का सत्कार कर, उन्हें सिंहासन पर बैठाकर, उनके आगमन का कारण पूछा। इस पर कृष्ण ने कहा—“हे राजन्! आप मेरे लघु भ्राता नेमिकुमार को तो जानते ही होंगे। वह अवस्था में मुझ से छोटा है किन्तु गुणों में मुझसे बहुत ही बड़ा है। मैं उसके लिए आपकी राजीमती नामक कन्या की याचना करने आया हूँ।”

उग्रसेन ने नम्रता पूर्वक कहा—“हे प्रभो! यह हमारा अहोभाग्य है, जो आपने यहां आकर हमें कृतार्थ किया है। हमारा यह मकान, यह सम्पदा, हम लोग, हमारी यह कन्या और हमारा सर्वस्व निःसन्देह आप ही का है। अतः जो वस्तु अपनी है, उसके लिए याचना कैसी? मैं आपकी आज्ञा पालन करने के लिए सहर्ष तैयार हूँ।

उग्रसेन के इन वचनों से कृष्ण को बड़ा ही आनन्द हुआ। वे वहाँ से उठकर राजा समुद्रविजय के पास आये। राजा समुद्रविजय को भी कृष्ण के मुख से यह सब समाचार सुनकर परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने प्रेम पूर्वक कृष्ण से कहा—“हे वत्स! गुरुजनों के प्रति तुम्हारा जो भक्तिभाव और भ्राताओं के प्रति जो गाढ़ वात्सल्य है, वह वास्तव में सराहनीय है। तुम्हारे इस गुण के कारण ही तुम्हें नेमि की मनोवृत्ति बदलने में सफलता प्राप्त हुई है। वर्ना मैं तो इस ओर से सर्वथा निराश हो गया था, क्योंकि बार-बार समझाने पर भी नेमिकुमार ने मेरी बात पर कभी ध्यान न दिया था।

इसके बाद क्रोष्टुकि ज्योतिषी को बुलाकर राजा समुद्रविजय ने नेमिकुमार और राजीमती के विवाह का मुहूर्त पूछा। इस पर क्रोष्टुकि ने कहा—“हे राजन्! वर्षाकाल में मामूली उत्सव भी नहीं किया जाता है, तो फिर विवाह जैसे उत्तम कार्य के लिए प्रश्न करना ही बेकार है।”

समुद्रविजय ने कहा—“महाराज! आपका कहना यथार्थ है, परन्तु हम लोग इस कार्य में जरा भी विलम्ब करना नहीं चाहते। कृष्ण ने न जाने कितनी मुश्किल से अरिष्टनेमि को विवाह के लिये तैयार किया है। विलम्ब करने से शायद उसकी मनोवृत्ति फिर बदल जाय और वहा इन्कार कर दे। इसलिए आप ऐसा मुहूर्त बतलाइये, जो बहुत ही नजदीक का हो।

क्रोष्टुकि ने सोच विचार कर कहा—“हे राजन्! यदि ऐसी ही बात है, तो श्रावण शुक्ला षष्ठी का दिन इस कार्य के लिए बहुत ही उत्तम होगा।”

राजा समुद्रविजय ने ब्याह के लिए यही दिन निर्धारित कर, क्रोष्टुकि को संस्कार पूर्वक विदा कर दिया। इसके बाद उन्होंने उग्रसेन को भी इस मुहूर्त की सूचना दे दी। शीघ्र ही दोनों ओर से जोरों के साथ विवाह की तैयारियां होने लगी। कृष्ण ने इस अवसर पर सुन्दर मञ्च और तोरणादिक बनावा कर नगर को विशेष रूप से सजा दिया।

धीरे धीरे जब विवाह का दिन नजदीक आ गया, तब दसो दशार्ह, बलराम, कृष्ण शिवादेवी, रोहिणी और देवकी आदि माता, रेवती आदि बलराम की पत्नियाँ, सत्यभामा आदि कृष्ण की रानियां तथा धात्रियों ने मिलकर नेमिनाथ को पूर्वाभिमुख एक बड़े आसन पर बैठाया। इसके बाद

कृष्ण और बलराम ने प्रेम पूर्वक उनको स्नान कराया। तत् पश्चात् रक्षा बन्धन कर, हाथ में बाण धारण कराकर कृष्ण उग्रसेन के घर गये। वहां पूर्णिमा के चन्द्र समान मुखवाली राजीमती को भी कृष्ण ने उसी विधि से बैठाया। इसके बार वे अपने वासस्थान को लौट आये।

तदनन्तर नेमिकुमार गहने कपड़ों से सुसज्जित हो एक सुन्दर रथ पर सवार हो, अपने महल से चलने लगे। उनके आगे-आगे करोड़ों यादव अश्वारूढ़ हो चलते थे। दोनों ओर हाथियों पर बैठे हुए हजारों राजा, पीछे दस दशार्ह तथा बलराम और कृष्ण चलते थे। उनके पीछे सुन्दर पालकियों पर बैठकर अन्तःपुर तथा नगर की रमणियां सुन्दर गीत गाती हुई जा रही थी।

रास्ते में दोनों ओर मकान की छतों पर नगर ललानाए बैठी हुई मंगल गान गा रही थी। ज्योंही नेमिकुमार उधर से निकलते त्योंही उनकी दृष्टियां उन पर गड़ जाती थी औरवे मंगलाक्षत तथा पुष्पवृष्टि कर अपनी शुभ कामना व्यक्त करती थी। इसी तरह नगर निवासी तथा स्वर्जनों को आनन्दित करते हुए नेमिकुमार उग्रसेन के महल के समीप जा पहुँचे।

उधर नेमिकुमार के आगमन की तुमुल ध्वनि से कमल लोचना राजीमती उसी प्रकार आनन्दित हो उठी, जिस प्रकार मेघ गर्जन से मयुर आनन्दित हो उठता है। उसका हृदय उनको देखने के लिए छटपटाने लगा। चतुर सखियों ने उसका यह मनोभाव जानकर कहा—“हे सुन्दरि! नेमिकुमार तुम्हारा पाणिग्रहण करने वाले है। इसलिए तुम धन्य हो! हे कमललोचने! यद्यपि नेमिकुमार यहीं आ रहे हैं, तथापि हम लोग उत्सुकता के कारण गवाक्ष में बैठकर उनको देखना चाहती हैं। तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी गवाक्ष में बैठकर देख सकती हो।

राजीमती तो पहले ही से इसके लिए व्याकुल हो रही थी। सखियों के आग्रह करने पर वह तुस्त उनके साथ एक गवाक्ष में जाकर बैठ गयी। सुन्दर और सुशोभित वस्त्रालङ्कारों के कारण उस समय उसकी शारीरिक शोभा देखते ही बनती थी। शिर पर उसने मालती पुष्पों के साथ धम्मिल (पुष्प गुच्छ) धारण किया था, जो मेघों के बीच से चन्द्र की भांति शोभा देता था। इस प्रकार यह साक्षात् देवाङ्गना के समान सुन्दर प्रतीत होती थी।

कुछ ही देर में साक्षात् कामदेव की भांति हृदय में मदन को जाग्रत करने वाले नेमिकुमार राजीमती को दूर से आते हुए दिखायी दिये। उनको देखकर वह अपने मन में कहने लगी—“अहो! यह तो तीनों लोक के भूषण रूप हैं। इनको वर रूप में पाकर मेरा जीवन सफल हो जायगा। परन्तु क्या सचमुच इनसे मेरा विवाह होने जा रहा है? हां, इसमें क्या सन्देह? विवाह के लिए तो वे आ ही रहे हैं, परन्तु न जाने क्या मुझे इस बात पर विश्वास ही नहीं होता। मैंने ऐसा कौन सा पुण्य किया है, जिससे ये मुझे पति रूप में प्राप्त होंगे? मेरा ऐसा भाग्य कहाँ कि यह दुर्लभ रत्न मुझे प्राप्त हो?”

राजीमती यह बातें सोच रही थीं, कि इतने ही में उसकी दाहिनी आंख और दाहिनी भुजा फड़क उठी। इससे राजीमती बड़ी चिन्ता में पड़ गयी और उसके दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। उसने सब हाल अपनी सखियों से कह सुनाया। इस पर सखियों ने सान्त्वना देते हुए कहा—“हे सखी! तुम व्यर्थ ही इस समय अमंगल की चिन्ता कर व्याकुल हो रही हो। नेत्र फुरण आदि तो शरीर के स्वाभाविक धर्म हैं। तुम्हें इनका ख्याल न करना चाहिए। कुलदेवियों का स्मरण करो वे सब अमंगल दूर कर तुम्हारा कल्याण करेंगी। देखो, तुम्हारे पतिदेव द्वार पर खड़े हैं, मंगल गान हो रहे हैं, बाजे बज रहे हैं, और चारों ओर धूम मची हुई है, ऐसे समय आंख में यह आंसू कैसे? अमंगल की यह चिन्ता कैसी? इस समय ऐसी नादानी तुम्हें शोभा नहीं देती।”

राजीमती ने सखियों की इन बातों का कोई उत्तर न दिया। उसने अपने आंसू पोंछ डाले और अपना हृदय कठोर बना लिया, फिर भी न जाने क्यों, किसी अज्ञात शंका के कारण, बीच बीच में उसका हृदय कांप उठता था, जिससे उसकी व्यग्रता और भी बढ़ जाती थी।

नेमिकुमार धीरे धीरे जब उग्रसेन के द्वार के निकट आ पहुँचे, तब उन्हें कई पशुओं का करुण स्वर सुनायी दिया। उन्हें सुनकर नेमिकुमार सारा मामला समझ गये, फिर भी उन्होंने सारथी से पूछा—“नाना प्रकार के प्राणियों का यह करुण स्वर कहाँ से सुनायी दे रहा है।”

सारथी ने कहा—“हे भगवन्! क्या आप नहीं जानते कि आपके

विवाह के बाद कुछ मेहमानों के आतिथ्य के लिए इनका वध किया जायगा। इनमें भेड़, बकरी आदि अनेक पशु, तथा तीतर आदि अनेक पक्षी हैं। वही सब व्याकुल हो चिल्ला रहे हैं।”

सारथी की यह बातें सुनकर दयावीर नेमिकुमार ने कहा—“हे सारथी! तुम मेरे रथ को पहले उस स्थान में ले चलो, जहां यह सब पशु पक्षी रखे गये हैं। मैं जरा उन्हें देखना चाहता हूँ।”

सारथी ने नेमिकुमार की यह आज्ञा तत्काल शिरोधार्य की नेमिकुमार ने वहां जाकर देखा तो उन्हें अनेक पक्षु पक्षी चिल्लाते हुए दिखायी दिये। उनमें से कुछ की गर्दनें बँधी हुई थी, कुछ के पैर बँधे हुए थे, कुछ पींजड़ों में बन्द थे, और कुछ जाल में जकड़े हुए थे। नेमिकुमार को देखते ही वे सब कांपते हुए नेत्रों से दीनता प्रकट करते हुए, मुख उठा-उठाकर अपनी अपनी भाषा में ‘त्राहिमम्!’ कहने लगे। नेमिकुमार से यह हृदय विदारक दृश्य अधिक समय तक देखा न गया। इसलिए उन्होंने उसी समय सारथी को आज्ञा देकर उन सबों को बन्धन मुक्त करवा दिया।

बन्धन मुक्त होते ही वे सब नेमिकुमार को आशीर्वाद देते हुए अपने अपने स्थान को चले गये। इधर नेमिकुमार ने सारथी को आज्ञा दी, कि अब अपना रथ वापस लौटा लो! तदनुसार सारथी ने ज्योंही रथ को घुमाया, त्योंही चारों ओर घोर हाहाकार मच गया। राजा समुद्रविजय, बलराम, कृष्ण शिवादेवी, रोहिणी, देवकी तथा अन्यान्य स्वजन भी अपने अपने वाहन से उतरकर उनके पास दौड़े। राजा समुद्रविजय तथा शिवादेवी ने आँसू बहाते हुए पूछा—“हे पुत्र! अचानक इस तरह तुम वापस क्यों जा रहे हो? आज विवाह की अन्तिम घड़ी है, ऐसे समय रंग में भंग क्यों कर रहे हो?”

नेमिकुमार ने गंभीरता पूर्वक कहा—“पिताजी! मुझे आप लोग क्षमा करिए, मैं ब्याह नहीं करना चाहता। यह सब प्राणी अब तक जिस प्रकार बन्धन से बँधे हुए थे, उसी प्रकार हम लोग भी कर्म बन्धन से बँधे हुए हैं। जिस प्रकार ये अब बन्धन मुक्त हुए हैं, उसी प्रकार मैं भी अपनी आत्मा को कर्म बन्धन से रहित करने के लिए समस्त सुखों की कारण रूप दीक्षा ग्रहण करूंगा।”

नेमिकुमार का यह वचन सुनते ही शिवादेवी और समुद्रविजय मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़े। अन्यान्य स्वजनों के नेत्रों से भी दुःख के कारण अंशुधारा बहने लगी। यह देखकर कृष्ण ने सब लोगों को सान्त्वना देकर शान्त किया। तदनन्तर उन्होंने नम्रता पूर्वक नेमिकुमार से कहा—“हे बन्धो! हम सब लोग तुम्हें सदा आदर की दृष्टि से देखते आये हैं। इस समय भी हम लोगों ने कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जिसे तुम्हें किसी प्रकार का दुःख हो। तुम्हारा रूप अनुपम और यौवन नूतन है। तुम्हारी वधू राजीमती भी रूप और गुणों में सर्वथा तुम्हारे अनुरूप ही है। ऐसी अवस्था में ठीक विवाह के समय, तुम्हें यह वैराग्य क्यों आ रहा है? जो लोग निरामिष भोजी है, उनके यहां ऐसे समय में पशु पक्षियों का वध होता ही है, इसलिए उनका संग्रह भी एक साधारण घटना थी। परन्तु अब तो तुमने उनको बन्धन मुक्त कर दिया है, इसलिए उस सम्बन्ध में भी अब कोई शिकायत का स्थान नहीं है। अतएव अब तुम्हें अपने माता-पिता और बन्धुओं का मनोरथ पूर्ण करना चाहिए। यदि तुम ऐसा न करोगे, तो तुम्हारे माता पिता को बड़ा ही दुःख होगा। जिस प्रकार तुमने प्राणियों को बन्धन मुक्त कर उनको आनन्दित किया है, उसी प्रकार अपना विवाह दिखाकर अपने स्वजन स्नेहियों को भी आनन्दित करना तुम्हें जरूरी है।”

नेमिकुमार ने नम्रता पूर्वक कहा—प्रिय बन्धु! मुझे माता पिता और आप लोगों के दुःख का कोई कारण दिखायी नहीं देता है। मेरे वैराग्य का कारण तो चार गति रूप यह संसार है, जहां जन्म होने पर प्राणी को प्रत्येक जन्म में दुःख ही भोगना पड़ता है। जीव को प्रत्येक जन्म में माता, पिता भाई तथा ऐसे ही अनेक सम्बन्धी प्राप्त होते हैं, परन्तु इनमें से कोई भी उसका कर्मफल नहीं बँटाता। उसे अपना कर्म स्वयं ही भोगना पड़ता है। हे बन्धो! यदि एक मनुष्य दूसरे का दुःख बँटा सकता हो, वो विवेकी पुरुष को चाहिए, कि अपने माता पिता के लिए वह अपना प्राण तक दे दे, परन्तु पुत्रादि होने पर भी प्राणी को जन्म, जरा और मृत्यु का दुःख तो स्वयं ही भोगना पड़ता है। इससे कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता। यदि आप यह कहें कि पुत्र पिता की दृष्टि को आनन्द देने वाले होते हैं, तो मैं कहूंगा कि महानेमि आदि मेरे कई भाई इस कार्य के लिए विद्यमान है। मैं तो बुढ़े मुसाफिर की भांति इस संसार

मार्ग के गमनागमन से ऊब गया हूँ। इसलिए मैं उसके हेतुरूप कर्मों का अब नाश करना चाहता हूँ परन्तु दीक्षा के बिना यह नहीं हो सकता, इसलिए सर्वप्रथम मैं उसी को ग्रहण करने जा रहा हूँ। हे बन्धो! आप अब मेरे इस कार्य में व्यर्थ ही बाधा न दीजिए।”

इधर राजा समुद्रविजय भी यह बातें सुन रहे थे, इसलिए वे नेमि से कहने लगे—“प्यारे पुत्र! तुम तो गर्भ से ही ईश्वर हो, किन्तु तुम्हारा शरीर अत्यन्त सुकुमार है, तुम इस व्रत का कष्ट किस प्रकार सहन करोगे? हे पुत्र! ग्रीष्मकाल की कड़ी धूप सहना दूर रहा, तुम तो अन्य ऋतु की साधारण धूप भी बिना छाते के सहन नहीं कर सकते। भूख प्यास का परिषह वे लोग भी सहन नहीं कर सकते जो अत्यन्त परिश्रमी और कष्ट सहिष्णु होते हैं, तब इस देवभोग के योग्य शरीर से तुम इन्हें कैसे सहन करोगे?”

नेमिकुमार ने कहा—“पिताजी! उत्तरोत्तर दुखों के समूह को भोगते हुए नारकी जीवों को जानने वाले पुरुष क्या इसे दुःख कह सकते हैं। तप के दुःख से तो अनन्त सुख देने वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है और विषय सुख से तो अनन्त दुःखदायी नरक मिलती है। इसलिए आप ही विचार करके बतलाइए कि मनुष्य को क्या करना उचित है? विचार करने पर यह तो सभी समझ सकते हैं कि क्या भला और क्या बुरा है, किन्तु दुःख का विषय यह है कि विचार करने वाले विरले ही होते हैं।”

नेमिकुमार की यह बातें सुनकर उनके भाता-पिता, कृष्ण, बलराम तथा समस्त स्वजनों को विश्वास हो गया, कि वे अब दीक्षा लिये बिना नहीं रह सकते, इसलिए सब लोग उच्च स्वर से विलाप करने लगे। किन्तु नेमिकुमार तो कुञ्जर की भांति स्नेह बन्धनों को छिन्न भिन्न कर अपने वासस्थान को चले गये। यह देख, लोकान्तिक देवों ने प्रभु के पास आकर कहा—“हे नाथ! अब आप तीर्थ प्रवर्तित कीजिए।” इसके बाद इन्द्र के आदेशानुसार जृम्भक देवताओं के भरे हुए द्रव्य से भगवान वार्षिक दान देने लगे।”

उधर राजीमती ने जब सुना कि नेमिकुमार दीक्षा लेना चाहते हैं और इसलिए वे द्वार पर से लौटे जा रहे हैं, तब व्याकुल हो पृथ्वी पर गिर पड़ी। यह देखकर उसकी सखियाँ अत्यन्त चिन्तित हो गयी। उन्होंने समुचित उपचार

कर शीघ्र ही उसे सावधान किया। उस समय राजीमती के युगल कपोलों पर केश लटक रहे थे और अश्रुओं से उसकी कशुकी भीग गयी थी। होश में आते ही उसे सब बातें फिर स्मरण हो आयीं, और वह विलाप करते हुए कहने लगी—“हाँ देव ! मैंने तो कभी स्वप्न में भी यह मनोरथ नहीं किया था कि नेमिकुमार मेरे पति हो फिर तूने किसकी प्रार्थना से उनको मेरा पति बनाया ? और यदि उनको मेरा पति बनाया, तो असमय में वज्रपात की भांति तूने यह विपरीत घटना क्यों घटित कर दी ? निःसन्देह तू महा कपटी और विश्वासघातक है। मैंने तो अपने भाग्य विश्वास से पहले ही यह जान लिया था क कहां परम प्रतापी नेमिकुमार और कहां हतभागिनी मैं ? मेरा और उनका योग कैसा ? परन्तु हे नेमिकुमार ! यदि तुम मुझे अपने लिये उपयुक्त न समझते थे तो फिर मेरे पाणिग्रहण की बात स्वीकारकर मेरे मन में व्यर्थ ही मनोरथ क्यों उत्पन्न किया ? हे स्वामिन् ! यदि मनोरथ उत्पन्न किया, तो उसे बीच ही में नष्ट क्यों कर दिया ? महापुरुष तो प्राण जाने पर भी अपने निश्चय से नहीं टलते। फिर आपने मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया ? हे प्रभो ! यदि आप अपनी प्रतिज्ञा से इस प्रकार विचलित होंगे, तो समुद्र भी अवश्य मर्यादा छोड़ देगा। परन्तु नहीं, मैं भूल करती हूँ यह आपका नहीं, मेरे ही कर्म का दोष है। मेरे भाग्य में केवल वचन से ही आपका पाणिग्रहण बदा था। यह मनोहर, मातृगृह, यह रमणीय और दिव्य मण्डप, यह रत्नवेदिका तथा हमारे विवाह के लिए जो-जो तैयारियां की गयी हैं, वे सब अब व्यर्थ हो गयीं। मंगल गानों में जो गाया जाता है, वह सब सत्य नहीं होता—यह लोकोक्ति भी आज यथार्थ प्रमाणित हो गयी, क्योंकि पहले आप मेरे पति कहलाये, किन्तु बाद में कुछ भी न हो सका ! मैंने पूर्वजन्म में दम्पतियों का वियोग करवाया होगा, इसलिए इस जन्म में मुझे आपके समागम का सुख उपलब्ध न हो सका।”

इस प्रकार विलाप करती हुई राजीमती पुनः जमीन पर गिर पड़ी। होश आने पर उसने अपने छाती पीटते पीटते अपना हार तोड़ डाला और अपने कडकण भी फोड़ डाले।

उसकी यह व्याकुलता देखकर उसकी सखियों ने नेमिकुमार की ओर से उसका ध्यान हटाने के उद्देश्य से कहा—“हे सखी ! नेमिकुमार का स्मरण कर अब तुम व्यर्थ ही अपने जी को दुःखित क्यों करती हो ? उससे अब तुम्हें

प्रयोजन ही क्या है? वह तो स्नेह रहित, स्पृहा रहित, और लोक व्यवहार से विमुख है। जिस तरह जंगल के पशु बस्ती से डरते हैं, उसी तरह वह भी गार्हस्थ्य जीवन से डरता है। वह दाक्षिण्य रहित, स्वेच्छाचारी और निष्ठुर था। यदि चला गया तो उसे जाने दो। यह अच्छा हुआ, जो उसके गुण आरम्भ में ही प्रकट हो गये। ब्याह के बाद यदि उसने ऐसी निष्ठुरता दिखलायी होती, तो निःसन्देह वह कुएं में उतारकर रस्सी काट देने के समान कार्य होता। अब उसे जाने दो। शाम्ब, प्रद्युम्न आदि और भी अनेक राजकुमार हैं। उनमें से जिसके साथ इच्छा हो, उसके साथ तुम्हारा ब्याह किया जा सकता है। हे सखी! संकल्प मात्र से तुम नेमि को दी गयी थी, परन्तु उसके स्वीकार न करने पर तुम अब भी कन्या ही हो!”

सखियों के यह वचन राजीमती को बहुत ही अप्रिय मालूम हुए। उसने क्रुद्ध होकर कहा—“तुम लोग कुलटा की भांति कुल को कलंकित करने वाली यह कैसी बातें कहती हो। नेमि तो तीनों लोक में उत्कृष्ट है। संसार में क्या कोई भी पुरुष उसकी बराबरी कर सकता है? और यदि कर भी सकता हो, तो उससे मुझे क्या प्रयोजन? क्योंकि कन्यादान एक ही बार किया जाता है। मैंने मन और वचन से नेमिकुमार को ही पति माना था और उसने भी गुरुजनों के अनुरोध से मुझे गृहिणी रूप में स्वीकार किया था, फिर भी यदि किसी कारणवश उसने मुझ से ब्याह न किया, तो अब मुझे अनर्थकारी भोगों की ही क्या आवश्यकता है? यदि विवाह में उसका हस्तस्पर्श मुझे नहीं हो सका, तो दीक्षा के समय उनका हस्त मेरे मस्तक पर अवश्य रहेगा।”

राजीमती के यह वचन सुनकर उसकी सब सखियाँ मौन हो गयी। तदनन्तर राजीमती नेमिकुमार के ध्यान में मग्न रहते हुए अपना समय व्यतीत करने लगी।

उधर नेमिकुमार निश्चित समय पर प्रतिदिन दान देते थे और राजा समुद्रविजय आदि स्वजनों को उनके दीक्षा विषयक निश्चय से घोर दुःख होता था, अतः वे बालक भांति रात दिन रोया करते थे। नेमिकुमार को लोगों के मुख से तथा अपने त्रिज्ञान द्वारा राजीमती की प्रतिज्ञा का हाल भी ज्ञात हुआ, किन्तु वे जरा भी विचलित न हुए। क्रमशः वार्षिक दान पूर्ण होने पर शक्रादि

देवेंद्रों ने और कृष्णादि राजाओं ने भगवान का दीक्षाभिषेक किया। दीक्षाभिषेक होने पर प्रभु उत्तर कुरु नामक रत्नशिविका पर आरूढ़ हुए, जिसे देवता तथा मनुष्यों ने उठाया। इसके बाद उनके आगे सौधमेन्द्र और ईशानेन्द्र ने दो चमर धारण किये। सनत्कुमार ने छत्र, माहेन्द्र ने खड्ग ब्रह्मेन्द्र ने दर्पण, लान्तकेन्द्र ने पूर्ण कुम्भ, महाशक्रेन्द्र ने स्वस्तिक, सहस्रारेन्द्र ने धनुष, प्राणतेन्द्र ने श्रीवत्स, अच्युतेन्द्र ने नन्दावर्त और शेष चमरेन्द्र आदि ने शस्त्र धारण किये।

इसके बाद माता पिता, गुरुजन और कृष्ण बलराम आदि भ्राताओं से घिरे हुए महामना भगवान राजमार्ग में चलने लगे। चलते चलते जब वे राजीमती के महल के निकट पहुँचे, तब उन पर राजीमती की दृष्टि जा पड़ी। उनको देखते ही उसके हृदय में फिर दुःख सागर उमड़ पड़ा, जिसके वेग को सम्हाल न सकने के कारण वह मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी।

इसके बाद भगवान रैवताचल के सहस्रात्र नामक वन में जा पहुँचे। यह आप्रवन रैवताचल का भूषण रूप था। इसकी शोभा नन्दनवन को भी मात करती थी। नवीन केतकी पुष्पों के कारण वह उस समय मानों हँस रहा था। जामुन के वृक्षों से पके हुए जामुन फल भूमि पर गिरने के कारण ऐसा प्रतीत होता था मानों चारों ओर की भूमि नीलरत्न द्वारा निर्माण की गयी है। कदम्ब पुष्पों की शैल्या में केकारव शयन करने से मधुकर मानों उन्मत्त हो रहे थे। कहीं मयूरों का केकारव और नृत्य मन को मुग्ध कर रहा था, तो कहीं कुटज पुष्प कामदेव के शस्त्रों से गिरी हुई चिनगारियों का दृश्य उपस्थित कर रहे थे। कहीं मालती और जुई के पुष्प अपनी सुगन्ध से वायु को सुगन्धित बना रहे थे तो कहीं वृक्षों की घोर घटा पथिकों को विश्राम करने का मानो निमन्त्रण दे रही थी। समुचे वन में चारों ओर प्रकृति की अनुपम छटा फैली हुई थी, जिसे देखकर वैरागी मनुष्य भी कुछ देर के लिए मुग्ध हो जाते थे।

इस रमणीय स्थान में पहुँचने पर प्रभु ने शिविका से उतरकर अपने शरीर से गहने कपड़े उतार डाले, जिन्हें इन्द्र ने उठाकर कृष्ण को दे दिये। जन्म से तीन सौ वर्ष होने पर श्रावण शुक्ला छठ के दिन सूर्योदय के बाद चित्रा नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग होने पर छट्ठ तप कर, भगवान ने पंच मुष्टि से लोच किया। लोच करने पर शक्रेन्द्र ने भगवान के केश ले लिये और उनके कंधे पर

देवदूष्य वस्त्र रखा। इसके बाद शक्र वह केश क्षीरसागर में डाल आये। वहां से वापस आने पर उन्होंने जब लोगों का कोलाहल शान्त किया, तब भगवान ने सर्वविरति सामायिक व्रत ग्रहण कर लिया। उस समय जगद्गुरु को चौथा मनः पर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ, और नारकी जीवों ने भी क्षणभर सुख अनुभव किया। नेमिकुमार के साथ और भी एक हजार राजाओं ने दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद इन्द्र तथा कृष्णादिक नेमिभगवान को वंदन कर अपने स्थान को वापस चले गये।

दूसरे दिन भगवान ने गोष्ठ में जाकर वरदत्त ब्राह्मण के यहां, परमात्र क्षीर द्वारा पारणा किया। उस समय गन्धोदक वृष्टि, दुंदुभी नाद, वस्त्रवृष्टि और धनवृष्टि ये दिव्य प्रकट कर देवता लोग वारंवार आकाश से अहोदानं! अहोदानं! कहने लगे! उसके बाद भगवान, जो संसार के बन्धन से निवृत्त हो चुके और घाति कर्म का क्षय करने में सचेष्ट होकर, अन्य स्थान में विहार कर गये।

उधर नेमिनाथ भगवान का छोटा भाई रथनेमि राजीमती को देखकर उस पर आशिक हो गया था। इसलिए वह उसे अपने हाथ में करने के लिए नित्य अच्छी चीजें उसके पास भेजने लगा। भोली भाली राजीमती उसके भाव को न समझकर वह सब चीजें स्वीकार करने लगी। उसने समझा कि अपने भाई के स्नेह के कारण ही यह मुझ से प्रेम करता है। उधर रथनेमि ने यह मान लिया कि, राजीमती अनुराग के ही कारण मेरी सब चीजें ग्रहण करती हैं। इसलिए वह नित्य राजीमती के घर आने जाने लगा और भौजाई के नाते उससे दिल्लगियां करने लगा।

एक दिन एकान्त पाकर उसने राजीमती से कहा—“हे मुग्धे! मेरी आन्तरिक इच्छा है कि तुम अपना यौवन वृथा न खोकर मुझसे विवाह कर लो। मेरा भाई सांसारिक सुखों का स्वाद न जानता था, इसलिए उसने तुमसे विवाह न किया परन्तु उसके पीछे अब तुम अपना जीवन व्यर्थ क्यों खो रही हो? हे सुन्दरी! उसने तो प्रार्थना करने पर भी तुम्हें ग्रहण न की किन्तु मैं तो अब उलटा तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि तुम सोच-विचार कर मेरी प्रार्थना अवश्य स्वीकार करोगी?”

रथनेमी के ये वचन सुनते ही राजमती को उसके पहले के व्यवहार की बातें याद आ गयी। उसके हृदय में तो नाम मात्र के लिए भी विकार न था, इसलिए उसने धर्मोपदेश द्वारा उसे समझाने की बहुत चेष्टा की, परन्तु इसका कोई फल न हुआ। रथनेमि बराबर उसके पास आकर उसे अपनी बात पर राजी करने की चेष्टा करता रहा।

राजीमती ने जब देखा कि उस पर कोई असर नहीं होता, तब उसने एक दूसरी ही युक्ति से उसे समझाने का विचार किया और एक दिन जब रथनेमि के आने का समय हुआ, तब उसने खुब पेट भरकर दूध पी लिया। इसके बाद ज्योंही रथनेमि आया, त्योंही उसने कय करानेवाला मदन फल सूंघ लिया। मदन फल सूंघते ही उसे कय होने लगी। यह देखकर उसने रथनेमि से कहा—“जल्दी एक सुवर्ण थाल ले आ!” रथनेमि उसी समय नौकर की भांति एक थाल उठा लाया, और उसी थाल में राजीमती ने वह सब दूध वमन कर दिया।

इसके बाद राजीमती ने रथनेमि से कहा—“हे रथनेमि! तू इसे पी जा।”

रथनेमि ने चिढ़कर कहा—“क्या मैं कुत्ता हूँ, जो तुम मुझ से वमन पान करने को कहती हो।”

राजीमती ने पूछा—“क्या तू इसे पीने योग्य नहीं समझता है?”

रथनेमि ने कहा—“मैं क्या, यह तो बालक भी बतला सकते हैं, कि यह पीने योग्य नहीं है।”

राजीमती ने कहा—“यदि तू यह जानता है, तो नेमिकुमार की वमन (त्याग) की हुई मुझको फिर क्यों भोगना चाहता है? तू नेमिकुमार का भाई है, इसलिए तुझे तो और भी ऐसे कार्य से दूर रहना चाहिए। जा, अब नरक में डालने वाला ऐसा प्रस्ताव स्वप्न में भी मेरे सामने मत करना।”

राजीमती के मुख से अपनी यह निन्दा सुनकर रथनेमि अत्यन्त लज्जित हुआ और वह मन ही मन पश्चात्ताप करता हुआ चुपचाप अपने घर चला गया। इधर राजीमती की लगन तो नेमि भगवान् से ही लगी हुई थी, इसलिए वह उन्हीं के ध्यान में पूर्ववत् अपने दिन व्यतीत करने लगी।

उधर व्रत के दिन से आरम्भ कर चौपन दिन तक विंहार कर नेमि भगवान पुनः रैवत गिरि के सहस्राभ्र वन में आ पहुँचे। वहां वेतसवृक्ष के नीचे अष्टम तप और ध्यान कर नेमि भगवान ने चार घातिकर्म का क्षय किया। उनके क्षय होने पर आश्विन मास की आमवस्या के दिन चित्रा नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग होने पर भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। फलतः सुरेन्द्रों के आसन चलायमान हुए और वे तुरन्त भगवान की सेवा में आकर उपस्थित हुए। उसी समय उन्होंने तीन गर्दों से युक्त समवसरण की रचना की।

समवसरण बन जाने पर नेमिनाथ भगवान ने पूर्वद्वार से उसमें प्रवेश कर, वहां अवस्थित एक सौ बीस धनुष ऊंचे चैत्य वृक्ष की प्रदक्षिणा कर 'तीर्थाय नमः' कहते हुए पूर्व सिंहासन पर पूर्वाभिमुख अवस्था में स्थान ग्रहण किया। शेष तीन दिशाओं के सिंहासनों पर देवताओं ने नेमिनाथ के तीन प्रतिरूप उत्पन्न कर उन्हें स्थापित कर दिया, जिससे ऐसा मालूम होने लगा, मानो चार दिशा के चारों सिंहासन पर प्रभु चार रूप धारण कर विराजमान हो गये हैं।

इसके बाद चारों प्रकार के देव देवियों ने स्वामी के मुख चन्द्र पर चकोर की भांति अपनी दृष्टि स्थापित कर यथास्थान आसन ग्रहण किया। इसी समय भगवान के समवसरण का हाल उद्यान रक्षकों ने कृष्ण को कह सुनाया। सुनकर कृष्ण को इतना आनन्द हुआ, कि उन्होंने संवाद लाने वाले को साढ़े बारह क्रोड़ रुपये इनाम दिये। इसके बाद वे हाथी पर सवार हो नेमिनाथ भगवान को वन्दना करने के लिए उस उद्यान की ओर चलने लगे। चलते समय दस दशार्ह, एक क्रोड़ राजकुमार, समस्त अन्तः पुर की रानियें और सोलह हजार राजा भी उनके साथ हो गये।

क्रमशः वे सब लोग समवसरण के पास जा पहुँचे। वहां पर समस्त राज चिह्नों का त्यागकर कृष्ण ने उत्तर द्वार से समवसरण के प्रकार में प्रवेश किया और तीन बार प्रभु को प्रदक्षिणा तथा वन्दन कर सौधमेंन्द्र के पीछे स्थान ग्रहण किया। उनके समस्त संगी भी इसी प्रकार प्रदक्षिणा और वन्दन कर यथोचित स्थान में बैठ गये। इसके बाद इन्द्र और कृष्ण पुनः प्रभु को वन्दन कर भक्तिपूर्वक स्तुति करने लगे। वे कहने लगे—“हे जगन्नाथ! समस्त जगत के

उपकारी, जन्म से ब्रह्मचारी, करुणा रूपी लता के लिए जलधर के समान तथा भव्य जीवों के रक्षक आप को नमस्कार है। प्रभो! आपने भाग्यवश चौवन दिन में ही शुक्ल ध्यान से घातिकर्मों को क्षय किया है। हे नाथ! आपने न केवल यदुकुल को ही विभूषित किया है, परन्तु अपने सूर्य समान केवलज्ञान से तीनों लोक को अलंकृत किया है। हे जिनेन्द्र! हे यदुकुल गगन दिवाकर! यह भवसागर अथाक होने पर भी आपके पाद प्रसाद से वह निःसंदेह गोष्पद मात्र प्रतीत होने लगता है। हे तीर्थनाथ! हे यदुवंशमण्डन! ललनाओं के लालित्व से सभी का चित्त विचलित हो उठता है, परन्तु यदि किसी का हृदय वज्र समान अभेद्य हो तो वह तीनों लोक में आप ही का है। हे स्वामिन्! आपको व्रत लेने से रोकने के लिए जो चेष्टा की थी, उसका इस समय आपकी यह सम्मति देखते हुए हमें अत्यन्त पश्चात्ताप हो रहा है। यह अच्छा ही हुआ कि आपके स्वजनों को आपके मार्ग में बाधक होने में सफलता न मिल सकी। अब जगत के पुण्य से उत्पन्न अखण्ड केवलज्ञान वाले हे प्रभो! संसार सागर के पतन से हमारी रक्षा कीजिए हम चाहे जहां हो, चाहे जो कार्य करते हो, पर आप हमारे हृदय में सदा विराजमान रहें। यही एकमात्र हमारी आन्तरिक अभिलाषा है। इसके सिवाय हमें और किसी वस्तु की जरूरत नहीं है।”

कृष्ण की यह स्तुति पूर्ण होने पर, भगवान ने सब लोगों को धर्मोपदेश देते हुए कहा—“हे भव्य प्राणियों! जीवों की समस्त सम्पदा विद्युत् से भी अधिक चपल है, संयोग स्वप्नों के समान हैं, यौवन वृक्षों की छाया के समान चंचल है, प्राणियों के शरीर भी जल बुंदवत् हैं, इसलिए इस असार संसार में सार रूप वस्तु कुछ भी नहीं है। केवल दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आचरण ही सार है। नवतत्त्वों पर श्रद्धा रखना सम्यग् दर्शन कहलाता है। भली भांति उन तत्त्वों का बोध होना ज्ञान कहलाता है। सावद्ययोग से विरमण और मोक्ष का कारण रूप चारित्र बतलाया गया है। यह चारित्र पालन साधुओं को सर्वथा और गृहस्थों को देश से होता है। जो देशचारित्र में व्यस्त रहता है, विरतियों की सेवा करता है और संसार के स्वरूप को जानता है, वह श्रावक कहलाता है। श्रावक के लिए मद्य, मांस, मक्खन, मधु, पांच प्रकार के गूलर, अनन्तकाय, अनजाने फल, रात्रि भोजन, कच्चे गोरस (दूध दही या मठा) में मिलाया हुआ द्विदल अन्न, वासी भात, दो दिन से अधिक समय का दही और

सड़ा गला अन्न वह पदार्थ निषिद्ध माने गये हैं। श्रावक को यत्नपूर्वक इतना त्याग करना चाहिए। जो दयावान श्रावक भोजन में भी इस विचार को स्थान देता है, वह धीरे-धीरे इस संसार सागर को पार कर जाता है।”

भगवान का यह उपदेश सुनकर राजा वरदत्त को परम वैराग्य आ गया और वह दीक्षा लेने के लिए उत्सुक हो उठा। इतने ही में कृष्ण ने प्रभु को प्रणाम करके पूछा—“हे प्रभो! यद्यपि आपको सभी लोग प्रेम करते हैं, तथापि राजीमती आप पर विशेष अनुराग रखती है, उसका क्या कारण है?” भगवान ने इस प्रश्न के उत्तर में धन और धनवती के जन्म से लेकर अपने आठ जन्मों का वृत्तान्त और उसके साथ का अपना सम्बन्ध भी सबको कह सुनाया।

इसके बाद वरदत्त राजा ने खड़े होकर हाथ जोड़कर प्रभु से प्रार्थना कि—“हे नाथ! जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र का जल उस सीप में गिरने से वह मुक्ताफल हो जाता है, उसी प्रकार आपसे प्राप्त श्रावकधर्म भी प्राणियों के लिए महा फलदायक होता है। मैंने आपको गुरु मान लिया है और आपके श्रीमुख से श्रावक धर्म के लक्षण सुनकर उसे ग्रहण कर लिया है, तथापि मुझे इतने ही से सन्तोष नहीं है। कल्पवृक्ष हाथ लगने पर केवल हाथ के ही पात्र में वस्तु लेकर भला कौन सन्तोष मान सकता है? इसलिए हे प्रभो! मैं आपका प्रथम शिष्य होना चाहता हूँ। आप मुझ पर दया कर संसार सागर से पार लगाने वाली दीक्षा मुझे दीजिए।”

राजा वरदत्त की यह अभिलाषा देखकर प्रभु ने उसे दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया। इसके बाद और भी दो हजार क्षत्रियों ने उनके निकट दीक्षाग्रहण की। धन के जन्म में धनदत्त और धनदेव नामक जो भाई थे और अपराजित के जन्म में विमलबोध नामक जो मन्त्री था, वे तीनों भगवान के साथ संसार में भ्रमण करते हुए इस जन्म में राजा हुए थे। वे तीनों इस समवसरण में आये थे। भगवान के मुख से राजीमती के पूर्व जन्मों का वृत्तान्त सुनते समय उनको जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ और वैराग्य आ जाने के कारण उन्होंने भी भगवान के निकट दीक्षा ले ली।

भगवान ने उन तीनों के साथ वरदत्तादिक ग्यारह (अटार) को गणधर

पद पर यथाविधि स्थापित किया। इसके बाद उन्होंने उनको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप त्रिपदी प्रदान की और त्रिपदी के अनुसार उन्होंने द्वादशाङ्गी की रचना की। इसके बाद अनेक कन्याओं के साथ यक्षिणी राजकन्या ने दीक्षा ली। उसे स्वामी ने प्रवर्तिनी के पद पर स्थापित किया। दस दशार्ह, बलराम, कृष्ण, राजा उग्रसेन, प्रद्युम्न तथा शाम्ब आदि ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। शिवादेवी, रोहिणी, देवकी, रुक्मिणी आदि रानियों तथा अन्यान्य स्त्रियों ने भी श्राविका धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार समवसरण में प्रभु का चतुर्विध संघ हुआ। दूसरे दिन सुबह प्रथम पोरुषी में प्रभु ने उपदेश दिया और द्वितीय पोरुषी में वरदत्त गणधर ने धर्मोपदेश दिया। इसके बाद शक्रादि देवता तथा कृष्णादिक राजा भगवान को प्रणाम कर अपने-अपने वासस्थान को चले गये।

तदनन्तर उसी तीर्थ में गोमेध नामक भगवान का एक शासनदेव उत्पन्न हुआ और अम्बिका नामक एक शासनदेवी उत्पन्न हुई। गोमेध के तीन मुख, वर्ण श्याम, पुरुष वाहन, दाहिनी ओर के तीन हाथों में बीजपूर (बीजौरा) परशु और चक्र नामक तीन आयुध तथा बायीं ओर के तीन हाथों में नकुल, त्रिशूल और शक्ति नामक आयुध थे। अम्बिका की कान्ति सुवर्ण समान, सिंहवाहन, दाहिनी ओर के दो हाथों में आम्र का गुच्छ, और पाश तथा बायीं ओर के दोनों हाथों में नरमुण्ड और अंकुश शोभित हो रहे थे। अम्बिका का दूसरा नामक कुष्माण्डी भी था।

इस प्रकार देव देवी से अधिष्ठित नेमिनाथ भगवान ने शेष चतुर्मास का समय (वर्षाकाल) उपवन में व्यतीत किया। इसके बाद वे अन्य देश की ओर विहार कर गये।



उन्नीसवाँ परिच्छेद द्रौपदी-हरण



इधर पञ्च पाण्डवों पर जब से कृष्ण की कृपा दृष्टि हुई, तबसे उनके समस्त दुःख दूर हो गये। अब वे आनन्द पूर्वक हस्तिनापुर में रहते हुए द्रौपदी के साथ भोग विलास करते थे। एक दिन कहीं से घुमते घामते नारदमुनि द्रौपदी के घर आ पहुँचे। द्रौपदी ने उनको अतिरिक्ति समझकर न तो उनको सम्मान ही दिया, न उनका आदर सत्कार ही किया। इससे नारदमुनि क्रुद्ध हो उठे और द्रौपदी को किसी विपत्ति में फँसाने का विचार करते हुए उसके महल से बाहर निकल गये।

नारद ने सोचा कि यदि किसी के द्वारा द्रौपदी का हरण करा दिया जाय तो मेरी मनोकामना सिद्ध हो सकती है। परन्तु पाण्डव कृष्ण के कृपापात्र थे, इसलिए नारद अच्छी तरह समझते थे कि उनके भय से भरतक्षेत्र में कोई द्रौपदी का हरण करने को तैयार न होगा। निदान, बहुत कुछ सोचने के बाद वे घातकी खण्ड के भरतक्षेत्र में गये। वहाँ पर अमरकंका नगरी में पद्मनाभ नामक राजा राज्य करता था, जो चम्पानगरी के स्वामी कपिल वासुदेव का सेवक था। नारद को देखते ही वह खड़ा हो गया और उनका आदर सत्कार कर उन्हें अपने अन्तःपुर में लेकर गया वहाँ अपनी रानियों को दिखाकर उसने नारद से पूछा—“हे नारद! क्या ऐसी सुन्दर स्त्रियाँ आपने और भी कहीं देखी हैं?”

नारदमुनि ने हँसकर कहा—“हे राजन्! कूप मण्डूक की भांति तुम इन स्त्रियों को देखकर व्यर्थ ही आनन्दित होते हो। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में

हस्तिनापुर नामक एक नगर है। वहां के पञ्च पाण्डवों की पटरानी द्रौपदी इतनी सुन्दर है, कि उसके सामने तुम्हारी यह सब रानियां दासी तुल्य प्रतीत होती हैं।”

इतना कह नारद तो अन्तर्धान हो गये, परन्तु पद्मनाभ के हृदय में इतने ही से उथलपुथल मच गयी। वह द्रौपदी को अपने अन्तःपुर में लाने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो उठा। परन्तु द्रौपदी को लाना कोई सहज काम न था। इसलिए वह अपने पूर्वपरिचित एक पातालवासी देव की आराधना करने लगा। आराधना से प्रसन्न हो, उस देव ने प्रकट होकर पूछा:—“हे पद्मनाभ! तुमने मुझे किसलिए याद किया है?”

पद्मनाभ ने कहा—“नारद मुनि ने जब से द्रौपदी के रूप की प्रशंसा की है तभी से मैं उस पर अनुरक्त हो रहा हूँ अतएव आप मुझ पर दयाकर, जैसा भी हो, उसे मेरे पास ला दीजिए।”

देव ने कहा—“द्रौपदी की गणना महासतियों में की जाती है। वह पाण्डवों के सिवा स्वप्न में भी अन्य पुरुष की इच्छा नहीं कर सकती। उसे बुलाना तुम्हारे हित में नहीं है। पद्मनाभ ने अति आग्रह किया तब देव ने कहा मैं उसे तुम्हारे पास लिये आता हूँ। परन्तु यह अकार्य तुम मेरे द्वारा करवा रहे हो अब भविष्य में मुझे याद मत करना।

इतना कह, वह देव हस्तिनापुर में गया और द्रौपदी को अवस्वापिनी निद्रा में डालकर, उसे वहां से पद्मनाभ के पास उठा लाया। सुबह जब द्रौपदी की निद्रा भंग हुई, तब वह अपने को एक अपरिचित स्थान में पाकर कहने लगी—“अहो! मैं कहां हूँ? यह तो मेरा वह महल नहीं है, जहां रात को मैं सोयी थी। यह स्वप्न है या इन्द्रजाल?”

पद्मनाभ द्रौपदी के पास ही था। उसकी व्याकुलता देखकर वह कहने लगा—“हे सुन्दरि! तुम्हें भयभीत होने की कोई जरूरत नहीं है। मैंने ही तुम्हें यहां उठवा मंगाया है। तुम मेरे अन्तःपुर में रहकर इच्छानुसार सुख भोग सकती हो। यह धातकीखंड की अमरकंका नगरी है। मैं यहां का राजा हूँ। मैं तुम्हें अपनी पटरानी बनाकर अपने पास रखना चाहता हूँ।”

पद्मनाभ के यह वचन सुनकर द्रौपदी चिन्ता में पड़ गयी। वह अपने

मन में विचारने लगी कि सतीत्व रक्षा के लिए अब किसी युक्ति से काम लेने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है यह सोचकर वह पद्मनाभ से कहने लगी कि—“यदि छह मास में मेरा कोई रिश्तेदार यहां न आयगा, तो मैं तुम्हारा प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लूंगी।”

पद्मनाभ की प्रकृति बहुत ही नीच थी। वह द्रौपदी की यह बात कदापि न मानता, परन्तु उसने सोचा कि जम्बुद्वीप के आदिमियों का यहां आना असम्भव है, इसलिए द्रौपदी की बात मान लेने में कोई हर्ज नहीं। उधर द्रौपदी ने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि समय बीत जाने पर भी यदि मेरे पति नहीं आयेगे तो मैं अन्न जल ग्रहण नहीं करूंगी।

उधर द्रौपदी को महल में न देखकर पाण्डवों को बड़ी चिन्ता हो पड़ी और वे चारों ओर उसकी खोज करने लगे उन्होंने दूर दूर तक के जल, स्थल, वन, पर्वत और गुफा आदि स्थान छान डाले, परन्तु कहीं भी उसका पता न चला अन्त में उसकी माता कुन्ती ने कृष्ण के पास आकर उनसे यह हाल कह सुनाया इस पर कृष्ण ने हँसकर कहा—“अहो! तुम्हारे पुत्र कैसे बलवान है, कि वे अपनी एक स्त्री की भी रक्षा नहीं कर सकते! खैर, अब आप चिन्ता छोड़ दीजिए और अपने घर जाइए, मैं शीघ्र ही द्रौपदी को खोजकर आपके पास पहुँचा दूँगा।”

कृष्ण के यह वचन सुनकर कुन्ती अपने घर लौट आयी। उनके चले जाने पर कृष्ण किंकर्तव्यविमूढ़ हो बैठे हुए थे, इतने ही में अपने लगाये हुए अनर्थ रूपी वृक्ष का फल देखने के लिए नारदमुनि वहां आ पहुँचे। कृष्ण ने उनका सत्कार कर पूछा—“हे मुनिराज! आजकल द्रौपदी का पता नहीं है। क्या आपने उसे कहीं देखा है?”

नारदमुनि ने हँसकर कहा—“मैं हाल ही मैं धातकी खंड की अमरकंका नामक नगरी में गया था। वहां पर राजा पद्मनाभ के महल में द्रौपदी के समान एक स्त्री मुझे दिखायी दी थी। इसके सिवाय इस सम्बन्ध में मैं और कुछ नहीं जानता।”

इतना कह नारदमुनि तो अन्तर्धान हो गये। किन्तु उनकी भाव भंगिमा देखकर कृष्ण अपने मन में कहने लगे कि हो न हो, यह कलह प्रेमी नारद का

ही काम मालूम होता है। इसलिए उन्होंने पाण्डवों को बुलाकर कहा—“हे बान्धव! द्रौपदी को पद्मनाभ हर ले गया है, परन्तु आप लोग जरा भी चिन्ता न करें। हम लोग शीघ्र ही उसे यहां ले आयेंगे।”

इसके बाद पाण्डवों सहित एक विशाल सेना को लेकर कृष्ण मगध नामक पूर्व समुद्र के तट पर गये। वहां पर समुद्र को, देखकर पाण्डवों ने कहा—“हे प्रभो! यह समुद्र भी संसार की भांति महाभीषण और अगाध मालूम होता है। यह इतना गहरा है, कि इसमें बड़े बड़े पर्वत भी डूब सकते हैं। कच्छ, मच्छ आदि इसमें कितने जलचर है, इसका कोई ठिकाना नहीं। ऐसी अवस्था में हम लोग इसे कैसे पार करेंगे?”

कृष्ण ने कहा—“आप लोग चिन्ता न कीजिए। हम लोग यहां तक आ पहुँचे हैं, तो अंब समुद्र पार करने का भी कोई न कोई उपाय निकल ही आयगा।”

इतना कह कृष्ण ने समुद्र के तट पर बैठ, निर्मल चित्त से अट्टम तप द्वारा सुस्थित देव की आराधना की। इस पर सुस्थित ने तुरन्त प्रकट होकर कृष्ण से कहा—“हे केशव! मैं इस समुद्र का अधिष्ठायक देवता हूँ। आपकी आराधना से आकर्षित होकर मैं यहां आया हूँ। मेरे योग्य जो कार्य हो, वह मुझे शीघ्र सूचित कीजिए!”

कृष्ण ने कहा—“अधम पद्मनाभ द्रौपदी को हरण कर ले गया है। इसलिए आप कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे धातकीखण्ड से उसे शीघ्रातिशीघ्र लाया जा सके।”

देव ने कहा—“आप कहें तो जिस प्रकार पद्मनाभ का परिचित देव उसको यहां से हरण कर ले गया है, उसी प्रकार मैं भी वहां से उसे आपके पास ला दूँ या आप कहें तो सैन्य और वाहन सहित पद्मनाभ को समुद्र में डालकर द्रौपदी को आपके पास ले लाऊँ।”

कृष्ण ने कहा—“हे देव! आप ऐसा न कर मेरे और पाण्डवों के छः रथों को निर्विघ्न रूप से समुद्र पार करने का मार्ग दीजिए, जिससे हम लोग स्वयं उसको जीतकर द्रौपदी को ले आये। यही मार्ग हमारे लिये उत्तम है।”

सुस्थितदेव ने ऐसी ही व्यवस्था कर दी, पाण्डवों सहित कृष्ण समुद्र पार कर पद्मनाभ की राजधानी अमरकंका नगरी में जा पहुँचे। वहाँ पर सब लोग नगर के बाहर एक उद्यान में ठहर गये। कृष्ण ने युद्ध घोषणा करने के पहले पद्मनाभ को एक दूत द्वारा सन्देश भेज देना उचित समझा। उन्होंने इस कार्य के लिए दारुक सारथी को उपयुक्त समझकर, उसे सब मामला समझाकर, एक पत्र देकर, पद्मनाभ के पास जाने का आदेश दिया।

सारथी दारुक विशालकाय तो था ही, इस समय ललाट पर त्रिवलि डाल लेने और भृकुटियों को वक्र बना लेने के कारण वह देखने में और भी भयंकर प्रतीत होने लगा। उसने यथासमय पद्मनाभ की सभा में उपस्थित हो कृष्ण का पत्र उसके हाथ में रक्खा। साथ ही उसने पद्मनाभ से कहा—“हे राजन्! यह तो आप जानते ही होंगे, कि कृष्ण के साथ पाण्डवों की अत्यन्त घनिष्ठता है। इसलिए किसी भी मामले में वे एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते। आप पाण्डवों की पटरानी द्रौपदी को जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र से हरण कर लाये हैं। उसी को पुनः प्राप्त करने के लिए कृष्ण पाण्डवों सहित, स्थल की भांति समुद्र को पार कर यहां आये हुए हैं। यदि आप अपना कल्याण चाहते हो, तो शीघ्र ही उस सती को उन्हें सौंप दीजिए अन्यथा मेरे स्वामी के इस पत्र को रण निमन्त्रण समझिए।”

दारुक के यह वचन सुनकर पद्मनाभ को बड़ा ही क्रोध आया, वह कहने लगा—“हे दारुक! तेरे कृष्ण भरत के वासुदेव हैं, न कि यहां के। मैं उनको अपने सामने कुछ भी नहीं समझता। मुझे रण निमन्त्रण स्वीकार है। तुम अपने स्वामी के पास जाकर युद्ध के लिए तैयार करो।”

यह उत्तर सुनकर दारुक कृष्ण के पास लौट आया और कृष्ण को सब हाल कह सुनाया उसके पीछे ही पद्मनाभ भी अपनी सेना के साथ वहां आ धमका। शत्रु सेना को अपनी ओर आते देखकर कृष्ण ने पाण्डवों से पूछा—“मालूम होता है कि पद्मनाभ युद्ध करने के लिए हम लोगों की ओर आ रहा है। मैं जानता चाहता हूँ कि आप लोग उससे युद्ध करेंगे या अपने-अपने रथ पर बैठकर मुझे युद्ध करते हुए देखेंगे?”

पाण्डवों ने कहा—“हे प्रभो! पद्मनाभ के साथ हम लोग स्वयं युद्ध करेंगे और देखेंगे कि पद्म राजा है या हम हैं?”

पाण्डवों के यह वचन सुनकर कृष्ण ने उनको युद्ध करने की अनुमति दे दी। शीघ्र ही दोनों ओर से घोर युद्ध आरम्भ हो गया। एक ओर पांचों पाण्डव थे और दूसरी ओर पद्मनाभ तथा उसकी विशाल सेना थी। पद्मनाभ ने आशातीत पराक्रम दिखाकर शीघ्र ही पाण्डवों के दांत खट्टे कर दिये। फलतः वे कृष्ण के पास आकर कहने लगे कि—“हे स्वामिन्! यह पद्मनाभ तो सोचने से भी अधिक बलवान निकला। इसकी सेना भी वैसी ही बलवान है, इसलिए युद्ध में इसे पराजित करना हमारे लिए बहुत ही कठिन है। किन्तु हमारी धारणा है कि आप इसे अनायास पराजित कर सकते हैं, इसलिए अब आपकी जो इच्छा हो, वह कीजिए।”

पाण्डवों की यह बातें सुनकर कृष्ण हँस पड़े। वे कहने लगे—हम लोग तो उसी समय पराजित हो गये थे, जिस समय आप लोगों ने यह कहा था कि पद्म राजा है या हम? तुम्हारे मन में सन्देह था, इसलिए तुम्हें पराजित होना पड़ा। मैं तो यही कहकर युद्ध करूंगा, कि राजा मैं ही हूँ, पद्म नहीं।

इसके बाद कृष्ण ने पद्मनाभ से युद्ध करने के लिए प्रस्थान किया। उसके सामने पहुँचते ही उन्होंने सर्वप्रथम मेघगर्जन की भाँति अपने पांचजन्य शंख का घोष किया। जिस प्रकार सिंहनाद सुनकर मृगादिक भाग खड़े होते हैं, उसी प्रकार उस शंख की भयानक ध्वनि सुनकर पद्म की सेना का तीसरा भाग रणभूमि से पलायन कर गया। इसके बाद कृष्ण ने अपने शारंग धनुष का टंकार किया, जिसे सुनकर फिर पद्म की उतनी ही सेना रण से भाग गयी। शेष जो सैनिक वहाँ रह गये, वे भी इतने डर गये, कि उनमें लड़ने का साहस ही न रह गया। अपने सैनिकों की यह अवस्था देखकर पद्म की भी हिंमत टूट गयी और वह भी भागकर अपनी नगरी में जा छिपा।

नगर में छिप जाने के बाद पद्मनाभ ने अन्दर से किले के दरवाजे मजबूती के साथ बन्द करवा दिये। यह देखकर कृष्ण को बड़ा ही क्रोध आ आया। उसी समय उन्होंने रथ से उतरकर वैक्रिय समुद्रघात से नरसिंह रूप धारण किया। इसके बाद यम की तरह मुख फैलाकर घोर गर्जना करते हुए उन्होंने इतने जोर से भूमि पर पदाघात किया, कि शत्रुओं के हृदय के साथ-साथ पृथ्वी भी हिल उठी, किले के कंगूरे गिर पड़े, देवालय धराशायी हो गये

और बड़े बड़े महल ताश के पत्तों की तरह ढह पड़े। नरसिंह के भय से नगर में चारों ओर हाहाकार मच गया, कोई गढ़ में छिप गया, कोई पानी में धुस गया और कोई मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। इसी तरह बार-बार पदाघात और गर्जना करने से ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो शीघ्र ही पृथ्वी उलट पुलट हो जायगी और मनुष्यों की कौन कहे, पशु पक्षी भी जीते न बचेगे।

राजा पद्मनाभ भी इस उत्पात से भयभीत हो उठा, और द्रौपदी के पास जाकर प्रार्थना करने लगा कि—“हे देवि! मेरा अपराध क्षमा करो और इस थम समान कृष्ण से किसी तरह मेरे प्राण बचाओ!”

द्रौपदी ने कहा—“हे पद्म! मैंने तुझे कहा था न कि मेरे पीछे कृष्ण जैसे महारथी हैं। तुम्हारी प्राण रक्षा का केवल एक ही उपाय है। वह यह कि, तुम मुझे आगे कर, स्त्री का वेश पहनकर कृष्ण की शरण में चलो और उनसे क्षमा प्रार्थना करो! इसके सिवाय तुम्हारी प्राण रक्षा का कोई दूसरा उपाय नहीं!”

मरता क्या न करता? पद्मनाभ को प्राण रक्षा के लिए अन्त में यही करना पड़ा। उसने द्रौपदी के साथ कृष्ण की सेवा में उपस्थित हो उनके पैरों में गिरकर क्षमाप्रार्थना की। कृष्ण ने द्रौपदी से इस महिला का परिचय पूछा तो उसने कहा—“राजन्। यही आपका अपराधी राजा पद्म है। अब यह आपकी शरण में आया है, इसलिए इसे जीवन दान दीजिए।”

पद्म का नाम सुनते ही कृष्ण को अत्यन्त क्रोध आ गया। उन्होंने पद्म से कहा—“हे नराधम! निःसन्देह तेरा अपराध अक्षम्य है। तेरे दुःसाहस के लिए मृत्युदण्ड ही उपयुक्त हो सकता है। परन्तु तू स्त्री का वेश पहनकर मेरी शरण में आया है और देवी द्रौपदी की इच्छा है कि तुझे जीवनदान दिया जाय, इसलिए मैं तुझे छोड़ देता हूँ। जा अब फिर कभी ऐसा दुष्कृत्य न करना!

कृष्ण का यह वचन सुनकर, पद्मनाभ को बड़ा ही आनन्द हुआ। वह बार-बार कृष्ण, द्रौपदी और पाण्डवों से क्षमा प्रार्थना कर सहर्ष अपने वासस्थान को चला गया। तदनन्तर कृष्ण और पाण्डव भी द्रौपदी को साथ लेकर उसी प्रकार जलमार्ग द्वारा भरतक्षेत्र के लिए प्रस्थान कर गये।

जिस समय अमरकंका नगरी में यह सब घटनाएं घटित हो रही थी, उसी समय चम्पानगरी के पूर्णभद्र नामक उद्यान में जिनेश्वर सुव्रत मुनि पधारो हुए थे, कृष्ण ने युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय पांचजन्य शंख का जो घोष किया था, वह वहां तक सुनायी दिया था। उस समय सुव्रत मुनि की पर्षदा में बैठे हुए कपिल वासुदेव ने उस शंखध्वनि को सुनकर भगवान से पूछा—“हे स्वामिन्! मेरे शंखनाद की भांति यह अत्यन्त चमत्कारी शंख नाद किसका है?”

सुव्रत मुनि ने कहा—“यह शंखध्वनि भरतार्थ के स्वामि कृष्ण वासुदेव की है।”

कपिल ने कहा—“हे भगवन्! क्या दो वासुदेव एक स्थान में एकत्र हो सकते हैं? मैं ने तो सुना है कि ऐसा कभी नहीं होता।”

इस प्रश्न के उत्तर में सुव्रत मुनि ने द्रौपदी आदि का वृत्तान्त कह सुनाया। इस पर कपिल ने पुनः प्रश्न किया कि—“हे नाथ! यहां आये हुए अपने सहधर्मी अतिथि का क्या मैं स्वागत सत्कार नहीं कर सकता?”

सुव्रत मुनि ने कहा—“यह एक साधारण नियम है कि एक स्थान में दो तीर्थंकर, दो चक्रवर्ती, दो वासुदेव, दो बलदेव या दो प्रतिवासुदेव कदापि एकत्र नहीं हो सकते। कृष्ण यहां कार्यवश आये हुए हैं। उनसे तुम्हारी भेट न हो सकेगी।”

यह जिन वचन सुनने पर भी कपिल अपनी उत्कण्ठा को न रोक सका। वह कृष्ण से भेंट करने के लिए रथ के चिन्हों को देखता हुआ समुद्र के तटपर जा पहुंचा। उस समय कृष्णादिक के रथ समुद्र में प्रवेश कर कुछ दूर निकल गये थे। इसलिए कपिल ने स्वर्ण रौप्य के पत्र समान उनके रथ की सफेद और पीली ध्वजा देख, अपने शंख से अक्षरयुक्त ध्वनि करके कहा—“मैं कपिल वासुदेव आप से भेट करने आया हूँ, इसलिए आप वापस लौटने की कृपा कीजिए।”

कृष्ण ने भी अक्षरयुक्त शंखध्वनि से इसका उत्तर देते हुए कहा—“हम लोग बहुत दूर निकल आये हैं, इसलिए अब लौटने में असमर्थ हैं।”

कृष्ण का यह उत्तर सुनकर कपिल निराश होकर अपने वासस्थान को लौट आया। वहां से वह शीघ्र ही अमरकंका नगरी को गया। वहां पर पद्मनाभ से पूछताछ कि तो उसने कहा—“हे प्रभो! आपके रहते हुए भी जम्बूद्वीप के कृष्ण ने मुझे पराजित कर दिया। ऐसे अवसर पर मुझे आपकी ओर से सहायता मिलनी चाहिए थी।”

कपिल ने कहा—“हे दुरात्मन्! तूने देवी श्रौपदी को यहां लाकर घोर अन्याय किया था। कृष्ण असाधारण बलवान हैं। वे तेरा यह अन्याय कैसे सहन कर सकते थे? मैं भी अन्यायी का पक्ष नहीं ग्रहण कर सकता!” कपिल की यह फटकार सुनकर पद्मनाभ का चेहरा उतर गया।

कपिल ने पुनः कहा—“कृष्ण ने तेरा अपराध क्षमा कर दिया है, परन्तु मैं तुझे क्षमा नहीं कर सकता। तूने इस कुकृत्य द्वारा राज सिंहासन को कलंकित कर दिया है, इसलिए मैं तुझे पदच्युत करता हूँ।”

इतना कह कपिल ने पद्मनाभ को सिंहासन से उतारकर उस पर उसके पुत्र को स्थापित कर दिया। अब पद्मनाभ अपनी करनी को कोसता हुआ इधर उधर भटकने लगा।

उधर कृष्ण ने पूर्ववत् समुद्र पार कर पाण्डवों से कहा—“आप लोग गंगा नदी पार कीजिए, तब तक मैं सुस्थितदेव से विदा लेकर आता हूँ।”

कृष्ण की यह आज्ञा पाकर पाण्डव लोग नौका द्वारा बासठ योजन लंबी चौड़ी गंगा नदी को पार कर गये। इसके बाद वे किनारे पर खड़े हो आपस में कहने लगे कि—“आज कृष्ण का बल देखना चाहिए। नौका को अब उस पार भेजने की जरूरत नहीं। हम लोग छिपकर देखेंगे, कि वे गंगानदी किस प्रकार पार करते हैं?”

इस प्रकार की बातें कर पाण्डवों ने कृष्ण के लिए नौका न भेजी। तदनन्तर से वहीं छिप गये और चुपचाप देखने लगे कि कृष्ण किस प्रकार इस पार आते हैं। कुछ ही देर में सुस्थित से विदा ग्रहण कर कृष्ण गंगा नदी के तटपर आये। वहां पर उतरने के लिए किसी नौका को न देखकर उन्होंने एक हाथ से अश्वसहित रथ उठा लिया और दूसरे हाथ से वे तैरते तैरते जब वे गंगा के मध्यभाग में पहुँचे, तब उन्हें कुछ थकावट मालूम हुई। इसलिए वे अपने

मन में कहने लगे—“अहो! पाण्डव कितने समर्थ है, जो बिना नौका के ही यह नदी पार कर गये। मैं तो बीच ही में थक गया।”

इधर गंगा ने जब देखा कि कृष्ण थक गये हैं, तब उसने थोड़ी देर के लिये अपना जल घटाकर उनके लिये मार्ग बना दिया। कृष्ण उसी मार्ग द्वारा आसानी से नदी के इस पार आ पहुँचे। वहां पूछताछ करने पर पाण्डवों ने उनसे बतलाया कि हम लोगों ने तो नौका द्वारा नदी पार की थी। इस पर कृष्ण ने पूछा—“वही नौका फिर मेरे लिये क्यों न भेज दी?”

पाण्डवों ने हँसकर कहा—“हम लोग आपका बल देखना चाहते थे, इसलिए हमने नौका न भेजी थी।”

यह सुनते ही कृष्ण ने कहा—“तुमने समुद्र पार करने में, अमर कंका में पद्म राजा को जीतने में बल नहीं देखा? जो अब बल देखने का कार्य किया। फिर क्रोधित होकर लौह दण्ड से उनके रथ तोड़ फोड़ दिये। जिस स्थान पर कृष्ण ने यह कार्य किया, उसी स्थान पर आगे चलकर रथमर्दन नामक नगर आबाद हुआ। इसके बाद पाण्डवों को देश से निर्वासित कर, कृष्ण अपनी सेना के साथ द्वारिका नगरी को लौट आये।

पाण्डवों ने अपने नगर में जाकर माता कुन्ती से यह सब हाल कह सुनाया। इस पर कुन्ती ने द्वारिका में आकर कृष्ण से कहा—“आपने मेरे पुत्रों को निर्वासन का जो दण्ड दिया है, उसके सम्बन्ध में मैं आपसे कुछ नहीं कहना चाहती, परन्तु मुझे यह तो बतलाइए कि वे अब कहां रहें? क्योंकि अर्धभरत में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जिस पर आपका अधिकार न हो।”

कृष्ण का क्रोध अभी शान्त न हुआ था, फिर भी कुन्ती के कारण पाण्डवों पर दया आ गयी। इसलिए उन्होंने कहा—“दक्षिण समुद्र के तट पर पाण्डु मथुरा नामक नयी नगरी बसाकर वे लोग वहां खुशी से रह सकते हैं।”

कृष्ण की यह आज्ञा कुन्ती ने पाण्डवों को कह सुनायी। तदनुसार पाण्डव शीघ्र ही दक्षिण समुद्र के तट पर चले गये और वहीं पर पाण्डु नगर बसाकर निवास करने लगे। इधर कृष्ण ने हस्तिनापुर में अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को गद्दि पर बैठा दिया।

इधर नेमिनाथ भगवान धराधाम को पावन करते हुए कुछ दिनों के बाद भद्रिलपुर नामक नगर में पधारे। वहां सुलसा और नाग के छः पुत्र थे। यह वही छः पुत्र थे, जो देवकी के उदर से उत्पन्न हुए थे और जिन्हें हरिणैगमेषी देव ने सुलसा को दिये थे। उनमें से प्रत्येक ने बत्तीस बत्तीस कन्याओं से विवाह किया था, किन्तु नेमिनाथ भगवान का उपदेश सुनकर उन्होंने दीक्षा ले ली थी वह सब चरम शरीरी द्वादशांगी को धारण करने वाले और परम तपस्वी थे। नेमिनाथ भगवान पर असीम श्रद्धा और भक्ति होने के कारण वे सदा उन्हीं के साथ विचरण किया करते थे।

कुछ दिनों के बाद नेमिजिन विहार करते हुए द्वारिका नगरी में आये। वहां उन्होंने पूर्ववत् सहस्राश्रमन में वास किया। देवकी के उन छः पुत्रों ने भी इसी समय छट्ट तप किया और वे पारणे के लिये दो-दो का संघाटक बनाकर द्वारिका नगरी में गये। इनमें से पहले अनिकयश और अनन्तसेन नामक दो जन देवकी के घर गये। उनका आकार प्रकार कृष्ण के समान देखकर देवकी को अत्यन्त आनन्द हुआ और उसने सिंहकेसरी मोदक वहोराया।

उनके चले जाने पर अजितसेन और निहथशत्रु नामक दो भाई देवकी के यहां आये। उनको भी देवकी ने आनन्दपूर्वक मोदक वहोराया। किन्तु उनके चले जाने पर उसी तरह देवयश और शत्रुसेन भी आ गये। उनका आकार प्रकार भी कृष्ण के ही सदृश था। इसलिए देवकी ने इस बार हाथ जोड़कर उनसे पूछा—“क्या आप लोग रास्ता भूलकर बार-बार यहां आते हैं या मैं ही आप लोगों को पहचानने में भूल करती हूँ? अथवा, ऐसी बात तो नहीं है कि इस स्वर्ग तुल्य नगरी में मुनियों को अन्नपानादि न मिलने के कारण उन्हें बार-बार मेरा ही दरवाजा खटखटाना पड़ता है?”

उन दोनों ने उत्तर दिया—“हम रास्ता भूलकर बार-बार यहां नहीं आये। इस नगरी में आहार पानी की भी कमी नहीं है, और लोग न ही भाव रहित है, परन्तु आपको ऐसा सन्देह होने का कारण हमारा रूप ही है यानि हम लोग समान आकृति के हैं। हम लोग छः भाई हैं। हमारे माता-पिता का नाम सुलसा और नाग है। वे भद्रिलपुर नामक नगर में रहते हैं। हम सब भाइयों ने नेमिप्रभु का उपदेश सुनकर दीक्षा ले ली है। इस समय के लिए दो-दो के

संघाटक में हम लोग यहां आ रहे हैं। पहले चार जन, जिन्हें आप आहार वहोराया हैं, वे हमारे भाई थे। हम लोग उनसे अलग हैं।

यह सुनकर देवकी ने उन दोनों को भी उसी तरह मोदक वहोराया। उनके चले जाने पर वह अपने मन में कहने लगी—“यह छः भाई रूप रंग में कृष्ण के ही समान क्यों प्रतीत होते हैं? सृष्टि के साधारण नियमानुसार तो एक तिल भी दूसरे तिल के समान नहीं होता। हां, अतिमुक्तक मुनि ने मुझे जीवित आठ पुत्रों की माता बतलाया था। क्या यह छः मेरे वह पुत्र तो न होंगे, जिन्हें मैं मरे हुए समझती हूँ?”

उस दिन देवकी इसी बात पर विचार करती रही, किन्तु कुछ निश्चय न कर सकी। दूसरे दिन इस शंका का निराकरण करने के लिए वह समवसरण में नेमिनाथ भगवान के पास गयी। भगवान ने उसका भाव जानकर कहा—“हे देवकी! यह छः तुम्हारे ही पुत्र हैं। हरिणगमेषी देव मे इन्हें जीवितावस्था में ही सुलसा को दे दिये थे।

आन्तरिक प्रेम के कारण देवकी के स्तनों से दुग्ध की धार पहले ही से स्रवित हो रही थी। अब भगवान का वचन सुनकर उसे पूर्णरूप से विश्वास हो गया कि वे सब उसी के पुत्र हैं। उसने उनको वन्दन करके कहा—“हे पुत्रों! यह मेरा परम सौभाग्य है, जो मैं तुम्हें देख सकी हूँ। मेरे पुत्र चाहे राजसिंहासन के अधिकारी हो, चाहे उन्होंने दीक्षा ले ली हे, मेरे लिये वह सब समान है। किन्तु दुःख का विषय यह है, कि तुममें से एक को भी मैं अपनी गोद में बैठाकर तुम्हारा दुलार नहीं कर सकी।”

इस पर भगवान ने कहा—“हे देवकी! इस बात के लिए तुझे वृथा खेद न करना चाहिए। यह तेरे पूर्व जन्म के कर्म का फल है, जो, इस जन्म में उदय हुआ है। पूर्व जन्म में तूने अपनी सपत्नी (सौत) के सात रत्न ले लिये थे। इससे वह बहुत रोने लगी तब तूने एक रत्न उसे वापस दे दिया था। यह उसी कर्म का फल है।”

भगवान के मुख से यह हाल सुनकर देवकी अपने पूर्व पाप की निन्दा करती हुई अपने वासस्थान को लौट आयी। किन्तु उसी समय से उसके हृदय में एक नयी अभिलाषा उत्पन्न हो गयी। वह चाहने लगी कि उसके एक और

पुत्र उत्पन्न हो, उसे रमा खिलाकर वह अपनी साध पूरी कर लें। इसी विचार से वह रातदिन चिन्तित रहने लगी। उसकी यह अवस्था देखकर एक दिन कृष्ण ने पूछा—“हे माता! कुछ दिनों से तुम उदास क्यों रहती हो?”

देवकी ने खिन्नता पूर्वक उत्तर दिया—“यह मेरा अहो भाग्य है, जो मेरे सभी पुत्र अब तक जीवित हैं, परन्तु मुझे इतने ही से सन्तोष नहीं हो सकता। तुम नन्द के गोकुल में बड़े हुए और तुम्हारे छः भाई सुलसा के यहां लालित पालित हुए हैं। मुझे तो कोदल की भांति अपने एक भी पुत्र का लालन पालन करने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ। मैंने अपने एक भी पुत्र को स्तन पान न कराया। हे कृष्ण! इसलिए मेरे हृदय में एक पुत्र की इच्छा उत्पन्न हुई है। मैं तो उन पशुओं को भी धन्य समझती हूँ, जो अपने बच्चों को खिलाते हैं। सात पुत्रों की माता होकर भी मैं मातृत्व के इस स्वर्गीय सुख से वंचित रह गयी।”

माता के यह वचन सुनकर कृष्ण ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—“हे माता! आप धैर्य धारण करें। मैं आपकी यह इच्छा अवश्य पूर्ण करूंगा।

इतना कह, कृष्ण माता के पास से चले आये। इसके बाद वे शीघ्र ही अष्टम तप द्वारा इन्द्र के सेनापति हरिणेगमेषी देव की आराधना करने लगे। इस पर हरिणेगमेषी ने प्रकट होकर कहा—“हे कृष्ण! आपकी इच्छानुसार आपकी माता के आठवां पुत्र अवश्य होगा, परन्तु पुण्यात्मा होने के कारण यौवन प्राप्त होते ही वह दीक्षा ले लेगा।”

कृष्ण ने इसमें कोई आपत्ति न की, इसलिए वह देव कृष्ण को वैसा वर देकर अन्तर्धान हो गया। इसके बाद शीघ्र ही देवलोक से एक महर्दिक देव च्युत होकर देवकी के उदर से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। देवकी ने उसका नाम गजसुकुमाल रक्खा। कृष्ण के समान उस देवकुमार बालक को देवकी ने खूब खिलाया और जी भर उसका दुलार प्यार किया। क्रमशः जब वह बालक बड़ा हुआ और उसने युवावस्था में पदार्पण किया, तब वसुदेव ने दुमराजा की प्रभावती नामक सुन्दर कन्या से उसका विवाह कर दिया दूसरी और कृष्णादिक भाईयों ने तथा माता देवकी ने सोमा नामक एक कन्या से विवाह करने के लिए उस पर जोर डाला, सोमा सोमशर्मा की पुत्री थी और एक क्षत्राणी के उदर से उत्पन्न हुई थी। इच्छा न होने पर भी माता और भाइयों की बात मानने

के लिए गजसुकुमाल को उससे भी ब्याह करना पड़ा।

उस ब्याह के कुछ ही दिन बाद सहस्राप्रव्रन में नेमिप्रभु का शुभागमन हुआ। उनके आगमन के समाचार सुन गजसुकुमाल भी स्त्रियों सहित उनकी सेवा में उपस्थित हो, बड़े प्रेम से उनका धर्मोपदेश सुनने लगा। धर्मोपदेश सुनकर उसे वैराग्य आ गया, फलतः बड़ी कठिनाई से माता पिता और भाईयों को समझाकर, उसने दोनों स्त्रियों सहित प्रभु के निकट दीक्षा ले ली। उसके इस कार्य से उसके माता पिता तथा कृष्णादिक भाइयों को बड़ा ही दुःख हुआ और वे उसके वियोग से व्याकुल हो विलाप करने लगे।

इसके बाद संध्या के समय भगवान की आज्ञा लेकर गजसुकुमाल श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग करने लगा। उस समय सोमशर्मा ने बाहर गांव से आते हुए उसे देख लिया। देखते ही उसके बदन में मानों आग लग गयी। वह क्रोध पूर्वक अपने मन में कहने लगा कि—“इस पाखण्डी दुराशय को यदि दीक्षा लेनी थी, तो इसने मेरी पुत्री से विवाह कर उसका जीवन क्यों नष्ट कर दिया?”

गजसुकुमाल और उसमें पूर्व जन्म का वैर था, इसलिए इसी तरह के अन्यान्य विचारों ने उसकी क्रोधाग्नि को और भी भड़का दिया। अन्त में क्रोधावेश के कारण, मुनि के मस्तक पर मिट्टी की पाल बांधकर चिता की अग्नि से मस्तक भर दिया। इससे गजसुकुमाल की खोपड़ी जल उठी परन्तु समाधि द्वारा उसने यह सब सहन कर लिया। इसके बाद कर्म रूपी इन्धन को भस्म कर, उसी रात्रि में केवलज्ञान की प्राप्ति कर वह मोक्ष का अधिकारी हो गया। उसने वह शरीर त्याग दिया।

उधर कृष्णादिक चिन्ता में पड़ गये। बड़ी कठिनाई से रात्रि व्यतीत की। किसी तरह सवेरा होते ही गजसुकुमाल को देखने के विचार से कृष्ण सपरिवार रथ में बैठकर भगवान को वन्दन करने के लिए समवसरण की ओर चलने लगे। नगर से बाहर निकलते ही उन्होंने एक वृद्ध ब्राह्मण को देखा, जो ईंटें उठा-उठाकर एक देवमन्दिर में लिये जा रहा था। कृष्ण को उस पर दया आ गयी, इसलिए उनके प्रति सहानुभूति दिखलाते हुए वे भी भट्टे से एक ईंट उठाकर उस देवमन्दिर में रख आये। कृष्ण के पीछे हजारों आदमियों का झुण्ड

था। वह सब लोग भी कृष्ण का अनुकरण कर एक ईंट देवमन्दिर में रख आये। फलतः सब ईंटें देखते ही देखते समाप्त हो गयी उस वृद्ध ब्राह्मण को उस प्रकार कृतार्थ कर कृष्ण नेमिभगवान के निकट जा पहुँचे।

वहां पर कृष्ण ने चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ायी, परन्तु गजसुकुमाल कहीं भी उन्हें दिखायी न दिया। उसे देखने के लिए ये पहले ही से उत्कण्ठित हो रहे थे, अब उनकी उत्कण्ठा और भी बढ़ गयी। उन्होंने नेमि प्रभु से पूछा—“हे भगवन्! मेरा भाई गजसुकुमाल कहाँ है?”

भगवान ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सोमशर्मा की भेंट से लेकर गजसुकुमाल के मोक्ष गमन तक का सारा हाल कृष्ण को कह सुनाया। उसे सुनकर कृष्ण मूर्च्छित हो गये। थोड़ी देर बाद जब उनकी मूर्च्छा दूर हुई, तब उन्होंने फिर पूछा—“हे प्रभो! मेरे भाई का वध करने वाला इस समय कहाँ है और इस कार्य के लिए कौनसा दण्ड देना उचित है?”

भगवान ने कहा—“हे कृष्ण। सोमशर्मा पर तुम्हें क्रोध न करना चाहिए। वह तो तुम्हारे भाई को तुरन्त मोक्ष दिलाने में सहायक हुआ है। जो सिद्धि दीर्घकाल में सिद्ध होने वाली होती है, वह भी किसी प्रकार की सहायता के योग से, तुरन्त सिद्ध हो जाती है। ठीक उसी तरह, जिस तरह वृद्ध ब्राह्मण की ईंट ला देने से, उसकी कार्यसिद्धि तुरन्त हो गयी। यदि सोमशर्मा तुम्हारे भाई के प्रति ऐसा व्यवहार न करता, तो उसे कालक्षेप बिना तुरन्त मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती? यहां से वापस लौटते समय, तुम्हें नगर में प्रवेश करते देख, अत्यन्त भय से व्याकुल हो वह अपने आप अपना प्राण त्याग देगा। अतएव तुम्हें उसको दण्ड देने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।”

इस पर कृष्ण ने पुनः पूछा—“हे प्रभो! मेरे भाई और सोमशर्मा की यह शत्रुता इसी जन्म की थी या पूर्वजन्म की?”

भगवान ने कहा—“हे कृष्ण! पूर्वजन्म में तुम्हारा भाई एक स्त्री था। उसकी सपत्नी एक दिन अपने छोटे पुत्र को उसके पास छोड़कर कार्यवश कहीं बाहर गयी। उसके जाने पर ईर्ष्यावश उस स्त्री ने तुरन्त चूल्हे से निकली हुई गरम रोटी उस बालक के शिर पर रख दी, जिससे उस कुसुम समाप्त कोमल बालक की मृत्यु हो गयी। घर आने पर उसकी माता ने जब यह हाल देखा, तो

उसे अत्यन्त दुःख हुआ। इसके बाद आयु पूर्ण होने पर उन दोनों स्त्रियों की मृत्यु हो गयी। मृत्यु के बाद, नरक, निगोद और तिर्यञ्च योनि में भ्रमण करने के बाद अकाम निर्जरा के योग से कितने ही कर्मों का क्षय करने के बाद उन दोनों को पुनः मनुष्य जन्म की प्राप्ति हुई। मनुष्य जन्म के बाद दोनों को पुण्ययोग से देवत्व प्राप्त हुआ और वहां से च्युत होने पर वह बालक इस जन्म में सोम शर्मा हुआ और स्त्री का जीव गजसुकुमाल हुआ। यहां भी पूर्वजन्म के वैर से गज सुकुमाल को देखते ही सोमशर्मा को क्रोध आ गया और उसने उस पर प्रहार किया, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। हे कृष्ण! सच बात तो यह है कि पूर्वजन्म के उपार्जित कर्म अन्यथा नहीं होते।”

इस प्रकार प्रभु के मुख से गजसुकुमाल के पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनने और भवस्वरूप को जानने पर भी महामोह के कारण कृष्ण का दुःख दूर न हुआ और उन्होंने रोते ही रोते उसके संस्कारादि किये। इसके बाद नगर में प्रवेश करते समय उन्होंने सोमशर्मा को मरा हुआ देखा। इससे उनका रोष कुछ कुछ शान्त हो गया। किन्तु उन्होंने उसके पैर में रस्सी बँधवाकर उसे समूचे नगर में घसीटवाया और उसके शव को नगर के बाहर फिकवा दिया, जहां चील और गृद्धों ने उसे अपना आहार बना डाला।

गजसुकुमाल के शोक से वसुदेव को छोड़कर शेष नव दर्शाहों ने भगवान के निकट दीक्षा ले ली। भगवान की माता शिवादेवी, सात भाई, कृष्ण के अनेक कुमार, राजीमती, एक नासापुट वाली नन्द कन्या तथा और भी अनेक यदु स्त्रियों ने श्रीनेमि के निकट दीक्षा ले ली। कृष्ण ने अपनी कन्याओं का विवाह न करने का अभिग्रह लिया, इसलिए उनकी समस्त कन्याओं ने भी दीक्षा ले ली। कनकवती, रोहिणी और देवकी को छोड़कर वसुदेव की समस्त स्त्रियों ने संयम ग्रहण किया। भवस्थिति का विचार करते हुए घर पर ही कनकवती के समस्त घाति कर्म क्षय हो गये और उसे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। भगवान को हाल मालूम होने पर उनके आदेशानुसार देवताओं ने उसका महोत्सव मनाया। इसके बाद दीक्षा ग्रहण कर वे प्रभु की सेवा में उपस्थित हुई और उनके दर्शनकर वन में जाकर तीस दिन तक अनशन किया, जिसके फल स्वरूप वह मोक्ष की अधिकारिणी हुई।

बलराम का पौत्र एवम् निषध का पुत्र सागरचन्द्र कुमार पहले ही से विरक्त था। इसलिए उसने इस समय अणुव्रत ग्रहण कर प्रतिमा धारण की और नगर के बाहर श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग ग्रहण किया। नभसेन उसके छिद्र देखने के लिए सदा ही उसके पीछे पड़ा रहता था। इसलिए उसने सागरचन्द्र के पास जाकर कहा—“अरे पाखण्डी! यह तू क्या कर रहा है। ले, अब, कमलामेला के हरण का फल भी चख ले!” इतना कह, दुष्टाशय नभसेन ने उसके शिर पर फूटा हुआ घड़ा रख, उसे चिता की अग्नि से भर दिया। सुबुद्धि सागरचन्द्र ने यह सब शान्तिपूर्वक सहन कर, पंच परमेष्ठी के स्मरण पूर्वक अपना शरीर त्यागकर देवलोक को गमन किया।

एकबार इन्द्र ने अपनी सभा में कहा—“भरतक्षेत्र में कृष्ण दोषों को त्यागकर सदा गुणकीर्तन ही करते हैं और युद्ध में भी न्याय तथा नीति से ही काम लेते हैं।” इन्द्र की इन बातों पर विश्वास न आने के कारण एक देव द्वारिका नगरी में आया। उस समय कृष्ण रथ पर बैठकर क्रीड़ा करने के लिए बाहर आ रहे थे। यह देख उस देव ने अपनी माया से मरा हुआ एक कुत्ता बनाकर उनके रास्ते में डाल दिया। उस कुत्ते का रंग काला था। मरने के बाद वह और भी बदसूरत हो गया था। उसके मुख से इतनी दुर्गन्ध निकल रही थी, कि जो लोग उधर से निकलते थे, वे नाक भौं चढ़ाये बिना न रहते थे। किन्तु कृष्ण का रथ जब उसके पास से निकला, तब उन्होंने उसको देखकर कहा—“अहो! इस काले कुत्ते के दांत कितने सुन्दर हैं। दूर से देखने पर ऐसा ज्ञात होता है, मानो मरकत रत्न के थाल में मोती सजाये हुए हैं।”

इसके बाद उस देव ने अश्व हरण करने वाले का वेश धारण कर कृष्ण का एक सुन्दर अश्व चुरा लिया। इस पर अनेक सैनिकों ने उसका पीछा किया, किन्तु उसने उन सबों को पराजित कर दिया। कृष्ण को यह हाल मालूम होने पर उन्होंने खुद उसका पीछा किया। उसके समीप पहुँचने पर उन्होंने उससे पूछा—“तुम मेरे अश्व को क्यों हरण किये जा रहे हो?”

देवने कहा—“मुझे इसकी आवश्यकता है, इसलिए मैं इसे हरण किये जा रहा हूँ। यदि तुम इसे छीनना चाहते हो, तो तुम्हें युद्ध करना होगा।”

कृष्ण ने कहा—“अच्छी बात है, मैं युद्ध के लिए तैयार हूँ, परन्तु मैं

रथ पर बैठा हूँ और तुम पैदल हो, इसलिए मेरी रथशाला से तुम पहले एक रथ ले आओ, तब मेरा और तुम्हारा युद्ध हो सकता है।”

देव ने कहा—“मुझे रथ और गजादिक की जरूरत नहीं है। न मुझे बाहु युद्ध आदि दूसरे युद्ध पसन्द हैं। मैं तो तुम्हारे साथ पीठ युद्ध कर सकता हूँ।”

देव का यह वचन सुनकर कृष्ण हँस पड़े। उन्होंने कहा—“भाई, तुम जीते और मैं हारा। तुम खुशी के साथ अश्व को ले जा सकते हो, क्योंकि सर्वस्व जाने पर भी मैं नीच युद्ध को पसन्द नहीं कर सकता।”

कृष्ण के यह वचन सुनकर वह देवता प्रसन्न हो उठा। उसने कृष्ण की इन्द्र से प्रशंसा का सब हाल निवेदन करते हुए कहा—“हे महाभाग! मैंने इन्द्र के मुख से आपकी जैसी प्रशंसा सुनी थी वैसे ही आप हैं। इसलिए मैं आप पर बहुत ही प्रसन्न हूँ, यदि आप मुझसे कोई वर मांगना चाहे तो, खुशी से मांग सकते हैं।

कृष्ण ने कहा—“मुझे किसी वस्तु की जरूरत नहीं है, परन्तु इस समय मेरी द्वारिका नगरी रोग से पीड़ित रहती है। यदि आप कुछ देना ही चाहते हैं, तो मुझे कोई ऐसी वस्तु दीजिए जिससे रोग का यह प्रकोप शान्त हो जाय।”

कृष्ण की यह याचना सुनकर उस देव ने कृष्ण को एक भेरी देते हुए कहा—“यदि आप इसे छः महीने के अन्तर से सारे नगर में बजवाते रहेंगे, तो जहां तक इसका शब्द पहुँचेगा, वहां तक के सब रोग नष्ट हो जायेंगे और छः महीने तक कोई नये रोग पैदा न होंगे। यह कहते हुए वह देव चला गया।

तदनन्तर कृष्ण ने शीघ्र ही नगर में वह भेरी बजवा दी, जिससे समस्त रोगों का प्रकोप शान्त हो गया। इसके बाद उन्होंने वह भेरी एक आदमी को सुपर्द कर दी और उसका गुण बतलाकर उसे सूचना दे दी, कि बड़े यत्न से सुरक्षित स्थान में रक्खे रहना।

कुछ दिनों के बाद इस मेरी की ख्याति सुनकर दूर देशान्तर से एक धनीमानी रोगी द्वारिका नगरी में आया। वह दाहज्वर से पीड़ित था। इसलिए उसने भेरी के रक्षक से कहा—“हे भद्र! मैंने सुना है कि इसके सेवन से मेरा

रोग आराम हो जायगा। इसलिए मैं आपसे याचना करता हूँ कि मुझसे लाख रुपये लेकर इस भेरी का एक छोटा सा टुकड़ा मुझे दे दो।”

लाख रुपये का नाम सुनकर भेरी रक्षक के मुंह में पानी भर आया। उसने भेरी का एक टुकड़ा, उसे देकर, उस जगह चन्दन की लकड़ी भर दी। इसके बाद उस भेरी रक्षक का यही व्यवसाय हो गया। उसने एक एक करके अनेक आदमियों के हाथ अत्यधिक मूल्य लेकर इसी तरह कई टुकड़े कर बेच दिये। इससे उस भेरी में अनेक छिद्र हो गये और उसमें चन्दन काष्ठ भरते भरते उसकी वास्तविक शक्ति भी नष्ट हो गयी।

कई दिनों के बाद एक बार फिर द्वारिका में रोग का प्रकोप हुआ। इसलिए कृष्ण ने भेरीरक्षक को बुलाकर उसे भेरी बजाने की आज्ञा दी, परन्तु उस भेरी का स्वर इतना क्षीण हो गया था, कि वह समीप के आदमियों को भी सुनायी न देता था। यह देख, कृष्ण ने इसका कारण जानने के लिए उस भेरी को अपने पास मंगवाकर देखा, तो उन्हें भेरी रक्षक की धूर्तता का हाल मालूम हुआ। इससे उन्हें उस पर बड़ा ही क्रोध आया और उन्होंने उसी समय उसे प्राणदण्ड दे दिया। इसके बाद उन्होंने अष्टम तप द्वारा उस देवता को पुनः प्रसन्न कर उससे दूसरी भेरी प्राप्त की और उसे नगर में बजवाकर जनता को रोग से छुटकारा दिलवाया।

इस दैवी भेरी के अतिरिक्त जनता की चिकित्सा के लिए कृष्ण ने धन्वन्तरि और वैतरणि नामक दो वैद्य भी नियुक्त कर दिये थे। इनमें से वैतरणि भव्य जीव था, इसलिए वह लोगों की चिकित्सा में सदा दत्तचित्त रहता था और किसी को औषधि देने में आलस्य न करता था, किन्तु धन्वन्तरि पाप सहित चिकित्सा करता था, फलतः लोग उससे सन्तुष्ट न रहते थे। वह अनेक बार मुनियों से भी छल पूर्वक कह दिया करता था, कि मैं साधुओं के योग्य कोई आयुर्वेद नहीं पढ़ा, इसलिए आप लोग अन्यत्र अपनी चिकित्सा करा सकते हैं।

एक बार कृष्ण ने नेमिभगवान से पूछा—“हे भगवन्! इन दोनों वैद्यों की कौनसी गति होगी?”

भगवान ने कहा—“धन्वन्तरि वैद्य सातवें नरक के अप्रतिष्ठान नामक

पाथड़े में जायगा और वैतरणि वैद्य विन्ध्याचल में वानर होगा। वहीं यौवन प्राप्त होने पर वह यूथ पति होगा। उसी वन में एक बार सार्थ के साथ अनेक साधु आयेंगे, उनमें से एकसाधु के पैर में कांटा लग जायगा। अन्यान्य साधुओं को अपनी प्रतिक्षा करते देख वह साधु उनसे कहेगा कि आप लोग मुझे यहीं छोड़ कर चले जाइए, वरना सार्थ से अलग होकर आप लोग संकट में पड़ जायेंगे।

साधु लोग उसका कांटा निकालने में अपने को असमर्थ पाकर अन्त में निराश हो जायेंगे और उसको उसी स्थान में छोड़कर सार्थ के साथ आगे निकल जायेंगे। उनके चले जाने पर यूथ पति वानर वहां आयगा। उसके संगी समस्त वानर उस मुनि को देखकर किलकारियाँ मारने लगेंगे, इससे वह यूथ पति रुष्ट होकर मुनि के पास आयगा, परन्तु उनको देखते ही वह अपने मन में कहने लगेगा कि शायद इस मनुष्य को मैंने पहले भी कहीं देखा है। इस प्रकार का चिन्तन करते करते उसे अपने वैद्य जीवन की याद आयगी और वह पर्वत से विशल्या तथा रोहिणी नामक औषधियों को लाकर विशल्या को अपने दांत से चबाकर उस साधु के पैर पर लगायगा, जिससे मुनि का पैर शल्य रहित बन जायगा। इसके बाद उस जखम को भरने के लिए वह उस स्थान में रोहिणी नामक औषधि लगायगा, जिससे मुनिराज पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जायेंगे।

इसके बाद वह वानर मुनिराज के सामने भूमि पर लिखकर उनसे कहेगा, कि मैं पूर्वजन्म में द्वारिका नगरी में वैतरणि नामक वैद्य था। यह सुनकर मुनिराज उसे धर्मोपदेश देंगे, जिससे उस वानर को ज्ञान उत्पन्न होगा और वह तीन दिन अनशन कर सहस्रार देवलोक में जायगा। उसी समय अवधिज्ञान से वह मुनिराज को देखकर उनसे कहेगा, कि—हे परोपकारी मुनीन्द्र! आपके प्रसाद से मुझे यह उत्तम देव समृद्धि प्राप्त हुई है।” इतना कह वह देव उन मुनिराज को लेकर आगे गये हुए साधुओं से मिला देगा। तदनन्तर मुनिराज अन्य साधुओं से उस वानर की कथा कहेंगे।”

नेमि भगवान के मुख से यह वृत्तान्त सुनने के बाद, कृष्ण उन्हें प्रणाम कर अपने वासस्थान को चले गये और भगवान वहां से विहार कर अन्यत्र के लिए प्रस्थान कर गये।

एक बार मेघ की भांति जगत को तृप्त करने वाले नेमिनाथ भगवान वर्षा ऋतु के पहले द्वारिका में पधारे। उस समय एक दिन कृष्ण ने उनकी सेवा करते हुए पूछा—“हे भगवन्! आप और अन्यान्य मुनि वर्षाकाल में विहार क्यों नहीं करते?”

प्रभु ने उत्तर दिया—“वर्षाकाल में पृथ्वी नाना प्रकार के जीवों से व्याप्त होती है, इसलिए जीवों को अभय देने वाले मुनि उस समय विचरण नहीं करते।”

कृष्ण ने कहा—“आपका कहना यथार्थ है। वर्षाकाल में बार-बार परिवार सहित आवागमन करने से मेरे द्वारा भी अनेक जीवों का नाश होता होगा, इसलिए अब मैं भी वर्षा के दिनों में बाहर नहीं निकलूंगा।

इस प्रकार अभिग्रह लेकर कृष्ण अपने वासस्थान को चले गये। उन्होंने वहां पहुंचते ही द्वारपालों को आज्ञा दे दी जब तक वर्षाकाल रहे, तब तक किसी को मेरे पास न आने दिया जाय।

परन्तु कृष्ण की यह आज्ञा उनके एक भक्त के लिए बहुत ही कष्टदायक हो पड़ी। बात यह थी, कि द्वारिका नगरी में वीर नामक एक बुनकर रहता था। वह कृष्ण का इतना भक्त था, कि उनके दर्शन किये बिना कदापि भोजन नहीं करता था। परन्तु जिस दिन से कृष्ण ने द्वारपालों को उपरोक्त आज्ञा दी, उस दिन से उसके आने जाने में भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। वीर उस दिन कृष्ण के द्वार पर आया और जब उसे अन्दर जाने की आज्ञा न मिली, तब वह वहीं बैठकर कृष्ण की पूजा करने लगा, परन्तु उनके दर्शन न मिलने के कारण उसने अन्न ग्रहण न किया। इसी तरह उसने वर्षाकाल के चार महीने बिता दिये। न कृष्ण घर से बाहर निकले, न उसने भोजन किया। वर्षाकाल पूर्ण होने पर कृष्ण अपने महल से बाहर निकले। उस समय अन्यान्य राजाओं के साथ वीर भी उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। उसे देखकर कृष्ण ने जब उसकी दुर्बलता का कारण पूछा, तब द्वारपालों ने उनको सब हाल कह सुनाया। कृष्ण उसे सुनकर अत्यन्त दुःखित हुए और उन्होंने उसे किसी भी समय अपने पास आने की आज्ञा दे दी। अपने ऊपर से यह प्रतिबन्ध हट जाने के कारण वीर को अत्यन्त आनन्द हुआ और वह दूने उत्साह से उनकी भक्ति करने लगा।

एकबार कृष्ण परिवार समेत, नेमिभगवान को वन्दना करने गये। उस समय भगवन्त के मुख से यतिधर्म सुनकर उन्होंने कहा—“हे भगवन्! मैं यतिधर्म पालन करने में असमर्थ हूँ, तथापि दूसरों को दीक्षा और उपदेश देने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। यदि कोई दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट करेगा, तो मैं उसमें बाधा न दूँगा और अपने पुत्र की भांति उसका दीक्षा महोत्सव करूँगा।”

प्रभु के निकट ऐसा अभिग्रह लेकर कृष्ण अपने राज भवन को लौट आये। इसके कुछ ही दिन बाद एक दिन कृष्ण की कई युवती कन्याएँ उनको प्रणाम करने के लिए उनके पास आयी। उन सबों की अवस्था विवाह करने योग्य हो चुकी थी। इसलिए कृष्ण ने उनसे पूछा—“तुम लोग रानी होना पसन्द करती हो या दासी होना? कन्याओं ने उत्तर दिया—“हमें रानी होना पसन्द है।” इस पर कृष्ण ने कहा—“तब तुम लोग नेमिप्रभु के पास जाकर दीक्षा ले लो। वैसा करने पर तुम्हें किसी का दासत्व न करना पड़ेगा और तुम लोग रानी की तरह स्वतन्त्रता पूर्वक अपने दिन बिता सकोगी।”

पिता के यह वचन सुनकर कृष्ण की कन्याएँ असमंजस में पड़ गयीं और अन्त में उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर सहर्ष दीक्षा ले ली।

एक दिन कृष्ण की एक रानी ने अपनी पुत्री केतुमंजरी से कहा—“बेटी! तुझसे जब तेरे पिता पूछें कि तुझे रानी होना पसन्द है या दासी होना, तब तू निःशंक होकर कह देना, कि मुझे दासी होना पसन्द है, रानी होना पसन्द नहीं।”

इस तरह पुत्री को सिखा पढ़ाकर माता ने उसे पिता के पास भेजा। वहाँ कृष्ण के पूछने पर उसने उनको वहीं उत्तर दिया जो उसे उसकी माता ने सिखाया था। उसे सुनकर कृष्ण विचार में पड़ गये। वे अपने मन में कहने लगे—“पुत्रियों का विवाह कर देने वे जन्म और मृत्यु के चक्कर में पड़ जायगी और कभी भी आत्मकल्याण कर न सकेगी। इसलिए यह कार्य तो सर्वथा अनुचित ही है। अब मुझे कोई ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे मेरी अन्य पुत्रियाँ माताओं की बात मानकर ऐसा उत्तर न दें।”

यह सोचकर कृष्ण ने वीर बुनकर को अपने पास बुलाकर उससे पूछा—“हे वीर! तूने अपने जीवन में कोई उत्तम कार्य किया है?” वीर ने

कहा—“मैंने अपने जीवन में कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जो उल्लेख करने योग्य हो। कृष्ण ने कहा कुछ तो किया ही होगा। अच्छी तरह सोचकर उतर दो।

वीर ने हँसकर कहा—“भगवन् ! मैंने एक बार एक बेर पर बैठे हुए कीड़े को पत्थर मारकर भूमि पर गिरा दिया था, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी थी। इसी तरह गाड़ी की लीक में बहते हुए पानी को एकबार मैंने बायें पैर से रोक दिया था, जिससे उसको अपना रास्ता बदल देना पड़ा था। एकबार एक घड़े में घुसी हुई मक्खियों को भी मैंने बहुत देर तक बन्द कर, रोक रक्खा था। हे भगवान् ! मैंने अपने जीवन में ऐसी ही बहादुरियों के काम किये हैं।”

इस पर कृष्ण ने हँसते हुए कहा—“भाई ! यह बातें भी कोई कम गौरव की नहीं हैं। कल तुम राजसभा में आना। वहाँ सबके सामने मैं तुम्हें सम्मानित करूंगा।”

कृष्ण के आदेशानुसार वीर दूसरे दिन, उनकी राजसभा में उपस्थित हुआ। कृष्ण ने सम्मान पूर्वक उसे अपने पास बैठाकर सभाजनों से कहा—“यह वीर यथा नाम तथा गुण है। इसकी वीरता के लिए इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही कम है। इसने एक बार बदरी वन में रक्त फन वाले भयंकर नाग को एक ढेले से मार डाला था। एक बार इसने चक्र से खुदी हुई कलुष जल वाली गंगा की धारा को बायें पैर से रोक दिया था। इसी तरह एकबार कलशीपुर में गर्जना करती हुई सेना को केवल एक हाथ से इसने दीर्घकाल तक रोक रक्खा था। ऐसे वीरतापूर्ण कार्य संसार में विरले ही मनुष्य कर सकते हैं। मैं इन सब कार्य के कारण वीर से अपनी एक पुत्री का विवाह कर उसे सम्मानित करना चाहता हूँ।”

कृष्ण के यह वचन सुनकर सब लोग वीर की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने लगे। इसके बाद कृष्ण ने वीर की इच्छा न होने पर भी उसके साथ केतु मंजरी का विवाह कर दिया। वीर भय से कांपता हुआ उस राजकन्या को अपने घर ले गया। वहाँ वह कन्या रातदिन पलंगपर सोया करती और कोई कार्य भी नहीं करती। बेचारा वीर पति होने पर भी उसका मोल लिया हुआ गुलाम बन गया और सब काम धन्धा छोड़कर अपना सारा समय उसी की सेवा में व्यतीत करने लगा।

कुछ दिनों के बाद एक दिन कृष्ण ने वीर को एकान्त में बुलाकर पूछा—“हे वीर! केतुमंजरी तुम्हारे आदेशानुसार तुम्हारी सेवा और गृहकार्य आदि करती है या नहीं?”

वीर ने हाथ जोड़कर कहा—“भगवान्! कहां वह राजकुमारी और कहां मैं? मैं तो आपकी तरह उसकी भी समस्त आज्ञाएं सेवक की भांति शिरोधार्य करता हूँ। हे प्रभो! उसके पीछे तो मेरा काम धंधा भी बन्द हो गया है!”

कृष्ण ने भौंरै चढ़ाकर कहा—“मैंने उसकी दासता करने के लिए तुम्हारे साथ उसका विवाह नहीं किया। उसे अब तुम राजकुमारी नहीं, किन्तु अपनी पत्नी समझो और पत्नी की ही तरह उससे सब काम लो। यदि वह सीधी तरह सब काम न करे तो तुम मार पीट भी कर सकते हो। यदि तुम ऐसा न करोगे, तो मैं तुम्हें कैदखाने में बन्द करवा दूंगा।”

बेचारा वीर अपने भाग्य को कोसता हुआ अपने घर लौट आया। कृष्ण की यह कृपा उसके लिए भार रूप हो पड़ी थी, परन्तु अब क्या, अब तो गले पड़ा ढोल बजाने में ही शोभा थी! इसलिए घर आते ही उसने केतुमंजरी को एक फटकार सुनाते हुए कहा—“तू निडली होकर क्या बैठी रहती है? कपड़ों के लिए जल्दी माड़ बना ला!”

केतुमंजरी तो उसका यह रोब देखकर सन्नाटे में आ गयी। उसने कहा—“तू क्या जानता नहीं है, कि मैं कौन हूँ? मुझ पर हुकम चलाने के पहले आइने में अपना मुँह तो देख आ!”

कृष्ण ने तो वीर से मारपीट करने को भी कह दिया था, इसलिए केतुमंजरी के यह वचन सुनते ही, उसने एक रस्सी से उसको अच्छी तरह पीट दिया। इसे केतुमंजरी को बड़ा ही दुःख हुआ और उसने रोते-कल्पते अपने पिता के निकट जाकर इसकी शिकायत की। इस पर पिता ने कहा—“बेटी! मैं क्या करूँ? तूने तो स्वयं कहा था, कि मुझे दासी होना पसन्द है, रानी होना नहीं।”

केतुमंजरी ने कहा—“पिताजी! मेरा अपराध क्षमा कीजिए। मैं अब

रानी होना पसन्द करती हूँ, मुझे यह दासता नहीं चाहिए।”

कृष्ण ने कहा—“बेटी! अब मैं क्या कर सकता हूँ? तुम तो अब वीर के अधिकार में हो।”

केतुमति ने कहा—“पिताजी! आप सब कुछ कर सकते हैं। जैसे भी हो मुझे इस दुःख से छुड़ाइए!”

केतुमंजरी की यह प्रार्थना सुनकर कृष्ण को उस पर दया आ गयी। इसलिए उन्होंने वीर को समझाकर, उसे नेमिभगवान के निकट दीक्षा दिलवा दी।

एकबार कृष्ण अपने परिवार के साथ समस्त मुनियों को द्वादशावर्तवन्दना करने लगे। उस समय समस्त राजा थककर बीच ही में बैठ गये, परन्तु कृष्ण की भक्ति और कृपा के कारण वीर को थकावट न मालूम हुई और उसने भी कृष्ण की भांति द्वादशावर्त वन्दना में सफलता प्राप्त की। वन्दना पूरी होने पर कृष्ण ने भगवान से कहा—“भगवान्! तीन सौ साठ संग्राम करने पर मुझे जितनी थकावट न मालूम हुई थी, उतनी यह वन्दना करने पर मालूम होती है!”

कृष्ण का यह वचन सुनकर भगवान ने कहा—“तुमने आज बहुत पुण्य प्राप्त किया है और क्षायिक सम्यक्त्व तथा तीर्थकर नामकर्म भी उपार्जन किया है। अब तक तुम्हारी आयु सातवें नरक के योग्य थी, परन्तु आज से वह घटकर तीसरे नरक के योग्य हो गयी है। इसी पुण्य के प्रभाव से तुम अन्त में तीर्थकर नामकर्म निकाचित भी कर सकोगे।”

कृष्ण ने आनन्दित होकर कहा—“हे नाथ! यदि ऐसी ही बात है, तो एकबार मैं पुनः वन्दना करूंगा, जिससे मेरी नरकायु समूल नष्ट हो जाय।”

भगवान ने कहा—“अब तो तुम्हारी यह वन्दना द्रव्य वन्दना हो जायगी और फल तो भाव वन्दना से ही प्राप्त होता है।”

यह सुनकर कृष्ण ने वैसा करने का विचार छोड़ दिया। इसके बाद उन्होंने वीर की वन्दना का फल पूछा। इस पर भगवान ने कहा—“उसे

केवल कायक्लेश का फल हुआ है, क्योंकि उसने तो तुम्हारा ही अनुकरण किया है।”

इसके बाद कृष्णराज भगवान को प्रणाम कर, इन्हीं सब बातों पर विचार करते हुए अपने राज मन्दिर में लौट आये।

एक बार नेमिनाथ भगवान ने श्रोताओं को धर्मोपदेश देते हुए अष्टमी और चतुर्दशी आदि पर्व दिनों का महात्म्य वर्णन किया। उसे सुन, कृष्ण ने हाथ जोड़कर प्रभु से पूछा—“हे स्वामिन्! राज काज में व्यस्त रहने के कारण मैं समस्त पर्व दिनों की आराधना नहीं कर सकता, इसलिए मुझे एक ऐसा दिन बतलाइए, जो वर्ष भर में सर्वोत्तम हो!”

भगवान ने कहा—“ऐसा दिन तो मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी का है। उस दिन तीर्थकरों, के डेढ़ सौ कल्याणक हुए हैं। पूर्व काल में भी सुव्रत श्रेष्ठी आदि ने इसकी आराधना की है।”

कृष्ण ने पूछा:—“हे जिनेन्द्र! सुव्रत श्रेष्ठी कौन था?”

भगवान ने इस प्रश्न के उत्तर में सुव्रत श्रेष्ठी का समस्त वृत्तान्त कृष्ण को कह सुनाया, जिसे सुनकर उन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ। इसके बाद कृष्ण ने एकादशी के तप की विधि पूछी, जिसके उत्तर में भगवान ने मौन सहित गुणगादि विधि का वर्णन कह सुनाया। सुनकर कृष्ण को परम सन्तोष हुआ और उस समय से वे प्रतिवर्ष अपनी प्रजा के साथ मौन एकादशी के महापर्व की आराधना करने लगे।”

कृष्ण की एक रानी का नाम ढंढण था, जिसके उदर से ढंढण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। युवावस्था प्राप्त होने पर ढंढण ने अनेक राजकुमारियों के साथ विवाह किया। एक बार भगवान का धर्मोपदेश सुनकर उसे वैराग्य आ गया। इससे कृष्ण ने उसका दीक्षा महोत्सव कर, उसे दीक्षा दिला दी। उस दिन से ढंढण नेमिप्रभु के साथ विचरण करने लगा और अपनी धर्मनिष्ठा के कारण वह अनेक साधुओं का प्रियपात्र हो पड़ा।

इतने में उसका अन्तराय कर्म उदय हुआ, इसलिए वह जहां जहां गया, वहीं उसे आहार पानी की कुछ भी सामग्री प्राप्त न हो सकी। उसके साथ जितने गये, उन सबों को भी इसी तरह निराश होना पड़ा। यह देखकर उन मुनियों ने

नेमिभगवान से पूछा—“हे स्वामिन्! इस नगरी में धनीमानी सेठ शाहूकार और धार्मिक तथा उदार पुरुषों की कमी नहीं है। फिर भी यहां पर ढंढण मुनि को भिक्षा नहीं मिलती, इसका क्या कारण है?”

प्रभु ने कहा—“एक समय मगध देश के धान्यपूरक नामक ग्राम में पराशर नामक एक ब्राह्मण रहता था, वह राजा का प्रधान कर्मचारी था। इसलिए उसने एकदिन ग्राम्य जनों को बेगार में पकड़कर उनसे सरकारी खेत जुतवाये। दोपहार में जब भोजन का समय हुआ, तब उस किसानों के घर से उनके लिए भोजन आया, परन्तु पराशर ने उनमें से किसी को छुट्टी न दी। उसने क्षुधित और तृषित अवस्था में ही उन किसान और बैलों से खेतों में एक एक फेरा और लगवाया। इससे उसने अन्तराय कर्म उपार्जन किया। मृत्यु के बाद अनेक योनियों में भटककर वही पराशर ढंढण हुआ है। इस समय उसका वही कर्म उदय हुआ है, जिससे उसे भिक्षा नहीं मिल रही है।”

भगवान के यह वचन सुनकर ढंढण मुनि को संवेग उत्पन्न हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि आज से मैं परलब्धि द्वारा प्राप्त आहार ग्रहण न करूंगा। इसके बाद उन्होंने अन्य लब्धि से आहार न ग्रहण करते हुए कुछ दिन इसी तरह व्यतीत किये।

एक दिन सभा में बैठे हुए कृष्ण ने भगवान से पूछा—“हे भगवन्! इन मुनियों में ऐसा मुनि कौन है, जो दुष्कर तप कर रहा हो?”

भगवान ने कहा—“यद्यपि यह सभी मुनि दुष्कर तप करने वाले हैं, किन्तु असह्य परिषद को सहन करने वाले ढंढण इन सबों में श्रेष्ठ हैं।”

इसके बाद भगवान को प्रणाम कर कृष्ण आनन्दपूर्वक द्वारिका नगरी में प्रवेश करने लगे। मार्ग में उनकी दृष्टि ढंढणमुनि पर जा पड़ी, जो उस समय गोचरी के निमित्त नगर में भ्रमण कर रहे थे। कृष्ण ने हाथी से उतरकर अत्यन्त सम्मानपूर्वक उनको प्रणाम किया। उनका यह कार्य देखकर एक श्रेष्ठी अपने मन में कहने लगा कि—“यह कोई अवश्य ही महान मुनि हैं, तभी तो कृष्ण इनको वन्दन कर रहे हैं।”

इसके बाद गोचरी के निमित्त भ्रमण करते हुए ढंढणमुनि भी उसी सेठ के

घर जा पहुँचे। सेठ ने उनका अत्यन्त सत्कार कर भक्तिपूर्वक उनको लड्डु प्रदान किये। ढंढण लड्डु लेकर भगवान के पास आये और उनसे कहने लगे कि—
“हे स्वामिन्! मालूम होता है कि मेरा अन्तराय कर्म क्षीण हो गया है, क्योंकि आज मुझे अपनी लब्धि से आहार प्राप्त हुआ है।”

भगवान ने कहा—“तुम्हारा अन्तराय कर्म क्षीण नहीं हुआ है। यह तो कृष्ण की लब्धि है। तुमको कृष्ण ने वन्दन किया था, इसलिए भद्रक भावी श्रेष्ठी ने तुमको आहार दिया है।”

यह सुनकर रागादि रहित ढंढणमुनि ने उन लड्डुओं को परलब्धि मानकर उनके परहने गये, वहाँ वे अपने मन में कहने लगे—“अहो! जीवों के पूर्वापार्जित कर्म दुरन्त होते हैं। इसी समय स्थिर ध्यान करते और भव का स्वरूप सोचते ढंढणमुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। फलतः देवताओं ने उनकी पूजा की और उन्होंने केवली की सभा में स्थान ग्रहण किया।

एक बार नेमि प्रभु ग्राम, और नगरादिक में विहार करते हुए नापादुर्ग नामक नगर में जा पहुँचे। वहाँ भीम नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम सरस्वती था, जो राजगृह के राजा जितशत्रु की पुत्री थी। सरस्वती जन्म से ही परम मूर्ख थी। इसलिए उसके पति ने भगवान को वन्दन करने के बाद उनसे प्रश्न किया कि—“भगवान्! मेरी यह रानी इतनी मूर्खणी क्यों है।” इस पर भगवान ने कहा—“हे राजन्! पूर्वजन्म में पद्मराज के पद्म और चन्दना नामक दो रानियां थी। राजा ने एकदिन पद्मा से एक गाथा का अर्थ पूछा जिसे पद्मा ने सहर्ष बतला दिया। उस पर पति का अनुराग देखकर चन्दना के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और उसने उस पुस्तक को ही जला दिया। इस जन्म में वही चन्दना तुम्हारी रानी हुई है और अपने उपरोक्त कर्म के कारण मूर्ख हुई है।”

यह सुनकर सरस्वती ने कहा—“हे भगवन् ! मेरा ज्ञानान्तराय कर्म कैसे क्षीण हो सकेगा ?

भगवान ने कहा—“ज्ञानपञ्चमी की आराधना करने से।

तदन्तर भगवन्त के आदेशानुसार सरस्वती ने शीघ्र ही ज्ञानपञ्चमी की

आराधना की, जिससे उसका ज्ञानान्तराय कर्म क्षीण हो गया।

इसके बाद वहां से विचरण करते हुए भगवान पुनः द्वारिका में आये। इसी समय वहां एक बार अचानक वृष्टि हुई वृष्टि के पहिले रथनेमि गोचरी के लिए भ्रमण करने निकला था। वहां से लौटते समय वह भीग गया और वर्षा से बचने के लिए एक गुफा में जा छिपा। इसी समय साध्वी राजीमती भी भगवान को वन्दन कर वासस्थान की ओर लौट रही थी। उसके साथ की अन्यान्य साध्वियां वृष्टि के भय से इधर उधर हो गयी, किन्तु राजीमती धैर्यपूर्वक एक स्थान में खड़ी हो गयी। वह उस स्थान में बहुत देर तक खड़ी रही। उसके सब वस्त्र भीग गये और शरीर शीत के कारण थर थर कांपने लगा, किन्तु फिर भी जब वर्षा बन्द न हुई, तब आश्रय ग्रहण करने के लिए अनजान में वह भी उसी गुफा में चली गयी, जिसमें रथनेमि पहले से ही रहा हुआ था। वहां अन्धकार में वह रथनेमि को न देख सकी। उसने अपने भीगे हुए वस्त्रों को खोलकर उन्हें सुखाने के लिए उसी गुफा में फैला दिये। उसको वस्त्र रहित देखकर रथनेमि के हृदय में दुर्वासना का उदय हुआ। उसने काम पीड़ित हो राजीमती से कहा—“हे सुन्दरी! मैंने पहले भी तुम से प्रार्थना की थी, और अब फिर कर रहा हूँ। आओ, हम लोग एक दूसरे को गले लगायें। विधाता ने मानो हमारे मिलन के लिए ही हम दोनों को इस एकान्त स्थान में एकत्र कर दिया है।”

राजीमती आवाज से ही रथनेमि को पहचान गयी। उसने तुरन्त अपने कपड़े उठाकर अपना शरीर ढक लिया। तदनन्तर उसने रथनेमि से कहा—“हे रथनेमि! कुलीन पुरुष को ऐसी बातें शोभा नहीं देती।” तुम सर्वज्ञ भगवन्त के लघु भ्राता और शिष्य हो। फिर ऐसी कुबुद्धि तुम्हें क्यों सूझ रही है? मैं भी सर्वज्ञ की शिष्या हूँ, इसलिए स्वप्न में भी तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण नहीं कर सकती। साधु पुरुष को तो ऐसी इच्छा भी न करनी चाहिए, क्योंकि वह नरक में डालने वाली हैं। शास्त्र का कथन है कि चैत्य द्रव्य का नाश करने, साध्वी का सतीत्व नष्ट करने, मुनि का घात करने और जिन शासन की उपेक्षा करने से प्राणी सम्यक्त्वरूपी वृक्ष के मूल में अग्नि डालता है। अगन्धक कुल में उत्पन्न सर्प, जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर सकते हैं, किन्तु खुद वमन

किया हुआ विष कदापि पान नहीं करते। परन्तु हे नराधम! तुझे धिक्कार है कि तू अपनी दुवारसना को तृप्त करने के लिए परस्त्री की कामना करता है। ऐसे जीवन से तो तेरे लिये मृत्यु ही श्रेयष्कर है। मैं राजा उग्रसेन की पुत्री और तू राजा समुद्रविजय का पुत्र है। हमें अगन्धन कुल के नाग की भांति वमन किया हुआ विष भोग न करना चाहिए। हे पापमर! यदि तू अपना कल्याण चाहता है, तो निर्मल चरित्र का आचरण कर, सदाचारी बन! कामदेव से पीड़ित होकर यदि तू स्त्री की इच्छा करेगा, तो वायु द्वारा प्रेरित वृक्ष की भांति तू अस्थिर बन जायगा तू कहीं का न रह जायगा।”

राजीमती का निन्दा पूर्ण यह उपदेश सुनकर रथनेमि सम्हल गया और बार-बार पश्चात्ताप करने लगा। इसके बाद वह भोगेच्छा त्यागकर भगवंत के पास आलोचना लेकर निरतिचार चारित्र्य पालन करने लगा, और अन्त में उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

इसके बाद नेमिनाथ भगवान विचरण कर पुनः एक बार गिरनार पर्वत के सहस्रान्न वन में पधारें। उस समय कृष्ण ने पालक और शाम्ब आदिक पुत्रों से कहा—“सुबह जो सबसे पहले भगवान की वन्दना करेगा, उसे मैं मन पसन्द एक घोड़ा इनाम दूंगा।”

यह सुनकर सुबह शैय्या से उठते ही शाम्ब अपने घर में बैठे ही बैठे अत्यन्त भावपूर्वक भगवान की वन्दना करने लगा। दूसरी ओर पालक बड़ी रात रहते ही शैय्या त्याग, एक तेज घोड़े पर सवार हो, भगवान के समवसरण में गया और वहां असभ्यता पूर्वक बड़ बड़ाते हुए उसने भगवान का द्रव्य वन्दना की। इसके बाद उसने कृष्ण के पास आकर कहा—“पिताजी! मैंने सबसे पहले भगवान की वन्दना की है, इसलिए मुझे दर्पक अश्व इनाम दीजिए।”

कृष्ण ने कहा—“अच्छा, मैं भगवान से पुछूंगा, यदि वे कहेंगे कि तुमने ही सबसे पहले वन्दना की है, तो मैं तुम्हें दर्पक अश्व जरूर दूंगा।”

इसके बाद कृष्ण ने प्रभु के पास जाकर पूछा—“भगवान्! आज सबसे पहले आपको किसने वन्दन किया था?”

प्रभु ने कहा—“पालक ने द्रव्य द्वारा और शाम्ब ने भाव द्वारा मुझे सर्व प्रथम वन्दन किया था।”

कृष्ण ने कहा—“भगवन् ! मैं आपकी बात अच्छी तरह समझ नहीं सका, इसलिए जरा समझा कर कहिए।”

यह सुनकर प्रभु ने कृष्ण को सारी बातें ठीक तरह समझा दी। साथ ही उन्होंने कहा—“द्रव्य पूजा की अपेक्षा भाव पूजा का माहात्म्य अधिक है। इसके अतिरिक्त मैं यह भी कहता हूँ कि पालक अभव्य है और शाम्बवती का पुत्र शाम्ब भव्य धर्मात्मा है।”

इस पर कृष्ण ने पालक को देश से निकल दिया और शाम्ब को मन पसन्द एक घोड़ा इनाम देकर उसे महामण्डलीक राजा बना दिया।



बीसवाँ परिच्छेद द्वारिका दहन और कृष्ण का देहान्त



एक बार धर्मोपदेश के अन्त में विनीतात्मा कृष्ण ने श्रीनेमिनाथ भगवान को नमस्कार कर पूछा कि—“हे प्रभो! द्वारिका नगरी, समस्त यादव और मेरा क्षय किस प्रकार तथा किस कारण से होगा? हम लोगों का नाश किसी दूसरे द्वारा होगा या काल के कारण हम लोगों की मृत्यु होगी?”

भगवान ने कहा—“हे कृष्ण! शौर्यपुर के बाहर एक आश्रम में पराशर नामक एक प्रधान तापस रहता था। उसने यमुनाद्वीप में जाकर किसी नीच कन्या का सेवन किया, फलतः उसके द्वैपायन नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। द्वैपायन अब तक जीवित है। वह परम ब्रह्मचारी और परिव्राजक है। वह यादवों के साथ मैत्री भाव से यहां वास करेगा। एक दिन मद्यपान से उन्मत्त होकर शाम्ब आदिक उसे मारेंगे, जिससे वह क्रुद्ध होकर समस्त यादवों सहित द्वारिका को जला देने का नियाणा करेगा। फिर देव बनकर द्वारिका का नाश कर देगा और तुम्हारी मृत्यु तुम्हारे भाई जराकुमार के हाथ से होगी।”

भगवान ने मुख से अपने विनाश का यह हाल सुनकर कृष्ण तथा समस्त यादव कांप उठे। यादवगण उसी समय से जराकुमार को तिरस्कार दृष्टि से देखने लगे। इससे जराकुमार को भी बड़ा दुःख हुआ। वह अपने मन में कहने लगा—“क्या वसुदेव का पुत्र होकर मैं अपने भाई का वध करूंगा? नहीं नहीं, यह कदापि नहीं हो सकता। मेरे लिये इससे बढ़कर अप्रतिष्ठा की बात दूसरी नहीं हो सकती। मैं इस दुर्घटना को रोकने की चेष्टा अवश्य करूंगा।”

द्वैपायन को भी यह हाल सुनकर बड़ा ही दुःख हुआ और उन्होंने भी राजकुमार की भांति इस दुर्घटना को रोकने का निश्चय किया। जराकुमार ने इसके लिए कृष्ण की रक्षा करने का और द्वैपायन ने द्वारिका तथा यादवों की रक्षा करने का निर्णय किया। इस उद्देश्य को सफल बनाने के लिए वे दोनों उसी दिन से वनवासी बन गये और द्वारिका नगरी का त्यागकर समीप के वन में निवास करने लगे।

इधर कृष्ण नेमिभगवान को वन्दन कर भवितव्यता का विचार करते हुए नगर को लौट आये। इसके बाद वे सोचने लगे कि यह सब अनर्थ मद्य के ही कारण होगा, इसलिए पहले मद्यपान पर ही प्रतिबन्ध क्यों न लगा दिया जाय यह सोचकर उन्होंने यादवों को आज्ञा दी कि—द्वारिका में जितना मद्य तैयार हो, वह सब गिरनार की कादम्बरी नामक गुफा के कुण्ड में डाल आओ। यह सुनकर यादवगण उसी समय द्वारिका नगरी में गये और चारों ओर से खोज-खोजकर सारा मद्य उस कुण्ड में डाल आये।

इसी समय सिद्धार्थ नामक सारथी ने बलराम से कहा—“हे प्रभो! द्वारिका नगरी और यदुकुल की यह दुरवस्था मैं अपनी आँखों से कैसे देख सकूंगा? मेरा हृदय तो उस प्रलयकाल की कल्पना से ही कांप उठता है। आप मुझे आज्ञा दीजिए, मैं इसी समय भगवान के पास जाकर दीक्षा ले लूँ, क्योंकि यहां रहने का अब मुझे साहस ही नहीं होता।”

सिद्धार्थ की ये बातें सुनकर बलराम ने आँसू बहाते हुए कहा—“भाई! तुम यह क्या कहते हो? तुम्हें दीक्षा लेने की आज्ञा देते हुए मुझे बड़ा दुःख होता है, किन्तु इस सत्कार्य से मैं तुम्हें रोक भी नहीं सकता। खैर, तुम जाओ, लेकिन मृत्यु के बाद जब तुम्हें देवत्व प्राप्त हो, तब मुझे उपदेश देने के लिए तुम अवश्य आना। मुझे आशा है, कि मेरी इस बात पर तुम अवश्य ध्यान दोगे।”

सिद्धार्थ ने इसके लिए बलराम को वचन देकर नेमिप्रभु के निकट दीक्षा ले ली। दीक्षा लेने के बाद छः मास तक सिद्धार्थ ने दुस्तप तप किया। इसके बाद उसकी मृत्यु हो गयी और वह देवलोक का अधिकारी हुआ।

इधर द्वारिका निवासी यादव लोग शिलाकुण्ड में जो मदिरा डाल आये

थे, उसमें अनेक वृक्षों के पुष्प गिरने से वह बहुत ही स्वादिष्ट बन गयी। एक बार वैशाख मास में शाम्बकुमार का एक मित्र घूमता घामता वहां जा पहुँचा। तृषा लगने पर जल समझकर उसने उस मदिरा का पान किया, तो उसके अपूर्व स्वाद के कारण उसे बढ़ा ही मजा आया। वहां से लौटते समय वह एक मशक भरकर मदिरा अपने साथ लेता आया और वह मदिरा उसने शाम्ब को दी। शाम्ब को भी उसके पीने से अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ। इसलिए उसने उससे पूछा—“हे भद्र! तुम्हें यह मदिरा कहां मिली?” इस प्रश्न के उत्तर में मित्र ने उसे उस कुण्ड का पता बतला दिया, जहां जल की भांति वह अपूर्व मदिरा भरी हुई थी।

दूसरे ही दिन शाम्ब अनेक कुमार तथा इष्ट मित्रों को साथ लेकर उस कादम्बरी गुफा में जा पहुँचा। वहां पर मदिरा का अक्षय भण्डार देखकर उसे असीम आनन्द हुआ। शीघ्र ही उसके हुकम से वन वृक्षों के बीच में वन का एक भाग सुन्दर उद्यान के रूप में परिणत कर दिया गया और वहीं बैठकर शाम्ब तथा उसके संगियों ने जी भरकर उस मदिरा का पान किया।

यादवों को मद्यपान का यह अवसर बहुत दिनों के बाद मिलता था। दूसरे में वह मदिरा भी पुरानी थी और विविध द्रव्यों के मिश्रण से बहुत सुस्वादु बन गयी थी। यही कारण था कि उसके पीने से उन्हें तृप्ति ही न होती थी।

खूब मदिरा पीकर सब राजकुमार आसपास के स्थान में मदोन्मत्त की भांति क्रीड़ा करने लगे। कादम्बरी गुफा के पास ही एक स्थान में द्वैपायन मुनि का आश्रम था। शाम्ब अपने संगियों के साथ घूमता हुआ वहां जा पहुँचा। उस समय द्वैपायन मुनि ध्यान में मग्न थे। उन्हें देखकर शाम्ब ने अपने मित्रों से कहा—“इसी तापस के हाथों से हमारी द्वारिका नगरी और यदुकुल का नाश होने वाला है। इसलिए आओ, हमलोग इसे इसी समय मार डालें। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। जब यहीं न रहेगा तब हमारे कुल का नाश कौन करेगा?”

शाम्ब की यह बात सब यादवों को पसन्द आ गयी। उन्होंने लात घूंसे और ढेला पत्थर मार मार कर द्वैपायन को मृत प्राय कर डाला। इसके बाद वे

द्वारिका को लौट आये और इस प्रकार अपना कामकाज करने लगे मानों कुछ हुआ ही न हो। परन्तु कृष्ण को अपने गुप्तचरों द्वारा इन सब बातों का पता चल गया। उन्हें इससे बहुत ही दुःख हुआ। वे अपने मन में कहने लगे—“होनहार को कौन टाल सकता है? इन अविचारी कुमारों को इतना भी ज्ञान नहीं है, कि इस कार्य द्वारा हम अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मार रहे हैं।”

इसके बाद कृष्ण बलराम को साथ लेकर द्वैपायन मुनि को समझाने के लिए उनके आश्रम में गये वहाँ कृष्ण ने देखा कि दृष्टि विष सर्प की भाँति द्वैपायन के नेत्र लाल हो रहे हैं। जिस प्रकार मतवाले हाथी को महावत पुचकार पुचकार कर शान्त करता है, उसी प्रकार कृष्ण उस महाभयंकर मुनि को समझाबुझाकर शान्त करने लगे। उन्होंने कहा—“हे मुनिराज! क्रोध महाशत्रु है। उसके कारण जीव को जन्मजन्मान्तर तक दुःख मिला करता है। हे मुने! मद्यपान से अन्धबनकर, अज्ञानता के कारण मेरे पुत्रों ने आपका जो अपराध किया है, उसे आप क्षमा करिए। बच्चों स्वाभाव से ही उत्पाती होते हैं, उन पर आपको इस प्रकार क्रोध न करना चाहिए।”

इस प्रकार कृष्ण ने द्वैपायन को बहुत समझाया, किन्तु वह किसी तरह प्रसन्न न हुआ। उसने कहा—“तुम्हारे इन मधुर वचनों का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। मैंने तुम लोगों के कल्याण के लिए वनवास स्वीकार किया, फिर भी तुम्हारे पुत्रों ने मुझे बेतरह अपमानित किया। उन्होंने मेरी जो दुर्गति की है, उसे तुम देख ही रहे हो। अब तो मैं प्रतिज्ञा से किसी प्रकार से टल नहीं सकता। हां, तुम दोनों भाई इस आपत्ति से अवश्य बच सकते हो। मैं तुम्हें अपना शिकार न बनाऊँगा।”

द्वैपायन की यह बातें सुनकर बलराम ने कृष्ण से कहा—“किसी ने कहा भी है कि हाथ पैर और नाक यह तीनों जिसके टेढ़े होते हैं, होठ, दांत और नाक यह तीनों जिसके स्थूल होते हैं, जिसके नेत्र विलक्षण और अंगोपाङ्गहीन होते हैं, वे कभी शान्त नहीं होते। आप चाहे जितने नम्र वचन कहेंगे, इस अधर्मी से चाहे जितनी क्षमा प्रार्थना करेंगे, किन्तु होनी होकर ही रहेगी। वह किसी प्रकार टल नहीं सकती। नेमिनाथ भगवान का वचन किसी प्रकार मिथ्या नहीं हो सकता।”

इस प्रकार बलराम के समझाने बुझाने पर कृष्ण उदास चित्त से द्वारिका नगरी को लौट आये। उनके आते ही द्वैपायन की प्रतिज्ञा का समाचार समूचे नगर में विद्युत् वेग से फैल गया। सुनते ही सभी लोग भय से कांप उठे और इस विपत्ति से बचने का उपाय सोचने लगे।

दूसरे दिन कृष्ण ने नगर में घोषणा करा दी कि इस महान विपत्ति को टालने के लिए सब लोगों को धर्मकार्य में विशेष रूप से प्रवृत्त रहना चाहिए, अतः सब लोग वैसा ही करने लगे। शीघ्र ही भगवान ने भी वहां आकर रैवाताचल पर निवास किया। भगवान के आगमन के समाचार सुनकर, कृष्ण उन्हें सपरिवार वन्दन करने के लिए उनकी सेवा में उपस्थित हुए। प्रभु ने सदा की भांति इसबार भी श्रोता गणों को दिव्य धर्मोपदेश दिया। उसे सुनकर प्रद्युम्न, शाम्ब, निषध, उल्मुक, सारण आदि कई यदुकुमार और सत्यभामा, रुक्मिणी तथा जाम्बवती आदि कई यादव पत्नियों को वैराग्य आ गया, फलतः उन्होंने प्रभु के निकट दीक्षा ले ली।

इसके बाद कृष्ण के पूछने पर प्रभु ने बतलाया कि—“द्वैपायन आज से बारहवें वर्ष द्वारिका नगरी को भस्म कर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करेगा। इसी तरह भगवान की अन्यान्य बातें सुनकर कृष्ण अपने मन में कहने लगे कि समुद्रविजयादिक को धन्य है, जिन्होंने पहले ही से दीक्षा ले ली। मैं दीक्षा रहित हूँ, इसलिए मुझे धिक्कार है।”

कृष्ण का यह मनोभाव जानकर भगवान ने कहा—“हे कृष्ण! वासुदेव कभी भी दीक्षा नहीं लेते। उन्होंने न कभी दीक्षा ली है, न कभी लेंगे। उनकी सदा-अधोगति ही होती है। तुम्हें भी मृत्यु के बाद तीसरी बालुका प्रभा नरक के दुःख भोगने ही पड़ेंगे।”

यह सुनकर कृष्ण बहुत उदास हो गये, किन्तु सर्वज्ञ प्रभु ने उन्हें समझाते हुए कहा—“हे कृष्ण! तुम्हें उदास होने का कोई कारण नहीं। नरक से निकल कर तुम पुनः मनुष्य होंगे। वहां से मृत्यु होने पर वैमानिक देव होंगे और वहां से उत्सर्पिणी काल आने पर वैताद्वय पर्वत के निकट पुढा नामक देश के गंगाद्वार नगर में जितशत्रु राजा के पुत्र अमम नामक बारहवें तीर्थकर होंगे। बलराम मृत्यु के बाद पहले ब्रह्मदेवलोक में जायेंगे और वहां से च्युत

होकर मनुष्य होंगे। वहां से देवगति में जाकर वे पुनः इसी भरत क्षेत्र में पुरुष होंगे और जब तुम अमम तीर्थकर होंगे, तब तुम्हारे तीर्थ में वे मोक्ष के अधिकारी होंगे।”

इतना कह, नेमिभगवान विहार कर अन्यत्र चले गये। कृष्ण को भी तीर्थकर पद की प्राप्ति का हाल सुनकर अत्यन्त आनन्द हुआ और वे द्वारिका नगरी को लौट आये। वहां उन्होंने पुनः पहले जैसी घोषणा करवायी, जिससे नगर निवासी धर्मकार्य में विशेष रूप से प्रवृत्त रहने लगे।

उधर कुछ दिनों के बाद द्वैपायन मुनि की मृत्यु हो गयी। मृत्यु के बाद दूसरे जन्म में वह अग्नि कुमार हुआ। यथा समय पूर्व वैर का स्मरण कर वह द्वारिका में आया, किन्तु वहां के लोगों की चतुर्थ, षष्ठ अष्टमादिक तप तथा देवपूजा आदि धर्म कार्य करते देख, वह उनका कुछ भी न बिगाड़ सका। इसके बाद अवसर की प्रतीक्षा करते हुए उसने ग्यारह वर्ष तक वहां वास किया। बारहवां वर्ष आरम्भ होने पर लोग समझने लगे कि हमारे धर्माचरण से द्वैपायन पराजित हो गया। यदि इतने दिनों में वह हमारा कोई अनिष्ट न कर सका, तो अब उससे डरने का कोई कारण नहीं।

इस प्रकार विचारकर सब लोग धर्म कर्म छोड़, इच्छानुसार मद्यमांस का सेवन करने लगे। बस, लोगों के धर्म विमुख होते ही द्वैपायन को मौका मिल गया। अब आये दिन द्वारिका नगरी में नये नये उत्पात होने लगे। कभी मेघ की गर्जना सुनायी देती, कभी भूकम्प होता, कभी सूर्यमण्डल से अग्निवर्षा होती, कभी अचानक सूर्य या चन्द्रग्रहण होता, पत्थर की पुतलियां भी अस्वाभाविक रूप से हास्य करने लगती, कभी चित्राङ्कित देव भी क्रोध दिखाते, कभी व्याघ्र आदिक हिसक पशुनगर में विचरण करते और कभी द्वैपायन असुर स्वप्न में लोगों को ऐसा दिखता मानो उसका शरीर रक्त वस्त्र से ढंका हुआ है और वे कीचड़ में सने हुए दक्षिण दिशा की ओर खिंचे जा रहे हैं। कृष्ण और बलराम के हल मूशल तथा चक्रादिक अस्त्र भी इसी समय अचानक नष्ट हो गये। इन सब उत्पातों के कारण नगर में आतङ्क छा गया और सब लोग समझ गये कि अब विनाशकाल समीप आ गया है।

उपरोक्त प्रकार के आरम्भिक उपद्रवों के बाद द्वैपायन ने शीघ्र ही संवर्तक

वायु उत्पन्न किया। इस वायु के कारण चारों ओर से न जाने कितना तृणकाष्ठ द्वारिका नगरी में खिंचकर इकट्ठा हो गया। प्राण भय से जो लोग भागकर नगर के बाहर चले गये थे, वे भी सब इस वायु से खिंचकर नगर में आ पड़े। इस प्रकार अगणित वृक्ष, बहत्तर कोटि नगर निवासी और साठ कोटि आस पास के लोगों को द्वारिका में एकत्र कर द्वैपायन ने उसमें आग लगा दी।

प्रलयकाल के वायु से प्रेरित और निबिड़ धूमसमूह से संसार को अन्ध बनाने वाली वह अग्नि देखते ही देखते चारों ओर फैल गयी और समूची नगरी धाय धाय जलने लगी। एक ओर वायु का प्रबल तूफान, दूसरी ओर अन्ध बनाने वाला धुआँ और तीसरी ओर आग की भयंकर लपटों ने लोगों को हत बुद्धि बना दिया। उन्हें अपनी रक्षा का कोई भी उपाय न सूझ पड़ा। वे एक दूसरे से चिपट-चिपटकर जहां के तहां खड़े रह गये और अग्नि में जल जल कर या धुएं में घुट-घुटकर अपना प्राण त्याग करने लगे।

बलराम और कृष्ण ने वसुदेव, देवकी तथा रोहिणी का प्राण बचाने के लिए उनको एक रथ पर बैठाया, किन्तु असुर द्वारा स्तम्भित होने के कारण उसके अश्व और बैल अपने स्थान से एक पद भी आगे न बढ़ सके। यह देखकर कृष्ण और बलराम स्वयं उस रथ को खींचने लगे, परन्तु उस स्थान से आगे बढ़ते ही रथ के दोनों पहिये शाखा की भांति टूटकर गिर पड़े। यह देखकर वसुदेव आदि बहुत भयभीत हो गये और हे बलराम! हे कृष्ण! हमें बचाओ! हमें बचाओ! आदि कह कहकर करुण क्रन्दन करने लगे। इससे बलराम और कृष्ण बहुत खिन्न हो गये और किसी तरह अपने सामर्थ्य से उस रथ को नगर के द्वार तक घसीट ले गये। परन्तु वहाँ पहुँचते ही उस असुर ने द्वार के किवाड़ बन्द कर दिये। यह देखकर बलराम ने उन किवाड़ों पर इतने वेग से पाद प्रहार किया, कि वे तुरन्त चूर्ण विचूर्ण हो गये, किन्तु मालूम होने लगा, मानों किसी ने उसको जकड़ रखा है।

इस पर भी बलराम और कृष्ण उस रथ को बाहर निकालने की चेष्टा करने लगे। यह देख, द्वैपायन ने प्रकट होकर उनसे कहा—“अहो! आप लोग मोह में कितने फँसे हुए हो! मैंने पहले से ही कह दिया था कि तुम दोनों को छोड़कर और कोई जीता न बच सकेगा। फिर यह व्यर्थ चेष्टा क्यों कर रहे हो?”

उसकी यह बातें सुनकर वसुदेव और देवकी आदि ने जीवन की आशा छोड़कर, कृष्ण तथा बलराम से कहा—“हे वत्स! तुम दोनों अब अपनी प्राण रक्षा करो। तुम दोनों के जीवन समस्त यादवों के जीवन की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हैं। तुमने हमारे प्राण बचाने के लिए यथेष्ट चेष्टा की, किन्तु भावी को कौन टाल सकता है? हमें हम लोगों का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए, जो हम लोगों ने नेमि भगवान के निकट दीक्षा नहीं ली। तुम लोग खुशी से जाओ, हम लोग अब अपने कर्म का फल यहीं पर भोगेंगे?”

माता पिता के यह वचन सुनकर कृष्ण और बलराम का शोकसागर और भी उमड़ पड़ा। वे वहीं खड़े होकर दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बहाने लगे। किन्तु वसुदेव, देवकी और रोहिणी ने उनकी ओर ध्यान न देकर कहा—“अब हम त्रिजगत के गुरु नेमिनाथ की शरण स्वीकार करते हैं। हमने इसी समय चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया। हम लोग अरिहंत, सिद्ध, साधु और आर्हत् धर्म की शरण में हैं, अब इस संसार में हमारा कोई नहीं और हम किसी के नहीं।”

इस प्रकार आराधना कर वे सब नमस्कार मन्त्र का स्मरण करने लगे। यह देख, द्वैपायन ने उन तीनों पर मेघ की भांति अग्नि वर्षा की, जिससे मृत्यु प्राप्त कर, वे स्वर्ग के लिए प्रस्थान कर गये।

अब कृष्ण और बलराम के दुःख का वारापार न रहा। वे दोनों नगर के बाहर एक पुराने बाग में गये। वहां से वे दोनों जलती हुई नगरी का हृदय भेदक दृश्य देखने लगे। उस समय माणिक्य की दीवालें पाषाण के टुकड़ों की तरह चूर्ण हो रही थी, गोशीर्षचन्दन के मनोहर स्तम्भ धाय धाय जल रहे थे, किले के कंगूरे भयंकर शब्द के साथ टूट-टूटकर गिर रहे थे, बड़े-बड़े मन्दिर और प्रसाद भस्म हो होकर मिट्टी में मिल रहे थे, चारों ओर अग्नि की भयंकर लपटों के सिवाय और कुछ भी दिखायी न देता था। प्रलयकाल के समुद्र की भांति उस समय समूचे नगर पर अग्नि की लपटें हिलोरें मार रही थी। द्वारिका नगरी के समस्त लोग अपनी समस्त सम्पत्ति के साथ उसीमें विलीन हो रहे थे। उस समय उनका चीत्कार सुनने वाला या उनके प्रति सहानुभूति दिखाने वाला कोई भी न था।

नगर और नगरनिवासियों की यह अवस्था देखकर कृष्ण का हृदय

विदीर्ण हो गया। उन्होंने बलराम से कहा—“अहो! मुझे धिक्कार है कि नपुंसक की भांति इस समय मैं तटस्थ रहकर अपनी जलती हुई नगरी को देख रहा हूँ। मैं इस समय जिस प्रकार नगरी की रक्षा करने में असमर्थ हूँ, उसी प्रकार इस प्रलयकारी दृश्य को देखने में भी असमर्थ हूँ। इसलिए हे आर्य! शीघ्र कहो, कि इस समय हमें कहां जाना चाहिए? मुझे तो इस विपत्तिकाल में कोई भी अपना मित्र नहीं दिखायी देता।”

बलराम ने कहा—“हे बन्धों! ऐसे समय में विचलित न होकर धैर्य से काम लो। पाण्डव लोग हमारे मित्र और आत्मीय हैं। वे हमें भाई की ही तरह प्रेम करते थे। इसलिए चलो, हम लोग इस समय उन्हीं के यहां चलकर आश्रय ग्रहण करेंगे।”

कृष्ण ने कहा—“भाई! मैंने तो उन लोगों को देश से निर्वासित कर दिया था, इसलिए मुझे वहां जाते हुए लज्जा मालूम होती है। अब मैं कौन सा मुँह लेकर उनके वहां जाऊँगा?”

बलराम ने कहा—“आप इस संकोच को हृदय से निकाल दीजिए। सज्जन पुरुष अपने हृदय में सदा उपकार को ही धारण करते हैं और अपकार को कुस्वप्न की भांति भुला दिया करते हैं। पाण्डव भी सज्जन हैं। आपने उन पर अनेक उपकार किये हैं। इसलिए इस विपत्ति काल में वे अपकार न कर, हमारा सत्कार ही करेंगे। मेरा दृढ़ विश्वास है कि वे कभी अकृतज्ञ न होंगे, इसलिए आप लज्जा संकोच छोड़कर उन्हीं के यहां चलने का निश्चय कीजिए।”

कृष्ण ने व्यथित हृदय से बलराम का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उन्होंने अन्तिम बार अपनी प्राणप्रिय नगरी पर एक दृष्टि डाली। इसके बाद वे बलराम के साथ पाण्डु मथुरा के लिए अग्नि कोण की ओर चल पड़े।

कृष्ण के चले जाने पर भी द्वारिका नगरी उसी तरह धाँय धाँय जलती रही। इस विपत्ति का शिकार न होने वालों में बलराम का एक पुत्र कुब्जवारक भी था। वह चरम शरीरी था। उसने राजमहल की अट्टालिका पर चढ़, दोनों हाथ उठा, उच्च स्वर से कहा—“इस समय मैं नेमिनाथ भगवान का शिष्य हूँ। कुछ समय पहले भगवान ने मुझे चरम शरीरी और मोक्षगामी बतलाया था। यदि जिनाज्ञा सच है, तो यह अग्नि क्यों जला रही है?”

उसके यह वचन सुनते ही जृम्भक देव उसे उठाकर प्रभु के पास ले गये। उस समय नेमिनाथ भगवान पल्लव देश में विराजमान हो रहे थे। वहां पुण्यात्मा कुब्जवारक ने दीक्षा ले ली। उसके सिवाय नगर में जितने मनुष्य थे, वे सभी उसमें स्वाहा हो गये। बलराम और कृष्ण की जिन स्त्रियों ने दीक्षा न ली थी, उन्होंने भी अनशन कर, नेमिनाथ भगवान का स्मरण करते हुए अपने प्राण त्याग दिये। समूची नगरी छः मास तक जलती रही। जब सब कुछ स्वाहा हो गया वह कुबेर निर्मित सोने की द्वारिका मिट्टी में मिल गयी, तब समुद्र ने उस भस्मावशेष पर अपना शीतल जल छिड़क कर, उसे सदा के लिए शान्त कर दिया।

उधर कृष्ण द्वारिका से प्रस्थान कर धीरे धीरे हस्तिकल्प नामक नगर में पहुँचे। उस समय वे क्षुधा से पीड़ित हो रहे थे। इसलिए उन्होंने बलराम से इसका जिक्र किया। इस पर बलराम ने कहा—“हे बन्धो! आप यहीं ठहरिए, मैं नगर में जाकर आपके लिए कुछ भोजन सामग्री लिये आता हूँ। यदि नगर में मुझे किसी प्रकार का कष्ट होगा, तो मैं सिंहनाद करूँगा। उसे सुनकर आप भी मेरी सहायता के लिए दौड़ आइएगा।”

इस प्रकार कृष्ण को सावधान कर बलराम नगर में गये। वहां नगर निवासी उनको देखते ही आपस में कानाफूसी करने लगे। वे कहने लगे कि यह देवता समान पुरुष बलराम के सिवाय और कोई नहीं हो सकता। मालूम होता है, कि द्वारिका नगरी जल जाने पर यह वहां से यहां चले आये हैं।

राजा के गुप्तचरों ने भी बलराम का पीछा किया, किन्तु बलराम ने इन सब बातों का कोई ख्याल न किया। उन्होंने एक हलवाई को अपनी मुद्रिका देकर उससे विविध पक्कवान और एक कलाल को अपना कड़ा देकर उसके बदले में मदिरा ले ली। इसके बाद वे शीघ्र ही वहां से चल पड़े। जब वे नगर के द्वार पर पहुँचे, तब राजा के गुप्तचरों का सन्देह और भी दृढ़ हो गया।

इस नगर में धृतराष्ट्र का अच्छदन्त नामक एक पुत्र राज्य करता था। युद्ध के समय पाण्डवों ने उसे जीता ही छोड़ दिया था। यह गुप्तचर उसी के थे, इसलिए उन्होंने उसके पास पहुँचकर, उसे सब हाल कह सुनाया। साथ ही उन्होंने कहा कि—“इस पुरुष ने जो मुद्रिका और कड़ा हलवाई को दिया है,

वह बहुत ही किमती है। इसलिए हम लोग उसे चोर समझकर उसका पीछा कर रहे थे, परन्तु लोगों का कहना है, कि वे बलराम हैं। खैर, वह चाहे जो हो, हमने आपको खबर दे दी। अब आप जो उचित समझो वह करें।”

यह समाचार सुनकर राजा अच्छदन्त प्रसन्न हो उठा। उसने कहा—
“कृष्ण और बलराम ने हमारे शत्रु पाण्डवों का पक्ष लिया था, इसलिए उनका वध करने में कोई दोष नहीं। यदि वह बलराम होगा, तो मैं उसे कदापि जीता न छोड़ूंगा।”

यह कहकर उसने उसी समय नगर के सभी द्वार बन्द करवा दिये और बलराम को अपनी सेना द्वारा चारों ओर से घेर लिया। बलराम भी इस विपत्ति को देखकर सावधान हो गये। उन्होंने खाने पीने की सामग्री एक किनारे रख, एक गज स्तम्भ उखाड़ दिया और सिंहनाद कर उसीके द्वारा वे शत्रु सेना का संहार करने लगे।

बलराम का सिंहनाद सुनकर कृष्ण भी नगर की ओर दौड़ पड़े। उन्होंने एक लात मारकर द्वार के दोनों कपाट तोड़ डाले। इसके बाद शत्रुसेना में वे उसी तरह घुस पड़े, जिस तरह भेंड़ बकरियों के समूह में व्याघ्र घुस पड़ता है। उन्होंने भी एक स्तम्भ को उठाकर उसके प्रहार से अगणित सैनिकों को यमधाम भेज दिया। दोनों भाइयों का अपूर्व पराक्रम देखकर समस्त सेना भाग खड़ी हुई। राजा अच्छदन्त के भी छक्के छूट गये और वह हथियार फेंक, कृष्ण के चरणों में आ गिरा।

अच्छदन्त को क्षमा प्रार्थना करते देखकर कृष्ण ने कहा—“हे अच्छदन्त! अब भी हम लोगों का भुजबल कहीं नहीं गया। हमारी लक्ष्मी चली गयी है, किन्तु इससे क्या हुआ, वह तो पुरुष के शरीर का मैल है। हे नृपाधम! तूने निःसन्देह बहुत बुरा काम किया है, फिर भी हम तुझे मुक्त करते हैं। जा, हमारे प्रसाद से तू अपना राज्य पूर्ववत् भोग कर।”

इस प्रकार अच्छदन्त की भर्त्सना कर कृष्ण ने उसे छोड़ दिया। इसके बाद उन दोनों भाइयों ने नगर के बाहर एक उद्यान में भोजन कर, वहां से आगे के लिए प्रस्थान किया।

इस स्थान से दक्षिण की ओर आगे बढ़ने पर, उन दोनों को कौशाम्ब,

नामक एक वन मिला। वहाँ पहुँचने पर मद्यपान के कारण, लवणयुक्त भोजन के कारण, कड़ी धूप के कारण, थकावट के कारण, शोक के कारण या यों कहिये, कि पुण्य क्षीण होने के कारण कृष्ण को जोरों की प्यास लगी। इसलिए उन्होंने बलराम से कहा—“भाई! प्यास के कारण मेरा कंठ बेतरह सूख रहा है। यद्यपि वृक्षों की घनी छाया के कारण यहाँ धूप नहीं लगती, तथापि तृषा के कारण अब एक पद भी आगे बढ़ने का मुझ में सामर्थ्य नहीं है।”

बलराम ने कहा—“हे बन्धो! आप सावधानी के साथ इसी वृक्ष के नीचे विश्राम कीजिए, मैं अभी आपके लिए जल ले आता हूँ।”

इतना कह बलराम जल लेने गये और कृष्ण पैर पर पैर चढ़ा, पीताम्बर ओढ़कर, वहीं पर वृक्ष के नीचे लेट गये। थके पके तो वे श्रे ही, इसलिए भूमि पर लेटते ही उन्हें निद्रा आ गयी। चलते समय बलराम ने पुनः कहा—“हे बन्धो! मैं अभी आ रहा हूँ, मुझे अधिक समय न लगेगा, आप मेरे वापस आने तक खूब सावधान रहिएगा।”

इसके उत्तर में कृष्ण ने शिर हिला दिया। परन्तु बलराम को आज किसी तरह मानो सन्तोष ही न होता था। कोई अज्ञात शंका रह-रह कर उनके हृदय को कँपा देती थी। चलते चलते उन्होंने आकाश की ओर मुख उठाकर कहा—“हे वन देवता! मेरा छोटा भाई इस समय आपकी शरण में है। हे भगवन्! आप ही इसकी रक्षा कीजिएगा।”

पाठकों को स्मरण होगा, कि जराकुमार ने कृष्ण की रक्षा के लिए वनवास स्वीकार किया था, दैवयोग से वह इसी वन में रहता था और मृगादिक का शिकार कर अपना उदर भरता था। पूर्वसंचित कर्मों की प्रेरणा से, जिस समय बलराम जल लेने गये, उसी समय वह हरिण की खोज करता हुआ वहाँ आ पहुँचा और दूर से निद्राधीन कृष्ण को मृग समझकर उन पर एक तीक्ष्ण बाण छोड़ दिया। वह बाण कृष्ण के पैर में जा लगा। बाण लगते ही कृष्ण उठ बैठे। उन्होंने कहा—“अहो! मैं सर्वथा निरपराध हूँ। मुझे किसी प्रकार की सूचना दिये बिना छल पूर्वक मेरे पैर में यह बाण किसने मारा? मैंने अपने जीवन में किसी पर भी उसका नाम और कुल जाने बिना शस्त्र प्रहार नहीं किया, इसलिए मैं अपने मारने वाले से भी अपना नाम और कुल बतलाने का अनुरोध करता हूँ।”

इधर जराकुमार भी एक वृक्ष की ओट में छिपा खड़ा था। अतः कृष्ण के यह वचन सुनते ही वह चकित होकर कहने लगा—“मेरा नाम जराकुमार है। यदुर्वशी राजा वसुदेव तथा जरा रानी का पुत्र और कृष्ण बलराम का बड़ा भाई है। नेमिप्रभु का वचन सुनकर कृष्ण की रक्षा के लिए मैं इस वन में चला आया था। यहां रहते मुझे आज बारह वर्ष हो गये, किन्तु अब तक इस वन में मुझे कोई मनुष्य न दिखायी दिया था। हे भाई! तुम मनुष्य की तरह बोलते हो पर कृपाकर बतलाओ, कि तुम कौन हो?”

कृष्ण ने कहा—“हे नर व्याघ्र! आओ, मैं ही तुम्हारा भ्राता कृष्ण हूँ, कि जिसके लिए तुम वनवासी हुए हो। हे बन्धो!! तुम्हारा यह बारह वर्ष का परिश्रम उसी प्रकार बेकार हो गया, जिस प्रकार भूले हुए मुसाफिर का मार्ग चलना बेकार हो जाता है।”

अब जराकुमार के आश्चर्य का वारापार न रहा। वह कहने लगा—“कौन कृष्ण? तुम यहां कहाँ?” यह कहता हुआ वह कृष्ण के पास दौड़ आया और कृष्ण को देखते ही मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। थोड़ी देर में होश आने पर उसने करुण क्रन्दन करते हुए कृष्ण से पूछा—“भाई! यह क्या? तुम यहां कैसे आ गये? तुम्हारी यह अवस्था देखकर मालूम होता है कि नेमिप्रभु की सभी बातें सत्य प्रमाणित हुई हैं। हे भ्राता! जो कुछ समाचार हो, शीघ्र ही मुझे कहो।”

कृष्ण ने जराकुमार को गले लगाकर, द्वारिका और यादवों के विनाश का समस्त वृत्तान्त उसे कह सुनाया। इससे जराकुमार पुनः रूदन करने लगा। उसने कहा—“हाँ! यहां आये हुए अपने भाई को मारकर मैंने क्या कोई उचित कार्य किया है? कृष्ण तो अपने सभी भाईयों को प्रेम करते थे। फिर, इस समय वे विपत्ति ग्रस्त थे। उन्हें मारकर मुझे नरक पृथ्वी में भी स्थान मिलेगा या नहीं, इसमें सन्देह है। कृष्ण! मैंने तुम्हारी रक्षा के लिए वनवास स्वीकार किया था, परन्तु मैं नहीं जानता था, कि विधाता इस स्थान में भी मुझसे यमका सा काम लेगा। हे पृथ्वी! मुझे मार्ग दे, ताकि मैं इसी शरीर से नरक पृथ्वी में चला जाऊँ। यहां रहना अब नरक से भी बढ़कर दुःख दायी है, क्योंकि मुझे भ्रातृ हत्या का दुःख प्राप्त हुआ है, जो समस्त दुःखों से बढ़कर

है! हा दैव! मैं वसुदेव का पुत्र और कृष्ण का भाई क्यों हुआ? यदि मेरे हाथ से ऐसा अमानुषिक काम कराना था, तो हे विधाता! तूने मुझे मनुष्य ही क्यों बनाया? हा! आज यह दिन देखने की अपेक्षा, नेमिप्रभु का वचन सुनते ही मैं मर गया होता, तो वह भी इससे हजार गुण अच्छा होता! हे कृष्ण! तुम्हारे जीवन के सामने मेरा जीवन किसी हिसाब में नहीं है। हे बन्धों! यदि किसी तरह तुम्हारे जीवन की रक्षा हो सके तो मुझसे कहो, मैं तुम्हारे लिए प्राण तक विसर्जन कर सकता हूँ।”

कृष्ण ने कहा—“भाई! अब शोक करने से क्या लाभ? मैं या तुम कोई भी भवितव्यता को टाल नहीं सकते। करोड़ों यादवों में से केवल तुम्हीं जीते बचे हो, इसलिए जैसे भी हो, तुम यहां से चले जाओ और अपनी प्राण रक्षा करो। यदि तुम ऐसा न करोगे, तो बलराम मेरे वध से क्रुद्ध होकर तुम्हें मार डालेंगे। मैं चिन्ह स्वरूप अपना कौस्तुभ मणि तुम्हें देता हूँ। इसे लेकर तुम पाण्डवों के यहां चले जाओ। उनसे सब वृत्तान्त कहने पर वे तुम्हें अवश्य सहायता करेंगे। जाते समय कुछ दूर तक तुम उलटे पैरों से जाना, जिससे अनुसरण करने पर भी बलराम तुम्हारा पता न पा सके। मैंने पाण्डवों को निर्वासन का दण्ड दिया था। इसलिए उनके जी दुःखित होंगे। तुम इसके लिए मेरी ओर से क्षमा प्रार्थना कर, मेरा अपराध क्षमा करा देना।”

इस प्रकार कृष्ण के अनुरोध करने पर, जराकुमार उनके पैर से बाण निकालकर, कौस्तुभमणि लेकर शीघ्रता पूर्वक वहां से पाण्डु मथुरा के लिए खाना हो गया।

जराकुमार के चले जाने पर कृष्ण पैर की वेदना से व्याकुल हो उठे। उन्होंने उत्तर दिशा की ओर मुख कर, हाथ जोड़कर कहा—“अरिहन्त सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन सभी को मैं त्रिविध नमस्कार करता हूँ, कि जिन्होंने हम पापियों का त्यागकर इस पृथ्वी पर तीर्थ प्रवर्तित किया है।”

इतना कह, पैर पर पैर रख, उसे वस्त्र से ढंक कर, भूमि पर लेटे ही लेटे कृष्ण पुनः अपने मन में कहने लगे—“श्री नेमिनाथ भगवान, वरदत्तादिक गणधर, प्रद्युम्न शाम्ब आदि कुमार और सत्यभामा तथा रुक्मिणी, आदि मेरी स्त्रियों को धन्य है, जिन्होंने यथासमय गृहत्यागकर दीक्षा ले ली। मुझे ग्रह सब

विडम्बना भोगनी थी, इसलिए मैं ही इस लाभ से वञ्चित रह गया। धिक्कार है, मेरे इस निरर्थक जीवन को।”

इस प्रकार के विचार करते करते कृष्ण के अंग प्रत्यङ्ग में असह्य वेदना होने लगी और वायु का प्रकोप भी बेतरह बढ़ गया। अन्त में तृषा, शोक, वायु और वेदना के कारण वे विवेक भ्रष्ट हो गये और अपने मन में कहने लगे कि—“अब तक किसी भी देवता या मनुष्य ने मुझे नीचा न दिखाया था, किन्तु द्वैपायन ने मुझे नीचा दिखा दिया। वह दुष्ट यदि इस समय भी मेरे सामने आ जाय, तो मैं उसके प्राण लिये बिना न छोड़ूँ। वह मेरे सामने किस हिसाब में है। यदि मैं उसके पीछे पड़ जाऊँ तो मेरे हाथों से उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सकता।”

इस प्रकार क्षणभर के लिए रौद्र ध्यान को प्राप्त हो, परम प्रतापी कृष्ण ने अपना प्राण त्याग दिया। मृत्यु के बाद निकाचित कर्म योग से वे पूर्वोपार्जित तीसरी नरक पृथ्वी के अधिकारी हुए।

कृष्ण की आयु पूरे एक हजार वर्ष की थी। इसमें से सोलह वर्ष कुमारवस्था में, छप्पन वर्ष मंडलीक पद पर, आठ वर्ष दिग्विजय में और 920 वर्ष उन्होंने वासुदेव के पद पर व्यतीत किये। जिनेन्द्र के कथनानुसार, इसी भरतक्षेत्र में, आगत चौबीसी में वे अमम नामक तीर्थकर होंगे धन्य है ऐसे प्रतापी महापुरुष को !



इक्कीसवाँ परिच्छेद बलराम की दीक्षा और नेमिप्रभु का मोक्ष



कृष्ण की मृत्यु के बाद कुछ देर में बलराम कमलपत्र के दोने में जल लेकर कृष्ण के पास आये। पहले तो वे यह समझकर चुपचाप बैठे रहे, कि कृष्ण को नींद आ गयी है और उसमें बाधा न डालना चाहिए, परन्तु बाद में जब उन्होंने उनके मुख पर मस्त्रियों को देखा, तब उन्हें कुछ सन्देह हुआ। इस पर उन्होंने वस्त्र हटाकर देखा तो कृष्ण के पैर में ताजा, जखम दिखायी दिया। अब उन्हें समझ पड़ गयी, कि इसी चोट के कारण उनको मूर्च्छा आयी है। कृष्ण की यह अवस्था देखते ही वे कटे हुए वृक्ष की भांति मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े।

कुछ देर के बाद जब बलराम की मूर्च्छा दूर हुई, तब उन्होंने महाभीषण सिंहनाद किया। उस नाद से समूचा वन प्रतिध्वनित हो उठा और वहां के पशु पक्षी तक कांप उठे। बलराम ने गंभीर स्वर में कहा—“यहां बलराम के सोते हुए मेरे लघु बन्धु को जिस पापी ने बाण मारा हो, वह अपने को प्रकट कर दे। यदि वीर हो तो मेरे सामने आये। निद्राधीन, प्रमत्त, बालक, मुनि और स्त्री को बाण मारना महापाप है, कायरता है, नीचता है।

बलराम ने इस तरह की बातें कहते हुए वन में चारों ओर भ्रमण किया, किन्तु जब कोई कहीं दिखायी न दिया, तब वे कृष्ण के पास लौट आये और उनको आलिङ्गन कर अत्यन्त करुण स्वर से विलाप करने लगे। वे कहने लगे—“हा भ्राता! हा पुरुषोत्तम! हां मेरे हृदय कमल के सूर्य! तुम मुझे अकेला छोड़कर कहां चले गये! हे कृष्ण! तुम तो कहते थे कि तुम्हारे बिना मैं

अकेला रहने में असमर्थ हूँ, किन्तु अब तो तुम मुझसे भी नहीं बोलते! हे केशव! तुम्हारा वह प्रेम कहां चला गया? संभव है कि मुझसे कोई अपराध हुआ हो और उसी के कारण तुमने मौनावलम्बन कर लिया हो, परन्तु मुझे तो वैसी कोई घटना याद नहीं है। यदि मुझसे वैसा कोई अपराध हुआ हो, तो तुम्हें क्षमा करना चाहिए था। हां, मुझे जल लाने में विलम्ब हुआ, इसके कारण तुम रोष कर सकते हो, इसके लिए तुम्हारा यह रोष करना अनुचित भी नहीं, किन्तु हे वीरधिवीर! सूर्यास्त हो रहा है, इसलिए उठो, अब सोने का समय नहीं है।”

इस प्रकार विलाप करते-करते बलराम ने रात्रि व्यतीत कर दी। सुबह भी बहुत देर तक वे इसी तरह विलाप करते रहे, किन्तु कृष्ण अब अपने स्थान से न उठे, तब बलराम मोह के कारण उनके मृत शरीर को कन्धे पर उठाकर गिरि—गुहा और वनादिक में भ्रमण करने लगे। दिन में एक बार पुष्पादिक द्वारा उस शरीर की पूजा कर देना और फिर उसे कन्धे पर लिये दिन भर घूमते रहना, यही बलराम का नित्यकर्म हो गया। इसी अवस्था में उन्होंने छः मास व्यतीत कर दिये।

धीरे-धीरे वर्षाकाल आ गया, किन्तु बलराम की इस नित्यचर्चा में कोई परिवर्तन न हुआ। बलराम का मित्र सिद्धार्थ सारथी को इसके पहले ही देवत्व प्राप्त हो चुका था, उसे अवधिज्ञान से यह सब बातें मालूम हुईं। वह अपने मन में कहने लगा—“अहो! भ्रातृवत्सल बलराम कृष्ण के मरे हुए शरीर को उठाकर चारों ओर घूम रहा है। उसे उपदेश देकर उसका मोह दूर करना आवश्यक है क्योंकि दीक्षा लेने की आज्ञा देते समय मुझसे उपदेश देने की प्रार्थना भी की थी। इसलिए मुझे अब अपना कर्तव्य अवश्य पालन करना चाहिए।

यह सोचकर सिद्धार्थ ने पत्थर का एक रथ बनाया और बलराम के सामने उसे पर्वत से नीचे की ओर उतरता हुआ दिखाया। पर्वत से उतरकर जब वह रथ समतल भूमि में पहुँचा, तब उसका एक अंश टूट गया। सिद्धार्थ सारथी के वेश में उस रथ को चला रहा था। रथ टूटते ही वह उससे उतरकर उसे जोड़ने लगा। उसका यह कार्य देखकर बलराम ने कहा—“हे भाई! तुम

यह क्या कर रहे हो ? तुम्हारा रथ विषम स्थान में न टूटकर समतल भूमि में आकर टूट गया फिर, वह पत्थर का बना हुआ है। क्या अब किसी तरह उसका जुड़ना सम्भव है ?”

सिद्धार्थ ने उत्तर दिया—“जिसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी, उसकी मृत्यु इस समय बिना युद्ध के ही हो गयी! अब यदि वह जीवित हो सकता है तो मेरा रथ भी जुड़ सकता है।”

बलराम उसका यह उत्तर सुनकर निरुत्तर हो गये। वहां से आगे बढ़ने पर बलराम ने देखा कि एक मनुष्य पाषाण पर कमल रोप रहा है। यह देख, बलराम ने उससे हँसते हुए कहा—“भाई! तुम्हारे समान मूर्ख मैंने संसार में कहीं नहीं देखा। पाषाण में क्या कभी कमल उग सकते हैं ?”

मनुष्य वेशधारी सिद्धार्थ ने उत्तर दिया—“यदि आपका यह लघुभ्राता जीवित हो सकता है, तो पाषाण में कमल क्यों नहीं उग सकते ?”

बलराम इस उत्तर पर विचार करते हुए चुपचाप वहां से आगे बढ़ गये। कुछ दूर जाने पर उन्होंने देखा कि एक मनुष्य जले हुए वृक्ष को सींच रहा है। यह देख, बलराम ने कहा—“हे बन्धो! यह व्यर्थ परिश्रम क्यों कर रहे हो ? क्या जला हुआ वृक्ष, हजार बार सिंचने पर भी कभी विकसित हो सकता है ?”

मनुष्य वेशधारी सिद्धार्थ ने उत्तर दिया—“यदि तुम्हारे कन्धों का शब जीवित हो सकता है, तो यह वृक्ष क्यों नहीं पल्लवित हो सकता ?” बलराम पुनः निरुत्तर हो गये।

कुछ आगे बढ़ने पर बलराम ने पुनः देखा कि एक मनुष्य कोल्हू में बालू भरकर उसे पिल रहा है। यह देख, बलराम ने पूछा—“क्यों भाई! इसमें से क्या तेल निकल सकता है ?” इस पर उसने उत्तर दिया कि—“यदि आपके मृत बन्धु का जीवित होना संभव है, तो इसमें से भी तेल निकलना असम्भव नहीं कहा जा सकता।” बलराम इस स्थान से भी चुपचाप आगे बढ़ गये।

फिर कुछ दूर जाने पर उन्होंने देखा कि एक गोपाल एक भरी हुई गाय के मुख में हरी घास टूस रहा है। यह देख, बलराम ने कहा—“हे मूर्ख! क्या

यह मरी हुई गाय अब स्वप्न में भी घास खा सकती है ?” इस पर गोपाल ने हँसकर कहा—“यदि आपका भाई जीवित हो सकता है, तो निःसन्देह, यह गाय भी घास खा सकती है !”

बार-बार सब लोगों के मुख से एक समान ही उत्तर सुनकर बलराम की विचार शक्ति कुछ जागृत हुई और वह अपने मन में कहने लगे—“क्या सचमुच कृष्ण की मृत्यु हो गयी है ? यदि ऐसा न होता तो सब लोग मुझसे एक ही समान बात क्यों कहते ?”

बलराम को इस प्रकार विचार करते देख, सिद्धार्थ अपने प्रकृत रूप में उनके सामने आकर उपस्थित हुआ। उसने बलराम को अपना परिचय देते हुए कहा—“हे प्रभो ! मैं आपका सारथी सिद्धार्थ हूँ। दीक्षा लेने के बाद मेरी मृत्यु हो गयी थी और मुझे देवत्व प्राप्त हुआ था। अब मैं आपको उपदेश देने के लिए आपके पास आया हूँ, क्योंकि आपने इसके लिए मुझसे वचन ले लिया था। नेमि भगवान ने बतलाया था कि कृष्ण की मृत्यु जराकुमार के हाथ से होगी। उनका वह वचन बिल्कुल सत्य प्रमाणित हुआ। क्या सर्वज्ञ का कथन कभी अन्यथा हो सकता था ? कृष्ण ने अपना कौस्तुभ रत्न चिन्ह स्वरूप देकर जराकुमार को पाण्डवों के पास भेज दिया है। हे प्रभो ! इन सब बातों पर विश्वास कर, आपको मोह का त्याग करना चाहिए और कोई ऐसा कार्य करना चाहिए, जिससे आपकी आत्मा का कल्याण हो।”

बलराम ने स्वस्थ होकर कहा—“हे देवोत्तम ! मैं आपकी बातों पर विश्वास करता हूँ, किन्तु इस समय मैं बन्धु की मृत्यु के कारण शोक सागर में निमग्न हो रहा हूँ। मेरा चित्त अस्थिर हो रहा है। मेरी मानसक शान्ति नष्ट हो गयी है। कृपया बतलाइये, कि इस समय मुझे क्या करना चाहिए ? ऐसा कौन सा कार्य है, जिसे करने से मेरा आत्म कल्याण हो सकता है ?

सिद्धार्थ ने उत्तर दिया—“हे प्रभो ! आप दीक्षा ग्रहण करिए, वह आपके लिए परम लाभदायी सिद्ध होगी। आपकी सारी अशान्ति और सारा शोक उससे दूर हो जायगा।”

बलराम ने सिद्धार्थ का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उन्होंने शीघ्र ही उसके साथ सिन्धु संगम पर जाकर कृष्ण के शरीर का चन्दनादिक काष्ठ द्वारा अग्नि संस्कार किया।

तदनन्तर बलराम को दीक्षाभिलाषी जानकर इसी समय नेमिभगवान ने एक विद्याधर मुनि को उनके पास भेजा, जिसके निकट बलराम ने दीक्षा ले ली। इसके बाद बलराम तुंगिक पर्वत के शिखर पर जाकर तीव्र तप करने लगे और सिद्धार्थ उनका रक्षपाल बनकर निरन्तर उनकी रक्षा करने लगा।

एक बार मुनिराज बलराम मासक्षमण तप कर, पारणा करने के लिए किसी नगर में गये। वहां पर एक कुएँ पर एक स्त्री अपने बालक के साथ जल भरने आयी थी। बलराम का अलौकिक रूप देखकर उसका चित्त अस्थिर हो गया और वह धड़े के बदले उस बालक के गले में रस्सी बांधकर, उसे उस कुएँ में डालने लगी। उसका यह कार्य देखकर बलराम अपने मन में कहने लगे—“अहो! मेरे इस रूप को धिक्कार है, कि जिसको देखकर इस अबला के चित्त में चंचलता उत्पन्न हो गयी है। अब आज से मैं किसी भी ग्राम या नगर में प्रवेश न करूंगा और वन में काष्ठादिक लेने के लिए जो लोग आयेंगे, उन्हीं से भिक्षा मांगकर वहीं पारणा कर लिया करूंगा। ऐसा करने से भविष्य में किसी प्रकार का अनर्थ तो न होगा।”

इसके बाद उस स्त्री को उपदेश देकर बलराम वन को चले गये और वहां पुनः मासक्षमणादिक दुस्तप तप करने लगे। पारणे के समय तृण काष्ठादिक संग्रह करने वाले उन्हें जो कुछ दे देते, उसीसे वे पारणा कर लिया करते थे। इससे उनके चित्त को परम सन्तोष और शान्ति मिलती थी।

कुछ दिनों के बाद तृण काष्ठादिक संग्रह करने वालों ने बलराम की इस तपस्या का हाल अपने-अपने राजा से कहा। इस पर सभी राजा चिन्तित हो उठे और कहने लगे कि हमारा राज्य छीनने के लिए ही तो कोई यह तप नहीं कर रहा है? उन लोगों में अधिक विचार शक्ति न थी, इसलिए उन्होंने स्थिर किया कि उसे मारकर सदा के लिए यह चिन्ता दूर कर देनी चाहिए, निदान, उन सबों ने एक साथ मिलकर अपनी अपनी सेना के साथ, उस वन के लिए प्रस्थान किया। जब वे बलराम मुनि के पास पहुँचे, तब उनके रक्षपाल सिद्धार्थ ने अनेक भयंकर सिंह उत्पन्न किये, जिनकी गर्जना से सारा वन प्रतिध्वनित हो उठा। राजगण इसे मुनिराज का प्रताप समझकर बहुत ही लज्जित हुए और उनसे क्षमाप्रार्थना कर अपने अपने स्थान को वापस चले गये।

इस दिन से बलराम आस-पास के स्थानों में नरसिंह मुनि के नाम से सम्बोधित किये जाने लगे। उनकी तपस्या और उनके धर्मोपदेश के प्रभाव से सिंहादिक हिंसक पशुओं को भी आन्तरिक शान्ति प्राप्त हुई। उनमें से अनेक श्रावक हुए, अनेक भद्रिक हुए, अनेक ने कायोत्सर्ग किया, और अनेक ने अनशन किया। मांसाहार से तो प्रायः सभी निवृत्त हो गये और तिर्यञ्च रूपधारी शिष्यों की भांति वे, महामुनि बलराम के रक्षक होकर सदा उनके निकट रहने लगे।

जिस वन में बलराम तपस्या करते थे, उसी वन में एक मृग रहता था। वह बलराम के पूर्वजन्म का कोई सम्बन्धी था। जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होने के कारण उसे अत्यन्त संवेग उत्पन्न हुआ था, फलतः वह बलराम का सहचारी बन गया था। बलराम मुनि की उपासना कर, वह हरिण वन में घूमा करता और अन्न सहित तृण काष्ठादिक संग्रह करने वालों को खोजा करता। यदि सौभाग्यवश, कभी कोई उसे मिल जाता, तो वह ध्यानस्थ बलराम मुनि के चरणों पर शिर रखकर, उन्हें इसकी सूचना देता। बलराम भी उसका अनुरोध मानकर, क्षण भर के लिए ध्यान को छोड़, उस अग्रगामी हरिण के पीछे उस स्थान तक जाते और वहां से भिक्षा ग्रहणकर अपने वासस्थान को लौट आते।

एक बार अच्छे काष्ठ की तलाश करते हुई कई रथकार वहां आये और सीधे सीधे वृक्षों को पसन्द कर उन्हें काटने लगे। इसी समय उस हरिण ने उनको देखकर बलराम को उनके आगमन की सूचना दी। बलराम ने कुछ समय के लिए अपना ध्यान भंग दिया। उन्हें उसी दिन मास क्षमण व्रत का पारणा करना था। इसलिए उस अग्रगामी हरिण के पीछे-पीछे बलराम उन रथकारों के पास गये। उस समय वे सब भोजन करने जा रहे थे। महामुनि को देखते ही उन रथकारों का अग्रणी, जो एक वृद्ध पुरुष था, अपने मन में कहने लगा—“अहो! इस महारण्य में भी जंगम कल्पवृक्ष समान इस साधु के मुझे दर्शन हुए। अहो! कैसा इसका सुन्दर रूप है! कैसा प्रबल तेज है! कैसा महान उपशम है! निःसंदेह, इस अतिथिमुनि के दर्शन से मेरा जीवन आज सफल हो गया है।”

इस प्रकार सोचकर वह रथकार खड़ा हो गया और अत्यन्त आदर पूर्वक

मुनिराज को प्रणाम कर आहार वहोरने की प्रार्थना करने लगा। प्रार्थना सुनकर बलराम अपने मन में कहने लगे—“यह कोई शुद्धमति श्रावक है, इसलिए स्वर्ग फल रूप कर्म उपार्जन करने की इच्छा से मुझे भिक्षा देने को तैयार हुआ है। यदि मैं यह भिक्षा न ग्रहण करूंगा, तो इसकी सद्गति में अन्तराय रूप बनूंगा। इसलिए इसकी प्रार्थना स्वीकारकर लेना ही उचित है।” इस प्रकार सोचकर बलराम ने उसके दिये हुए अन्नपानादिक ग्रहण कर लिए।

वह हरिण इस समय भी बलराम के पास ही खड़ा था। उसके दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी। रथकार पर मुनिराज का अनुग्रह, देखकर वह अपने मन में कहने लगा—“अहो! धन्य है, इस रथकार को, जिस पर मुनिराज ने इतना अनुग्रह किया है। मुनिराज को अन्नपानादिक वहोरने से इस रथकार का जीवन आज सफल हो गया किन्तु मैं कैसा अभागा हूँ, कि न तो तप ही कर सकता हूँ, न मुनिराज को आहार ही वहोरा सकता हूँ। धिक्कार है मेरे इस तिर्यञ्च जन्म को, जिसके कारण मैं इस प्रकार असमर्थ हो रहा हूँ।”

इस तरह जिस समय वह हरिण, मुनिराज और रथकार धर्मध्यान में लीन हो रहे थे, उसी समय महावायु के कारण अधकटा वृक्ष उन तीनों पर गिर पड़ा, जिससे तत्काल उनकी मृत्यु हो गयी। मृत्यु के बाद वे ब्रह्मदेवलोक में पद्मोत्तर नामक विमान में देवता हुए।

बलराम ने सब मिलाकर साठ मास क्षमण, साठ पक्ष क्षमण, और चातुर्मासिक तप किये थे। उन्होंने बारह सौ वर्ष की आयु भोगी थी, जिसमें से सौ वर्ष तक व्रत का पालन किया था। मृत्यु के बाद पांचवें देवलोक में जाने पर बलराम ने अवधिज्ञान से तीसरे नरक में अपने बन्धु को देखा। अपने प्रिय बन्धु को देखते ही उनसे मिलने के लिए वे व्याकुल हो उठे और वैकिय शरीर धारण कर वे उनके पास गये। उन्होंने कृष्ण को आलिङ्गन कर कहा—“हे कृष्ण! मैं तुम्हारा बड़ा भाई बलराम हूँ और तुम्हारी रक्षा करने के लिए, तुम जो कहो सो करने को मैं तैयार हूँ।”

इतना कह बलराम ने कृष्ण को हाथ से उठाया, परन्तु वे पारे की तरह हाथ से बिखरकर भूमि पर गिर पड़े और पुनः मिलकर पूर्ववत् हो गये। प्रथम आलिङ्गन करने, फिर पूर्वजन्म का परिचय देने और अन्त में हाथ द्वारा उठाने

से कृष्ण बलराम को पहचान गये। उन्होंने हर्षपूर्वक उठकर अपने ज्येष्ठ बन्धु को प्रणाम किया। इसके बाद बलराम ने कृष्ण से कहा—“हे भ्रात! श्रीनेमिप्रभु ने विषयजन्य सुख को परिणाम में दुःखरूप बतलाया था। उनका वह कथन इस समय तुम्हें प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। तुम कर्म बन्धनों से जकड़े हुए हो, इसलिए मैं तुम्हें देवलोक ले जाने में असमर्थ हूँ, किन्तु हे कृष्ण! तुम्हारे ऊपर मेरा आन्तरीक प्रेम है। तुम कहो तो तुम्हारे पास रहने के लिए मैं सहर्ष तैयार हूँ।”

कृष्ण ने कहा—“हे भाई! तुम्हारे यहां रहने से भी क्या हो सकता है? तुम्हारे रहने पर यह पूर्वोपार्जित नरकायु तो मुझे ही भोगनी पड़ेगी। मैं अपनी इस अवस्था के लिए अवश्य ही कुछ दुःखित हूँ, किन्तु सबसे अधिक दुःख तो मुझे इस बात के लिए है, कि मेरी इस अवस्था से मेरे शत्रुओं को आनन्द और मेरे मित्रों को खेद हो रहा होगा। यदि आप वास्तव में मेरा दुःखभार हल्का करना चाहते हैं तो आप भरतक्षेत्र में जाइए और वहां विमान में बैठकर मेरा दिव्य रूप लोगों को दिखाइए। साथ ही आप भी अपना रूप सर्वत्र दिखाइए, जिससे लोगों के मन से तिरस्कार का भाव दूर हो जाय और वे समझने लगें कि कृष्ण और बलराम महाबलवान, और परमप्रतापी है। यदि आप ऐसा कर सकेंगे, तो मुझे अत्यन्त आनन्द और परम सन्तोष होगा।”

कृष्ण का यह अनुरोध स्वीकारकर बलराम भरत क्षेत्र में आये और वहां स्थान स्थान पर उन्होंने उसी तरह दो रूप बनाकर लोगों को दिखाये। उन्होंने सबसे कहा कि तुम लोग हमारी सुन्दर प्रतिमाएं बनाकर, सर्वोत्कृष्ट देवबुद्धि से उनका स्वीकार और पूजन करो, क्योंकि हम ही सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाले हैं। हम लोग देवलोक से यहां आये थे और अब स्वेच्छा से देवलोक को जा रहे हैं। द्वारिकापुरी का निर्माण हमने ही किया था और जाने की इच्छा करने पर हम ही ने उसका संहार किया है। हमारे सिवाय और कोई कर्ता या हर्ता नहीं है। सबको स्वर्ग देने वाले भी हम ही हैं।”

बलराम के ये वचन सुनकर सब लोग स्थान स्थान में कृष्ण तथा बलराम की प्रतिमाएं स्थापित कर उनका पूजन करने लगे। जिन लोगों ने ऐसा किया, उनकी उस देव (बलराम) ने बहुत उन्नति की। इससे कृष्ण और

बलराम के भक्तों की संख्या दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती गयी। बलराम कृष्ण की इच्छानुसार भरतक्षेत्र में इस प्रकार कृष्ण पूजा का प्रचार कर, उनके वियोग से दुःखित होते हुए अपने वासस्थान (देवलोक) को लौट आये।

उधर जराकुमार ने पाण्डवों के पास पहुँचकर उनको कौस्तुभ रत्न दे, द्वारिका दहन का समाचार सुनाया। यह शोक संवाद सुनकर पाण्डव अत्यन्त दुःखित हुए और एक वर्ष तक रुदन करते हुए उन्होंने विशेष रूप से कृष्ण की उत्तर क्रिया की। इसके बाद उनको दीक्षाभिलाषी जानकर नेमि प्रभु ने पाँच सौ मुनियों के साथ महाज्ञानी धर्मघोष मुनि को उनके पास भेजा। पाण्डवों ने जराकुमार को अपने सिंहासन पर बैठाकर, द्रौपदी आदिक रानियों के साथ तुरन्त उनके निकट दीक्षा लेने के बाद वे सब अभिग्रह सहित कठिन तप करने लगे। भीम ने एक बहुत ही कठिन अभिग्रह लिया, जो छः मास में पूरा हुआ। उन्होंने क्रमशः द्वादशाङ्गी का भी अभ्यास किया। कुछ दिनों के बाद उन्हें नेमिभगवान को वन्दन करने की इच्छा उत्पन्न हुई, इसलिए वे पृथ्वी पर विचरण करते हुए, नेमिभगवान के प्रवास स्थान की ओर विहार कर गये।

उस समय नेमिभगवान मध्य देशादि में विहार कर उत्तर दिशा में राज गृहादिक नगरों में विचरण कर रहे थे। वहाँ से हीमान पर्वत पर जा, अनेक म्लेच्छ देशों में विचरण कर भगवान ने वहाँ के अनेक राजा तथा मन्त्री आदि को धर्मोपदेश दिया। इस प्रकार आर्य अनार्य देश का भ्रमण समाप्त कर वे फिर हीमान पर्वत पर लौट आये। वहाँ से वे किरात देश में गये। इसके बाद हीमान पर्वत से उतरकर उन्होंने दक्षिण देश में विचरण किया। इस प्रकार केवलज्ञान की उत्पत्ति से लेकर इस समय तक उनके धर्मोपदेश से अठारह हजार साधु, चालीस हजार साध्वियाँ, 414 पूर्वधारी, 1500 अवधिज्ञानी, 1500 केवलज्ञानी, 1000 मनः पर्यवज्ञानी, 800 वादीलाख 68 हजार श्रावक तथा 3 लाख 49 हजार श्राविकाएँ हुईं।

इस प्रकार चतुर्विध संघ के परिवार से घिरे हुए और सुर, असुर तथा राजाओं से युक्त भगवान् अपना निर्वाण समय समीप जानकर गिरनार पर्वत पर गये। वहाँ इन्द्रों के रचे हुए समवसरण में विराजकर भगवान संसार पर दया कर अन्तिम धर्मोपदेश देने लगे। धर्मोपदेश सुनकर अनेक लोगों ने उसी समय

उनके निकट दीक्षा ले ली। अनेक लोगों ने श्रावक धर्म को भी स्वीकार किया। इसके बाद भगवान् ने 536 साधुओं के साथ पादोपगमन अनशन किया और अषाढ़ शुक्ला 8 के दिन चित्रा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, भगवान ने संध्या के समय उन मुनियों के साथ निर्वाण प्राप्त किया।

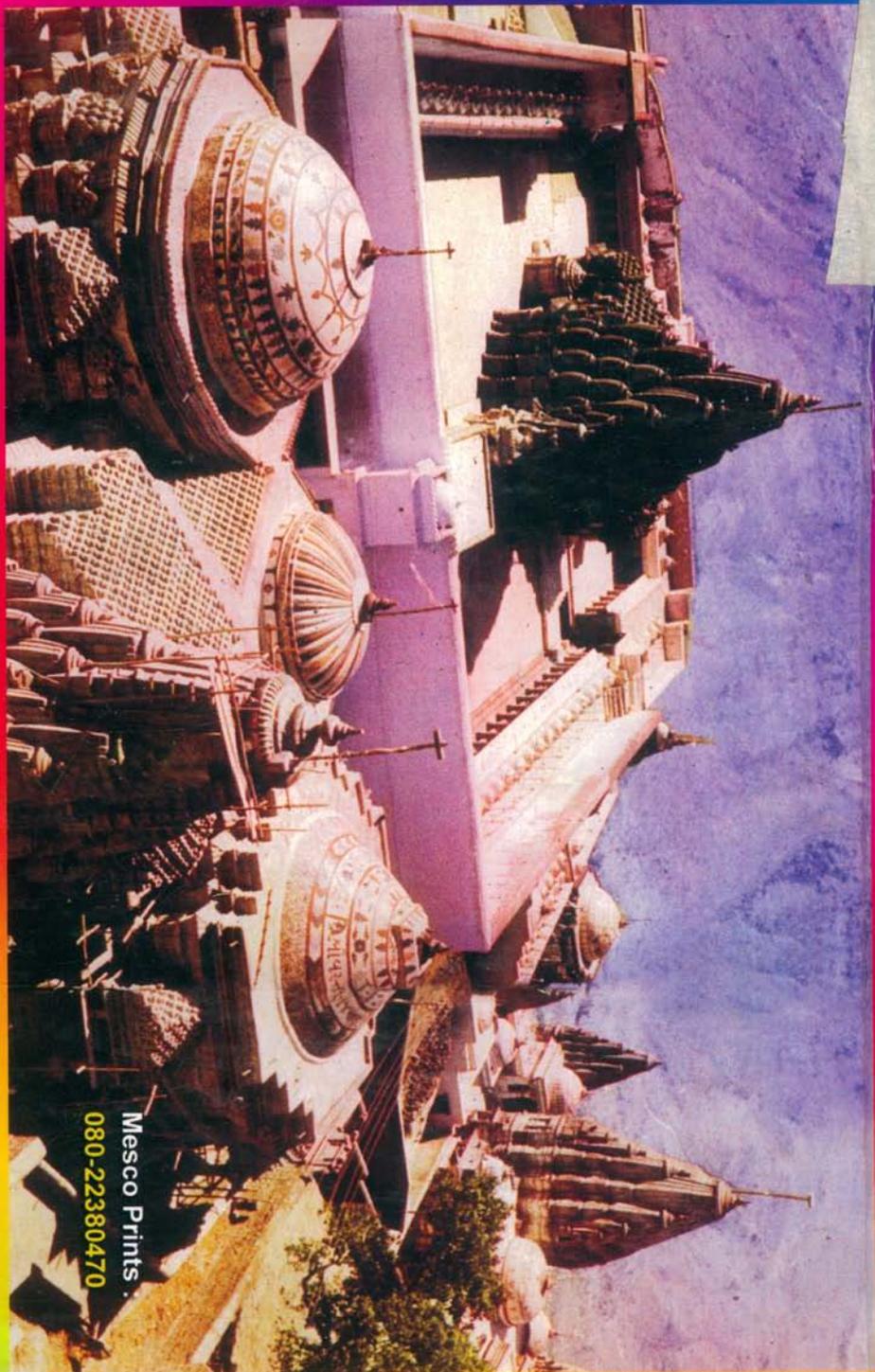
प्रद्युम्न, शाम्ब आदिकुमार, कृष्ण की आठ पटरानियां भगवान के अनेक भ्राता तथा अन्यान्य साधु और राजीमती आदि साध्वियों ने भी परम पद प्राप्त किया। श्रीरथनेमि ने चारसौ वर्ष गृहस्थावस्था में एक वर्ष छद्मस्थावस्था में और पांच सौ वर्ष केवली की अवस्था में व्यतीत किये। कुमारावस्था, छद्मस्थावस्था और केवल ज्ञानावस्था के विभाग से राजीमती की आयुस्थिति भी इतनी ही समझनी चाहिए। शिवादेवी और समुद्रविजय माहेन्द्र देवलोक में गये। अन्यान्य दशार्ह भी महर्द्धिकदेव हुए। कुमारावस्था में 300 वर्ष, छद्मस्थावस्था और केवली अवस्था में 700 वर्ष इस प्रकार नेमिप्रभु ने एक हजार वर्ष की आयु भोग की। नेमिनाथ भगवान के निर्वाण से ठीक पांच लाख वर्ष बाद बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ प्रभु का निर्वाण हुआ।

नेमिप्रभु का निर्वाण होने पर, सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से धनद ने एक शिबिका उत्पन्न की। इसके बाद शक्र ने विधि पूर्वक भगवान के अंगों का पुजनकर, उनके शरीर को उस शिबिका पर स्थापित किया। देवताओं ने नैऋत्य दिशा में नाना प्रकार के रत्न की शिला पर गोशीर्षचन्दन समान सुगन्धित काष्ठों की एक चिता तैयार की। सौधर्मेन्द्र ने वहां प्रभु की शिबिका ले जाकर, उस चिता पर उनका शरीर स्थापित किया। इसके बाद शक्र के आदेश से अग्निकुमार देवताओं ने चिता में अग्नि लगायी और वायुकुमारों ने उस अग्नि को प्रज्वलित किया। कुछ देर में, जब प्रभु का शरीर भस्म हो गया, तब मेघकुमारों ने क्षीर समुद्र के जल से उस चिता की अग्नि शान्त की। शक्र ईशानादि इन्द्रों ने भगवान की दाढ़ें लीं। अन्यान्य देवों ने शेष अस्थियां, उनकी देवियों ने पुष्प, राजाओं ने वस्त्र और सर्वसाधारण ने नेमिप्रभु की चिता भस्म ग्रहण की। इसके बाद उस स्थान की वैदुर्य शिला पर इन्द्र ने वज्र द्वारा भगवान का नाम और उनके लक्षणादिक अंकित किये। इसके बाद सोधर्मेन्द्रादिक इन्द्र तथा समस्त लोग अपने अपने वासस्थान को लौट गये।

पाण्डवों के भाग्य में नेमिभगवान का दर्शन बदा न था। क्योंकि जिस दिन उनका निर्वाण हुआ, उस दिन पाण्डव गिरनार से बारह योजन की दूरी पर थे। इसलिए उन्होंने स्थिर किया, कि कल नेमिप्रभु को वन्दनकर, मासक्षमण का पारणा करेंगे, किन्तु इतने ही में उन्होंने सुना कि नेमिप्रभु का तो निर्वाण हो गया। इस संवाद से पाण्डवों को अत्यन्त खेद हुआ और उन्होंने जी भरकर अपने भाग्य को कोसा। इसके बाद अत्यन्त वैराग्य के कारण वे विमलाचल पर चले गये। वहाँ एक मास का अनशन कर, केवलज्ञान प्राप्त कर वे मोक्ष के अधिकारी हुए, और द्रौपदी को ब्रह्मदेवलोक की प्राप्ति हुई।

॥ इति विस्तरेण ॥





Mesco Prints
080-22380470